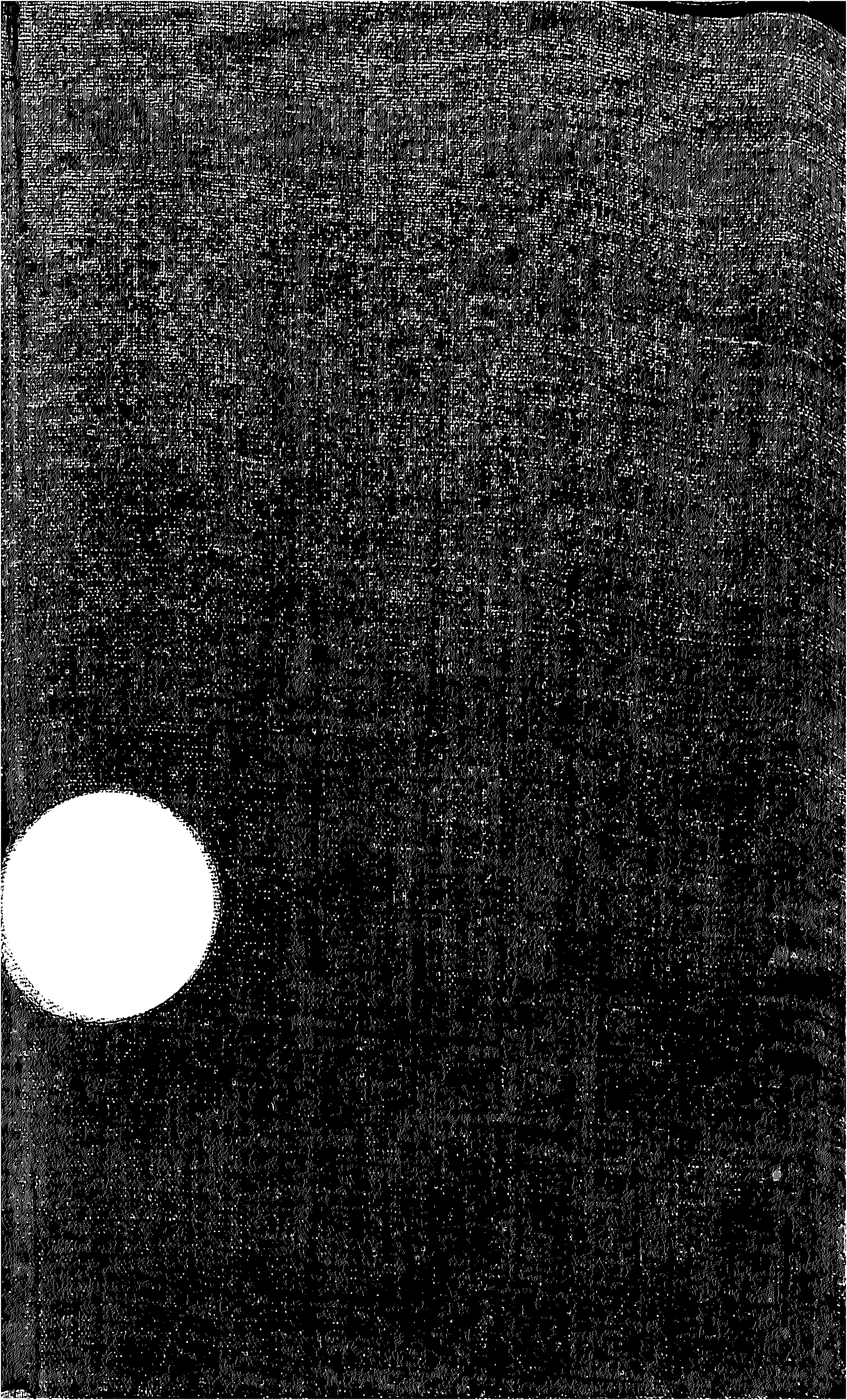


वैदिक ध्वनि-विज्ञान

डॉ॰ विजय शङ्कर पाण्डेय

प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग

गान्धी शताब्दी स्मारक स्नातकोत्तर महाविद्यालय

कोयलसा, आजमगढ़



अक्षयवट प्रकाशन

इलाहाबाद

• वैदिक ध्वनि-विज्ञान

• लेखक :

डॉ० विजय शङ्कर पाण्डेय

• प्रकाशन वर्ष : अक्तूबर १९८७

• मूल्य : सौ रुपये मात्र

• प्रकाशक :

अक्षयवट प्रकाशन

२६, बलरामपुर हाउस

इलाहाबाद-२

• मुद्रक :

पर्वतीय मुद्रणालय

१८, राय रामचरन दास रोड

इलाहाबाद-२

आत्म-निवेदन

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—मैत्रायणी उपनिषद्

शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दो ब्रह्म हैं। जो शब्द ब्रह्म में निष्णात होता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। अतः शब्दब्रह्म की उपासना नितान्त स्पृहणीय मानी गयी है। शब्दब्रह्म की उपासना के लिए वेदों का अध्ययन तो आवश्यक है ही, साथ ही वेदाङ्गों का भी अनुशीलन अपना उतना ही महत्त्व रखता है।

वेदाङ्गों में 'शिक्षा' अपना अति विशिष्ट स्थान रखती है। शिक्षा का तात्पर्य उच्चारण-प्रक्रिया से है। वेद विश्व-वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थरत्न हैं। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान वेदों के अनुशीलन के अभाव में कदापि सम्भव नहीं है। अतः भारतीय प्राचीन परम्पराओं का सम्यगबोध भी वेदाध्ययन के अभाव में नहीं हो सकता।

जिस प्रकार वेदार्थबोध हेतु 'निरुक्त' का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार मन्त्रोच्चारण के लिए 'शिक्षा' वेदाङ्ग का अनुशीलन अपरिहार्य है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थ भी शिक्षा के ही अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। इनमें वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए वेदों की प्रत्येक शाखा का ध्वनि-विषयक अध्ययन ही प्रमुख विवेच्य विषय रहा है। इसीलिए 'शाखायां शाखायां प्रतिशाखम्, प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्' रूप से इसे स्पष्ट किया गया है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के भाष्यकार आचार्य 'उवट' का कथन है कि जो तथ्य शिक्षा, छन्द एवं व्याकरण के द्वारा सामान्य रूप से उक्त हैं, वे ही इस शाखाविशेष में इस प्रकार से हैं, यही प्रातिशाख्य-शास्त्र का प्रयोजन है।

शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिहशाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ॥

इसी ज्ञानपिपासा से प्रेरित होकर श्रद्धेय गुरुवर डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र, पूर्व-कुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय की सत्प्रेरणा से मैं परिस्थितियों से

सूझता हुआ भी प्रातिशाख्यों को आधार बनाकर वैदिक ध्वनि-विषयक अध्ययन में प्रवृत्त हो गया । प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का सत्फल है ।

इस पुनीत कार्य में अनेक बाधायें आती रहीं, परन्तु उन सभी का कोई स्थायी प्रभाव नहीं रहा । श्रद्धेय गुरुजी की अनवरत कृपा एवं आशीर्वाद ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर्यन्त प्राप्त होता रहा ।

इस ग्रन्थ के पूर्ण होने में श्रद्धेय डॉ० वी० के० वर्मा, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, का० हि० वि० वि० का विशेष योगदान है, जो मेरे शोध निर्देशक रहे हैं । इनके अतिरिक्त मेरे पूज्य मामा डॉ० हरि शङ्कर त्रिपाठी, रीडर संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, डॉ० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी, रीडर संस्कृत-विभाग, का० हि० वि० वि० एवं पं० राजकिशोरमणि त्रिपाठी, रीडर सं० वि०, गोरखपुर वि० वि० की भी सत्प्रेरणा से यह ग्रन्थ पुस्तक का रूप प्राप्त कर सका है । अपने महाविद्यालय के प्रबन्धक परम विद्यानुरागी श्री रमा शंकर सिंह जी की अद्वितीय शुभकामना सदैव अध्ययन क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए प्रेरणास्रोत रही है । प्राचार्य, श्री दीनानाथ लाल श्रीवास्तव जी तो निरन्तर मार्गदर्शन करते हुए अध्ययन के प्रति मेरी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करते हैं, अतः उपर्युक्त गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ ।

अपने अनेक मित्रों के प्रति अपना सहज आदरभाव प्रकट करते हुए मुझे हार्दिक आनन्दानुभव हो रहा है, जिनमें कुछ तो हमारे सहकर्मी हैं एवं कुछ हमारे सहाध्यायी हैं ।

पुस्तक के सफल प्रकाशन के लिए 'अक्षयवट प्रकाशन', इलाहाबाद के स्वत्वाधिकारी श्री सत्यव्रत मिश्र, विशेष धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने मेरी अनवधानता को सहन करके भी ग्रन्थ-प्रकाशन में शीघ्रता की है ।

अन्ततः, मैं उन सभी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में किञ्चिदपि सहायता प्राप्त हुई है । मानवकृति होने के कारण ग्रन्थ में तथ्य सम्बन्धी एवं मुद्रण-सम्बन्धी त्रुटियों का होना सम्भावित है । मैं स्वयं ही इन त्रुटियों के लिए उत्तरदायी हूँ । इस सम्बन्ध में विद्वानों एवं प्रेमी पाठकों से यही निवेदन है कि उन त्रुटियों का अन्वेषण नीरक्षीर-विवेचिनी दृष्टि से करके मुझे उचित परामर्श देने की महती कृपा करेंगे । अगले संस्करण में उन्हें दूर करने के लिए मैं सर्वथा सज्ज हूँ ।

विजयदशमी
अक्तूबर १९८७

इति विदुषां वशंवदः
विजय शङ्कर पाण्डेय

●●

विषयानुक्रमणिका

• •

भूमिका

प्राचीन भारत में ध्वनि-विज्ञान

भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों में भाषा ही सर्वप्रमुख साधन है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्यों के मध्य सामाजिक सम्पर्क बना हुआ है। भाषा का आधार ध्वनि है। ध्वनियों से ही भाषा का निर्माण हुआ है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों की अपनी निजी विशेषतायें होती हैं। ध्वनियों का सम्बन्ध उच्चारण से है। अतः किसी भी भाषा के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान तभी हो सकता है जब उस भाषा में प्राप्त होने वाली ध्वनियों की उच्चारण-प्रक्रिया एवं अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का सम्यक् अनुशीलन किया जाय। भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार के ज्ञान को 'ध्वनि-विज्ञान' संज्ञा प्रदान की गई है।

ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीन काल में ही हो गया था। विश्व की सर्वप्राचीन भाषा के रूप में उपलब्ध होने वाली वैदिक भाषा स्वयं ही इस बात को प्रमाणित करती है कि उस प्राचीन युग में भी भाषा का रूप अत्यन्त प्राञ्जल था। तथा यह भी सुस्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों का प्रयास उस सुदूर प्राचीन काल में भी भाषा के परिष्कार की ओर पूर्ण रूप से था। संहिता-ग्रन्थों के सम्यगनुशीलन से यह भी विदित हो जाता है कि उस प्राचीनयुग में ध्वनि-सम्बन्धी अध्ययन अपने उच्च-शिखर पर विराजमान हो गया था। ऋ० सं० में अनेक मन्त्र इस प्रकार के विधानों से भरे हुए प्राप्त होते हैं। दशम मण्डल तो इस दृष्टि से अपना अप्रतिम महत्त्व रखता है। ऋ० सं० १०।६८।२ में वाक् का अधिष्ठान 'आसन्' को बतलाया गया है।[1] 'आसन्' का अर्थ व्याख्याकारों ने 'मुख' (आस्य) किया है। इसी प्रकार ऋ० सं० १०।७२।२ में उच्चारण की विधि के प्रसंग में कहा गया है कि जिस प्रकार किसी पदार्थ को छलनी से छानकर उसका प्रयोग किया जाना अधिक श्रेयस्कर होता है, उसी प्रकार वाणी को मन में सोच-समझ कर प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार की वाणी बोलने वाले व्यक्ति के साथ लोग मैत्रीभाव रखते हैं तथा ऐसी वाणी के प्रभाव से जीवन में सफलता

---

१. दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्।— ऋ० सं० १०।६८।२

की उपलब्धि भी होती है।[1] ऋ० सं० १।१६४।४५ के अनुसार वाक् के चार अवयव हैं। जिनमें प्रथम तीन अत्यन्त गूढ़ हैं, ये हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के विषय नहीं बनते हैं। इनका ज्ञान योगियों को ही हो सकता है। इनमें जो चतुर्थ अवयव है उसे मनुष्य बोलते हैं।[2] नि० १३।९ में इस मन्त्र को उद्धृत करके उसकी व्याख्या की गई है। यास्क इस मन्त्र की व्याख्या में वाक् के प्रथम तीन अवयवों को कीटादि जन्तुओं द्वारा बोला जाने वाला स्वीकार करते हैं। इन तीनों अवयवों में मनुष्य नहीं बोल पाते।[3] पतञ्जलि आदि परवर्ती वैयाकरणों ने इस मन्त्र को बहुधा उद्धृत किया है तथा इसकी व्याख्या भी विभिन्न प्रकार से की है। परवर्ती वैयाकरणों ने वाणी के चार रूपों की स्थापना भी ऋ० सं० के इसी मन्त्र के आधार पर की है। ये चार रूप परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी हैं। इनमें प्रथम तीन का सम्बन्ध श्रवणीय ध्वनि के साथ नहीं है, ये तीन ध्वनियाँ हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं बन पातीं। इनका प्रत्यक्ष योगियों को होता है। चतुर्थ रूप अर्थात् वैखरी का सम्बन्ध हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के साथ है, इसका श्रवण हमारी श्रोत्रेन्द्रिय से होता है।

ऋ० सं० में अनेक मन्त्र इस प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिनमें वाणी की उत्पत्ति-प्रक्रिया का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। ऋ० सं० में उच्चारण के लिए 'वाक्' को कर्म बनाकर 'वाचम्' के प्रयोग के साथ 'इर्यति' शब्द का प्रयोग पाँच बार तथा 'उद्' उपसर्ग के साथ 'उदिर्यति वाचम्' का प्रयोग दो बार हुआ है।[4] उदिर्यति का तात्पर्य है—'ऊपर की ओर प्रेरित करना'। ध्वनि-उत्पत्ति

---

१. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।—ऋ० सं० १०।७१।२

२. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।— ऋ० सं० १।१६४।४५

३. सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके।— नि० १३।९

४. कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इर्यति वाचमरितेव नावम्।—ऋ० सं० २।४२।१, उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन्यजध्यै।—ऋ० सं० ५।३६।४, एष ग्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाचं बृहदाशुषाणः।—ऋ० सं० ५।३६।४, हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्। प्रेन्द्राग्निभ्यां सु-वचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः।—ऋ० सं० १०।११६।९, स्यूमना वाच उदिर्यति वह्निः।—ऋ० सं० १।११३।१७, पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदिर्यति वाचम्।—ऋ० सं० ४।८।५

की प्रक्रिया में वक्ता के अन्तर्गत कहने की इच्छा होने पर उसका आत्मा कथनीय तथ्य को बुद्धि में रखता है। बुद्धि बोलने की इच्छा से उससे मन को संयुक्त करती है इसके पश्चात् मन कायाग्नि पर आघात पहुँचाता है कायाग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है। परिणामतः हृदय-प्रदेश में विचरण करता हुआ वायु कण्ठादि स्थानों में आकर विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों के माध्यम से विभिन्न वर्णों के स्वरूप को प्राप्त करता है।[1] पूर्वोक्त मन्त्रों में 'इर्यति' पद का प्रयोग यह बतलाता है कि उस युग में ध्वनि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका था।

ऋ० सं० १।१६४।२४ में वाक् की रचना अक्षर से बतलायी गई है।[2] अक्षर का अर्थ 'नष्ट न होने वाला' भी ऋ० सं० १।१६४।४२ में बतला दिया गया है।[3] मैत्रायणी संहिता १।११।५ एवं काठक संहिता १४।५ में वाक् के पूर्वोक्त चार रूपों का कथन किया गया है। इनमें चतुर्थ रूप को पशुओं में स्थित बतलाया गया है।[4] यास्क ने नि० में वाणी-विभाजन से सम्बन्ध रखने वाले ऋ० सं० के मन्त्र (चत्वारिवाक्परिमिता···) के व्याख्या-प्रसंग में इस मन्त्र को ब्राह्मणवचन कहकर उद्धृत किया है। यास्क के कथन का अभिप्राय यही है कि वाणी के चतुर्धा विभाग में केवल चतुर्थ वाक् ही हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनती है। योगियों को अपने ज्ञानचक्षु द्वारा शेष तीन रूपों का भी प्रत्यक्ष होता रहता है। शतपथ-ब्राह्मण के कई स्थलों पर ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर शुद्ध उच्चारण के सम्बन्ध में कहा गया है कि असुर लोग 'हे अरयः हे अरयः' के शुद्ध उच्चारण में अशक्त होने के कारण हेऽलवः हेऽलवः कहने के परिणामस्वरूप हार गये।[5] इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि संदिग्ध वाणी

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ मारुतस्तु उरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।—पा० शि० ६।७

२. गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।—ऋ० सं० १।१६४।२४

३. ततः नक्षरत्यक्षरं तत्।—ऋ० सं० १।१६४।४२

४. सा वै वाग्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयम्। —मै० सं० १।११।५, सा वै वाग्दृष्टा चतुर्धा व्यभवद् एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयम्।—का० सं० १४।५

५. द्रष्टव्य—नि० १३।९ तथा ते असुराऽआत्तवचसो हेलवो हेलव इति वदन्तः पराबभूवुः।—श० ब्रा० ३।२।१।२३

में बोलने वाले लोग म्लेच्छ कहे जाते हैं।[1] शतपथ-ब्राह्मण में वाक् के चार रूपों को बतलाकर यह भी कहा गया है कि इसमें चौथी वाणी को ही मनुष्य बोलते हैं। शतपथब्राह्मण के इस कथन से प्रतीत होता है कि भाषा के दो रूप हैं— व्यक्त भाषा एवं अव्यक्त भाषा। यह ब्राह्मण व्यक्त भाषा की भी कई अवान्तर स्थितियों का संकेत करता है। व्यक्त भाषा की जो उच्चतम स्थिति है, उसमें मनुष्य बोलते हैं। उससे निम्न स्थिति में पशु बोलते हैं। पशुओं की भाषा से निम्न स्थिति में पक्षी बोलते हैं एवं व्यक्त भाषा की जो निम्नतम स्थिति है, उसमें सर्प बोलते हैं।[2]

वास्तव में वाक् के जो चार रूप-परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी बतलाये गये हैं उनमें प्रथम तीन प्रकार के वाक् में श्रोता द्वारा गृहीत होने की योग्यता का अभाव होने से ये अव्यक्त वाक् के रूप में कहे जा सकते हैं। चतुर्थ अवस्था का ग्रहण श्रोता द्वारा हो जाने से उसे व्यक्त वाक् कहा जा सकता है। मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीट-पतंग इत्यादि इसी व्यक्त भाषा का उच्चारण करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण का उपर्युक्त कथन इसी बात को स्पष्ट करता है कि भाषा के मुख्य दो रूप होते हैं, जिनमें प्रथम रूप का श्रवण हमारी इन्द्रियों से न होने के कारण वह हमारी ग्रहण-शक्ति के परे की वस्तु है। द्वितीय रूप का ग्रहण करने में हमारी इन्द्रियाँ पूर्ण समर्थ हैं। इनमें द्वितीय प्रकार के वाक् के भी दो अवान्तर-भेद किये जा सकते हैं—(१) मनुष्यों की स्पष्टरूपेण अर्थबोध कराने वाली भाषा एवं (२) पशु आदि जन्तुओं द्वारा बोली जाने वाली वह भाषा जो अर्थबोध कराने में असमर्थ होती है। मनुष्यों द्वारा उच्चरित भाषा में वर्ण, पद आदि का बोध हो जाने से ही उसे पशु आदि जन्तुओं की भाषा से उच्च-स्तर की भाषा कहा गया है तथा पशुओं की भाषा में वर्ण, पद आदि का स्पष्टीकरण न होने के कारण मनुष्यकृत भाषा की अपेक्षा उसे निम्न कोटि का बतलाया गया है। उस आदिम युग में भाषा के सम्बन्ध में इतना वैज्ञानिक विश्लेषण इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि शतपथ-ब्राह्मण-काल में भी ध्वनि विज्ञान का विकास हो रहा था।

ऐतरेय-ब्राह्मण में वाक् को इन्द्र से उद्भावित माना गया है तथा वाणी की नित्यता के सम्बन्ध में उसकी उपमा समुद्र से दी गई है। जिस प्रकार समुद्र

---

१. तत्रैतामपि वाचमूदुरुपजिज्ञास्याम्। स म्लेच्छः।—श० ब्रा० ३।२।१।२४

२. तुरीयं.........स्तुरीयमेह तर्हिवाङ् निरुक्तं वदिष्यतीति। तदेतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यन्मनुष्या वदन्ति अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्ति अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद् वयांसि वदन्ति। अथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपः वदति। – श० ब्रा० ४।१।३।१६

अक्षीण है, उसी प्रकार वाणी भी अक्षीण एवं नित्य है। एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि पदों या मन्त्रों को मध्यमा वाक् में प्रयुक्त करना चाहिए। मध्यमा वाक् से तात्पर्य द्रुत आदि वृत्तियों में मध्यमावृत्ति से लिया जाता है। मध्यमा वृत्ति से किया गया पाठ अपना संस्कार करता है।[1] आरण्यक ग्रन्थों में ऐतरेय आरण्यक ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों का वैज्ञानिक विवेचन करता है। इसमें एक स्थल पर वर्णों के स्वरूप की उपमा विभिन्न रूपों में प्रस्तुत की गई है। स्पर्श वर्णों को पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, चक्षु एवं प्राण का रूप बतलाया गया है; ऊष्म वर्णों को अन्तरिक्ष, वायु यजुर्वेद, श्रोत्र एवं अपान का रूप बतलाया गया है तथा स्वर वर्णों को द्युलोक, आदित्य सामवेद, मनस् एवं व्यान का रूप बतलाया गया है।[2]

इस साम्य का तात्पर्य यह हो सकता है कि जिस प्रकार पृथिव्यादि लोकत्रयी में सर्वाधिक महत्त्व द्युलोक का है, जिस प्रकार अग्नि, वायु आदित्यादि देवत्रयी में सर्वाधिक महत्त्व आदित्य का है, जिस प्रकार ऋग्यजुष्सामरूप वेदत्रयी में सर्वाधिक महत्त्व सामवेद का है, जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र एवं मनस् रूप अङ्गत्रयी में सर्वाधिक महत्व मनस का है एवं जिस प्रकार प्राण, अपान तथा व्यान रूप वायुत्रयी में प्रधान स्थान व्यानवायु का है, उसी प्रकार सम्पूर्ण वर्णराशि में स्वरों का स्थान ऊष्म और स्पर्श व्यञ्जनों से अत्युत्कृष्ट है। ऊष्म वर्णों का महत्त्व स्वरों से कम एवं स्पर्शों से अधिक है। इसीलिए महत्त्व की दृष्टि से द्युलोक के बाद आने वाले अंतरिक्ष, आदित्य के बाद आने वाले अग्नि, सामवेद के बाद आने वाले यजुर्वेद, मनस् के बाद आने वाले श्रोत्र एवं व्यान के बाद आने वाले अपान से ऊष्म वर्णों का साम्य दिखलाया गया है। महत्त्व की दृष्टि से पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, चक्षु एवं प्राण को उपरि कथित अन्य तत्त्वों के बाद रखा जाता है। इसीलिये स्पर्श वर्णों का स्थान ऊष्म एवं स्वर वर्णों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। स्वर सभी अन्य ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होते हैं। स्वरों के माध्यम से ही स्पर्श और ऊष्म ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। अतः स्वरों का महत्त्व इन ध्वनियों से अधिक है।

---

१. वाग्ध्यैन्द्री।—ऐ० ब्रा० ६।२, वाग् वै समुद्रो न वाक् क्षीयते।—ऐ० ब्रा० १३।२१, मध्यमा वाचा संसत्यात्मानमेव तत् संस्कुरुते। ऐ० ब्रा० १२।१३

२. पृथिव्याः रूपं स्पर्शाः अन्तरिक्षस्योष्माणो दिवः स्वरा अग्नेः रूपं स्पर्शावायो-रूष्माण आदित्यस्य स्वरा ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शाः यजुर्वेदस्योष्माणः सामवेदस्य स्वराश्चक्षुषो रूपं स्पर्शाः श्रोत्रस्योष्माणो मनसः स्वराः प्राणस्य रूपं स्पर्शा अपानस्योष्माणो व्यानस्य स्वराः।—ऐतरेय आरण्यक ३।२।५

ऐतरेय आरण्यक के इस विवेचन को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐतरेय आरण्यक के रचना-काल तक स्वर, ऊष्म एवं स्पर्श वर्णों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जा चुका था और यह तथ्य भी प्रकाश में आ चुका था कि स्वर ध्वनियाँ अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली हैं।

इसी आरण्यक के एक अन्य स्थल पर ऊष्म ध्वनियों की तुलना प्राण से, स्पर्श ध्वनियों की तुलना हड्डियों से, स्वर-ध्वनियों की तुलना मज्जा से तथा अन्तस्थ ध्वनियों की तुलना मांस एवं रक्त के साथ की गई है।[1] इस तुलना का आधार भी यही है कि स्वर-ध्वनियाँ अक्षर का आधार होती हैं और व्यञ्जन ध्वनियाँ स्वरों के आश्रित होकर अक्षर की सीमा में आती हैं। इसीलिए स्वरों की तुलना मज्जा से की गई है। मज्जा ही मांस एवं रक्त का आधार हो सकता है, परन्तु स्पर्श ध्वनियों की हड्डियों के साथ की गई तुलना स्पष्ट नहीं प्रतीत होती है।

'संहिता' भाषा की प्रमुख विशेषता है। ऐतरेय आरण्यक में संहिता के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि जिस उच्चारण में संधि करके उच्चारण किया जायेगा वह 'निर्भुज' एवं जिस उच्चारण में दोनों अक्षरों को शुद्ध रूप में उच्चरित करेंगे वह 'प्रतृण्ण' उच्चारण कहलाता है।[2] निर्भुज एवं प्रतृण्ण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सायणाचार्य ने कहा है कि जिस संहिता-रूप उच्चारण में पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों शब्द मिलकर 'भुज' के सदृश हो जाते हैं, वह उच्चारण 'निर्भुज' कहलाता है तथा जिस उच्चारण में पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती दोनों अक्षर विकार-रहित अर्थात् शुद्धरूप में उच्चरित होते हैं, वह उच्चारण 'प्रतृण्ण' कहलाता है।[3] वास्तव में निर्भुज का अर्थ है 'संहितापाठ' एवं प्रतृण्ण का अर्थ है 'पद-पाठ'। सायण ने निर्भुज और प्रतृण्ण

---

१. तस्यैतस्याऽऽत्मनः प्राण ऊष्मरूपमस्थीनि स्पर्शरूपं मज्जानः स्वररूपं मांसं लोहितमित्येतन्यच्चतुर्थमन्तस्थारूपमिति ह स्माऽऽह ह्रस्वो माण्डूकेयः।—ऐतरेय आरण्यक ३।२।१

२. यद्धि संधिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपमथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्याग्र उ एवोभयमन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति।—ऐ० आ० ३।१।३

३. निर्दिष्टौ भुजसदृशौ पूर्वोत्तरशब्दौ यस्मिन्संहितारूप उच्चारणे तदुच्चारणं निर्भुजम्........। शुद्धे विकाररहिते पूर्वोत्तरे उभे अक्षरे अभिव्याहरति स्पष्टमुच्चारयतीति यदस्ति तत्प्रतृण्णशब्दाभिधेयस्य पदच्छेदस्य स्वरूपम्। —ऐ० आ० ३।१।३ पर सायण

दोनों के सम्मिलित उच्चारण को क्रमपाठ कहा है ।[1] क्रमपाठ में संहितागत प्रत्येक पद को अलग-अलग दिखलाया जाता है । परन्तु जब दो पदों का क्रमवर्ग बनाया जाता है तो उसमें 'आर्षी संहिता' की रक्षा भी हो जाती है । दो पदों का प्रथम क्रमवर्ग बनाने के अनन्तर प्रथम क्रमवर्ग के अन्तिम पद के साथ उसके परवर्ती पद को मिलाकर द्वितीय क्रमवर्ग बनाया जाता है।

ऐतरेय आरण्यक में संहिता की कई परिभाषायें दी गई हैं । इनमें कतिपय परिभाषाएँ ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से अपना अत्यन्त महत्त्व रखती हैं । प्रथम परिभाषा के अनुसार पूर्व-अक्षर एवं उत्तर-अक्षर के मध्यवर्ती अवकाश को संहिता कहा गया है ।[2] यदि उपर्युक्त परिभाषा पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो इसे संहिता न कहकर 'विवृत्ति' कहना ही अधिक समीचीन होगा । संहिता की यह परिभाषा उचित नहीं है । संहिता को द्वितीय परिभाषा के अनुसार दो पदों के मध्य उसी अवकाश को संहिता कहा गया है जिस अवकाश के द्वारा दोनों अक्षरों के मध्य संधि सम्पादित होती है, जिस अवकाश के द्वारा स्वर अर्थात् उदात्तादि को जाना जाता है तथा जिस अवकाश के द्वारा दोनों अक्षरों की मात्रा को भी जाना जाता है । तात्पर्य यह है कि जिस संहिता को सम्पन्न करने के बाद पदगत स्वरों (उदात्तादि) के भेद का सम्यक् ज्ञान हो एवं मात्रागत भेद का भी ज्ञान हो जाय वही संहिता कही जायेगी । उदाहरणार्थ 'अग्निमीळे' पद में पदपाठ की स्थिति में 'अग्निम्' तथा 'ईळे' में एक भी अक्षर न तो स्वरित था और न प्रचय था, परन्तु संहिता करने के बाद उसमें 'मी' अक्षर स्वरित तथा 'ळे' अक्षर प्रचय हो गया है । इसी प्रकार 'तवेतत्' रूप संहितपद में संहिता करने के पूर्व 'तव' के वकार की मात्रा ह्रस्व थी तथा 'इत्' की भी मात्रा ह्रस्व ही थी, परन्तु संहिता करने के पश्चात् अकार एवम् इकार की मात्रा मिलकर दीर्घ हो गई हैं । इस प्रकार के विशेषणों से युक्त अवकाश को संहिता कहा गया है; केवल अवकाश मात्र को संहिता नहीं कहा गया है । संहिता की तृतीय परिभाषा दो अक्षरों के उस उच्चारण को संहिता कहती है, जिसमें दोनों अक्षर न तो एक दूसरे से पृथक् ही हों

---

१. येन क्रमेण संहिता पदं चेत्युभयं व्याप्तं भवति सोऽयं क्रम उभयमध्यवर्तित्वादुभयमन्तरेणेत्युच्यते ।—ऐ० आ० ३।१।३ पर सायण

२. पूर्वमक्षरं पूर्वरूपमुत्तरमुत्तररूपं योऽवकाशः पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सा संहितेति ।—ऐ० आ० ३।१।५, अथ वयं ब्रूमो निर्भुजवक्त्रा इति ह स्माऽऽह ह्रस्वो माण्डूकेयः ।पूर्वमेवाक्षरं पूर्वरूपमुत्तररूपं योऽवकाशः पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण येन संधिं विवर्तयति येन स्वरास्वरं विजानाति येन मात्रामात्रां बिभजते सा संहितेति ।—ऐतरेय आरण्यक ३।१।५

और न तो परस्पर मिलकर एक ही हो गये हों।[1] उदाहरणार्थ 'तवेतत्' पद में पूर्वपद 'तव' का अन्त्य अकार एवं उत्तर पद इत् का आदि इकार यदि पृथक्-पृथक् उच्चरित किये जाएंगे, तब उनमें अत्यन्त विश्लेष हो जाएगा तथा यदि अकार में इकार को अन्तर्भावित करके उच्चरित करेंगे तब अत्यन्त एकीकरण हो जाएगा। इसलिए इन दोनों उच्चारणों को छोड़कर दोनों के स्वरूप वाले स्वर-'एकार' का उच्चारण हो जाएगा।[2]

संहिता की तृतीय परिभाषा आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी उचित कही जा सकती है। ऐतरेय आरण्यक का उपर्युक्त विचार यह सिद्ध करता है कि उस प्राचीनकाल में भी ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था।

उपनिषदों के युग तक आते-आते ध्वनि सम्बन्धी विचार अपने परिष्कृत रूप में पहुँच गये थे। इस समय स्वर, ऊष्म वर्ण, स्पर्श एवं अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन होने लगा था। छान्दोग्य उपनिषद् २।२१ में कहा गया है—सभी स्वर इन्द्र की आत्मा हैं, सभी ऊष्म वर्ण प्रजापति की आत्मा हैं एवं सभी स्पर्श वर्ण मृत्यु की आत्मा हैं।[3] उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि स्वरों का महत्त्व सभी वर्णों की अपेक्षा अधिक है। जिस प्रकार सभी देवता इन्द्र के शासन में रहते हैं उसी प्रकार अन्य सभी वर्ण स्वरों के अधीनस्थ हैं। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी व्यञ्जन स्वर वर्णों के ही अधीनस्थ हैं। व्यञ्जन के उच्चारण में स्वरों की आवश्यकता निश्चित ही पड़ती है।[4] इसी खण्ड

---

१. अथ हास्य पुत्र आह मध्यमः प्रातीबोधीपुत्रो अक्षरे खल्विमे अविकर्षन्ननेकी कुर्वन्यथावर्णमाह तद्याऽऽसौ मात्रा पूर्वरूपोत्तररूपे अन्तरेण सन्धि विज्ञपनो साम तद्भवति सामैवाहं संहितां मन्य इति।—ऐ० आ० ३।१।५

२. तवेदित्यत्र पूर्वपदान्त्यमकारमुत्तरपदादिमिकारं च संहिताकाले यदि पृथगुच्चारयेत्तदानीमत्यन्तविश्लेषो भवेत्। यदि त्विकारमन्तर्भाव्य केवलमकारमुच्चारयेत्तदानीमत्यन्तमेकीकरणं भवति। तदुभयं परित्यज्य यथाशास्त्रमेकारमसावुच्चारयति।—ऐ० आ० ३।१।५ पर सायण

३. सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शाः मृत्योरात्मानः।—छा० उ० २।२१।३

४. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः। दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वत् हरते बलवान् स्वरः।—या० शि० २८

में सभी प्रकार के वर्णों के उच्चारण के विषय में अत्यन्त वैज्ञानिक विधान प्राप्त होते हैं। इस विधान के अनुसार सभी स्वरों को घोषयुक्त एवं बलयुक्त उच्चरित करना चाहिए। सभी ऊष्मवर्णों को ग्रस्त एवं निरस्त दोषों से रहित एवं विवृत प्रयत्न द्वारा उच्चरित करना चाहिए।[1] ग्रस्तादि उच्चारण-दोषों का स्वरूप ऋ० प्रा० के चौदहवें पटल (उच्चारण-दोष पटल) में स्पष्ट किया गया है। प्रसङ्गवश कतिपय दोषों का स्वरूप अति-संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

ग्रस्त—ऋ० प्रा० १४।८ के अनुसार जिह्वामूल के निग्रह होने पर ग्रस्त संज्ञक दोष होता है।[2] अर्थात् जब जिह्वा के मूल भाग को स्थिर करके कड़ा कर लिया जाता है तब ग्रस्त संज्ञक दोष होता है। यह दोष केवल कण्ठ्य स्वर-वर्णों के उच्चारण में होता है।

निरस्त—उच्चारण-स्थान तथा उच्चारणावयव का अपकर्ष होने पर निरास अथवा निरस्त संज्ञक दोष होता है।[3] अर्थात् जब कोई वर्ण अपने निश्चित उच्चारण-स्थान एवं करण के योग से उच्चरित न होकर अन्य प्रकार से उच्चरित हो जाता है, तो उसे निरस्त दोष से युक्त कहा जाता है।

लेश—प्रयत्न-शैथिल्य को लेश कहा जाता है। इस दोष से ग्रस्त व्यञ्जन अपने आंशिक रूप में ही उच्चरित हो पाता है।[4]

छान्दोग्य उपनिषद् के इस विधान से यही स्पष्ट होता है कि उस युग में वर्णों के उच्चारण में होने वाले दोषों के सम्बन्ध में भी ध्वनि-वैज्ञानिक तथ्य विद्वानों की दृष्टि से ओझल नहीं थे।

तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षाध्याय में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम एवं सन्तान को शिक्षा का विषय बतलाया गया है। वर्ण का तात्पर्य उच्चारणीय अकारादि स्वर एवं व्यञ्जन वर्ण से है। स्वर का तात्पर्य उदात्तादि स्वराघातों से है। उच्चारण में लगने वाला काल 'मात्रा' कहा जाता है। उच्चारण में अपेक्षित बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्नों को 'बल' कहा जाता है। अक्षरों का द्रुतादि वृत्तियों में उच्चारण

---

१. सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः, सर्व ऊष्माणो ग्रस्ता अनिरस्ता विवृताः वक्तव्याः, सर्वे स्पर्शाः लेशेनानभिनिहिताः वक्तव्याः।—छा० उ० २।२२।५

२. जिह्वामूलनिग्रहे ग्रस्तमेतत्।—ऋ० प्रा० १४।८, ग्रासः कण्ठ्ययोः।—ऋ० प्रा० १४।१२

३. निरस्तं स्थानकरणापकर्षे।—ऋ० प्रा० १४।२

४. लेशेन प्रयत्नशैथिल्येन।—ऋ० प्रा० १४।१७ पर उवट

करना 'साम' है तथा अध्ययनकाल में अपेक्षित संधियों को 'सन्तान' कहा गया है।[1]

उपर्युक्त विवरणों के अतिरिक्त उपनिषदों में कतिपय विधान इस प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिनमें ध्वनि की उत्पत्ति एवं ग्रहण बिषयक पर्याप्त वैज्ञानिक तथ्य उपनिबद्ध हैं।[2]

परन्तु संहिता काल से लेकर आरण्यक काल तक ध्वनि सम्बन्धी जितने विचारों का आविर्भाव हुआ था उन सबका सम्ब्रन्ध वैदिक मन्त्रों के मौखिक संहिता पाठ से था। आधुनिक युग में मान्य ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी संकेत तै० उ० में ही प्राप्त होते हैं।

इसी उपनिषद् में सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् ध्वनियों, स्वराघात, मात्रा एवं वैदिक मन्त्रों के उच्चारण को शिक्षा के अन्तर्गत रखा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहद् रूप में छन्दों के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले विवरण इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं, कि उस युग में मन्त्रों का छन्दों के नियमानुसार किया जाने वाला मौखिक पाठ ही अधिक महत्त्वपूर्ण था।

सूत्र-युग में ध्वनि-विज्ञान एवं भाषा-सम्बन्धी अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्ब्रन्ध में बृहद् रूप में विचार होता रहा। इस युग में भाषा-सम्ब्रन्धी जो भी कार्य हुए वे सभी कार्य भारतीय भाषा-विज्ञान के मौलिक आधार हैं। इसी युग में शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों का आविर्भाव भी हो गया था। जिनमें पूर्णरूपेण ध्वनि-सम्बन्धी नियमों के विधान ही किये गये हैं।

ध्वनि-विज्ञान के लिए इन ग्रन्थों में 'शिक्षा' शब्द प्रयुक्त किया गया है। इसका कारण यही है कि प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की रक्षा करना था। उस प्राचीन युग में इस सम्बन्ध में मौखिक रूप से अध्ययन-अध्यापन किया जाता था। उस युग में वैदिक मन्त्रों को शुद्ध रूप में कण्ठस्थ रखने के लिए पदपाठ एवं क्रमपाठ आदि पाठों की पद्धतियों का भी आविर्भाव हुआ था। जिनमें संहितागत मन्त्रों के पदों को अलग-अलग करके पढ़ा जाता था तथा दो-दो पदों का क्रमवर्ग बनाकर भी पाठ किया

---

१. शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः।—तै० उ० १।२

२. चित्तं वाच संकल्पादभूयो यदा वे-चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति।—छा० उ० ७।४, सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनम्।—बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।११

जाता था। तात्पर्य यह है कि उस युग में ध्वनि-सम्बन्धी जितने भी कार्य हुए सबका उद्देश्य एक मात्र वैदिक मन्त्रों को विकृतियों से बचाना ही था। इसीलिए प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में वैदिक संहिताओं में प्राप्त होने वाले वर्णों का स्वरूप तथा उच्चारण आदि विषयों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। परन्तु पाणिनि तक आते-आते शिक्षा का क्षेत्र पदपाठ तथा क्रमपाठ से अलग हो गया था। पाणिनि ने क्रमादिगण की सूची में पाँच विषयों का परिगणन किया है। जिनमें शिक्षा को 'क्रम' तथा 'पद' से पृथक् गिनाया गया है।[1] इससे यही सिद्ध होता है कि इस युग में क्रम-पाठ और पदपाठ का क्षेत्र शिक्षा से पृथक् हो गया था। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में ध्वनि-विज्ञान को भी विवेच्य विषय बनाकर संधि नियमों का विस्तृत विधान किया है।

परवर्ती युग में पाणिनि के व्याख्याकारों ने ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया तथा स्वर, व्यञ्जन अङ्गाङ्गिभाव आदि विषयों का वैज्ञानिक अध्ययन भी किया। पतञ्जलि ने ध्वनि-सम्बन्धी अनेक क्लिष्ट तथ्यों को मनोरञ्जक उदाहरणों के माध्यम से हृदयग्राही बना दिया है। उदाहरणार्थ- व्यञ्जन वर्णों के अङ्गत्व के विषय में पतञ्जलि का कहना है कि जिस प्रकार रङ्गस्थल में गई हुई नटी तुम किसकी हो? ऐसा पूछने पर 'मैं तुम्हारी हूँ' यही उत्तर प्रत्येक को देती है उसी प्रकार व्यञ्जन जिस-जिस स्वर के साथ उच्चारित होते हैं, उसी के आश्रित हो जाते हैं।[2] इसी प्रकार पतञ्जलि ने अन्य ध्वनि-वैज्ञानिक विषयों पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।

पतञ्जलि के बाद तो वैयाकरणों की एक परम्परा सी चल पड़ी है। इन सभी वैयाकरणों ने ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों को अपने अध्ययन क्षेत्र से बाहर नहीं रखा। कात्यायन, भर्तृहरि, नागेश आदि आचार्यों ने ध्वनि सम्बन्धी अनेक गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का मुख्य आधार प्रातिशाख्यों को बनाया गया है। अतः प्रातिशाख्यों के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य विचार आगे भूमिका के द्वितीय भाग के अन्तर्गत किया जा रहा है।



---

१. क्रमादिभ्यो वुन्।—पा० सू० ४।२।६१ पर गणपाठ (क्रम पद शिक्षामीमांसा सामन्)

२. व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गंगताः यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तंतं तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।—पा० सू० ६।१।२ पर म० भा०

प्रातिशाख्य

वेदाध्ययन की परिपूर्णता के लिये शिक्षादि षड्वेदाङ्गों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का सम्बन्ध शिक्षा एवं व्याकरण दोनों अङ्गों के साथ है। तथा यह भी स्मर्तव्य है कि प्रत्येक प्रातिशाख्य अपने-अपने वेदों के चरणों के साथ सम्बद्ध हैं।[1] एक प्रातिशाख्य में किये गये विधान उससे सम्बन्धित संहिता-विशेष के चरण में ही लागू होते हैं। चरण का तात्पर्य है—शाखाओं का समूह। शाखायें चरणों के अवान्तर भेद कही जा सकती हैं। चरण-व्यूह में कहा गया है कि वेद-राशि के चार विभाग ही चरण हैं।[2]

भाषा-विज्ञान का सिद्धान्त है कि प्रत्येक भाषा में नित्य प्रति परिवर्तन होता रहता है। यही परिवर्तन भाषा का विकास कहलाता है। वैदिक भाषा भी इस प्रवृत्ति से अछूती न रह सकी। मौखिक परम्परा से भाषा को जीवित रखने के कारण वैदिक मन्त्रों के वाह्य स्वरूप में विकार आना प्रारम्भ हो गया था जिसको रोकने के लिये उच्चारण के नियमों का निर्धारण करना आवश्यक हो गया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राचीन काल में परिषदों का गठन होता था। उन परिषदों में ध्वनि से सम्बन्धित विचार-विमर्श किये जाते थे। इस प्रकार से उद्भूत नियमों के समुच्चय रूप में प्रातिशाख्यों का आविर्भाव हुआ। परिषदों के माध्यम से आविर्भूत होने के कारण ही प्रातिशाख्यों को 'पार्षद' ग्रन्थ भी कहा गया है।

प्रातिशाख्यों का प्रयोजन

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य था 'वैदिक मन्त्रों को विकृतियों से बचाना' वेदों की मौखिक उच्चारण-परम्परा एवं उसकी विशेषताओं को भविष्य के लिये सुरक्षित रखना ही प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन है। वेदों की द्विविध सुरक्षा के लिये जिन छः अंगों की रचना हुई, उनमें प्रातिशाख्य-ग्रन्थ

---

१. धर्मशास्त्राणां गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते।—तन्त्र वार्तिक ५।१३, पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। —नि० १७

२. वेदराशेः चतुर्विभागाःचरण उच्यते।—च० व्यू० १।१ पर महिदास

अपने विषय प्रतिपादन की दृष्टि से शीर्षस्थ हैं। वेदों की सुरक्षा के लिये आविर्भूत उपादानों के ऊपर विचार करने से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदों के वाह्य स्वरूप (वर्ण, पद, संधि, स्वर एवं छन्द) के ज्ञान के लिये शिक्षा, व्याकरण, छन्द आदि ग्रन्थों के होते हुए भी प्रातिशाख्यों के प्रणयन एवम् अध्ययन की क्या उपयोगिता थी ? इसका समाधान प्रातिशाख्यों के अध्ययन एवं प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति के माध्यम से ही हो जाता है। ऋ० प्रा० १।१ के भाष्य में उवट ने प्रातिशाख्य-शास्त्र के प्रयोजन पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शिक्षा, छन्द एवं व्याकरण के द्वारा जिन सामान्य नियमों का कथन किया गया है, वे नियम इस शाखा में इस प्रकार संगत होते हैं, यही बतलाना प्रातिशाख्य-शास्त्र का प्रयोजन है।[1] इससे यह ध्वनित होता है कि शिक्षा एवं व्याकरण आदि के द्वारा वेद की शाखा-विशेष के विषय में समुचित ज्ञान नहीं हो पाता। इसीलिए वेदों की प्रत्येक शाखाओं से सम्बन्धित वर्ण, पद, संधि, स्वर, छन्द आदि की पूर्ण जानकारी प्रातिशाख्यों के अध्ययन के अभाव में असम्भव है। तै० प्रा० में अध्येता तथा आचार्य की योग्यता के विषय में कहा गया है कि वेद का अध्येता वही हो सकता है जिसे गुरुत्व, लघुता, साम्य आदि का पूर्ण ज्ञान हो।[2] तै० प्रा० में विहित अध्येता एवं आचार्य का उपर्युक्त ज्ञान प्रातिशाख्यों के अध्ययन द्वारा ही सम्भव है। इसी बात को स्वीकार करते हुए तै० प्रा० १।१ पर वै० में कहा गया है कि गुरुत्व, लघुता इत्यादि के ज्ञान के लिये प्रातिशाख्य-ग्रन्थ का प्रारम्भ किया जाता है।[3] वा० प्रा० के रचयिता आचार्य कात्यायन ने अपने प्रातिशाख्य में इस बात का उद्घोष किया है कि वर्णों के दोष (अशुद्धता) के विवेचन (पृथक्करण) के लिये प्रातिशाख्यों का अध्ययन करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब तक किसी पद के सम्बन्ध में पूर्णतः यह ज्ञात न हो जाय कि इसका साध्य रूप क्या है और उसमें प्रयुक्त वर्णों का उच्चारण किस प्रकार होता है, तब तक उसकी शुद्धता का ज्ञान नहीं हो पाता।

---

१. शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्। तदेवमिहशाखायामिति शास्त्र-प्रयोजनम्।—ऋ० प्रा० १।१ पर उवट

२. गुरुत्वं लघुतासाम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च। लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः। स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासोनादोऽङ्गमेव च। एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दो-भाषामधीयता। पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः। स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्।—तै० प्रा० २४।५, ६

३. अथ किमर्थं प्रातिशाख्यं नाम लक्षणं प्रणीयते ? तदुच्यते गुरुत्वं लघुता साम्यम् इत्यादि सर्वं तु विज्ञेयम् इति वक्ष्यति। तै० प्रा० २४।५, ६

प्रातिशाख्यों द्वारा ही वैदिक पदों के शुद्ध रूप एवं शुद्ध उच्चारण का ज्ञान होता है। वैदिक पदों के शुद्ध रूप एवं उनमें प्राप्त वर्णों के उच्चारण के ज्ञान से ही उनके उच्चारण में होने वाले दोषों का निराकरण हो सकता है। इस प्रकार वैदिक पदों के स्वरूप एवं उनमें प्रयुक्त वर्णों के उच्चारण की रक्षा के लिए प्रातिशाख्यों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का प्रयोजन बतलाते हुए च० अ० में कहा गया है कि सामान्य लक्षण के द्वारा विकल्प से जो विधान प्राप्त होता है, वही इस शाखा में व्यवस्थित हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि व्याकरण के सामान्य नियमों को ही विशेष परिस्थितियों में व्यवस्थित करने वाला शास्त्र प्रातिशाख्य है। इस प्रकार प्रातिशाख्यों में उन्हीं सामान्य नियमों की विशिष्ट व्यवस्था बतलाई गई है, जिनके सम्बन्ध में व्याकरण-शास्त्र सामान्य विधान करता है। प्रातिशाख्यों का कार्य यह बतलाना भी है कि सामान्य नियम उस शाखा विशेष में कहाँ-कहाँ लागू नहीं होते हैं। अ० प्रा० में प्रातिशाख्यों का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है– विस्तृत ज्ञान के लिये इस व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन सर्वप्रथम करना चाहिए। संहिता की दृढ़ता के लिये प्रातिशाख्यशास्त्र का अध्ययन वेदाध्ययन के पूर्व में ही करना चाहिए, क्योंकि वेदों की विविध शाखाओं में पदों के विभिन्न पाठ प्राप्त होते हैं तथा विभिन्न शाखाओं के उपलब्ध समान शब्दों के भिन्न-भिन्न स्वर (Accent) तथा भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं।[2] अतः किसी भी वेद से सम्बन्धित उच्चारण, स्वर आदि का समुचित ज्ञान प्राप्त करना ही प्रातिशाख्यशास्त्र के अध्ययन का मुख्य प्रयोजन है।

प्रातिशाख्यों का प्रतिपाद्य विषय

सभी प्रातिशाख्य मुख्यतः संहिता पाठ की सुरक्षा को दृष्टि में रखकर रचे गये हैं। अपने चरण की शाखाओं के वाह्य स्वरूप की रक्षा के लिये प्रतिशाख्यों में अनेक विधान प्राप्त होते हैं। इनमें ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से उच्चारण-प्रक्रिया, उच्चारण-स्थान, उच्चारणावयव, मंत्रों के उच्चारण की विविध अवस्थायें, अक्षर और उसका आधार, ध्वनियों का वर्गीकरण, वर्गीकरण के विभिन्न आधार (स्थान, प्राणत्व आदि), उच्चारण में लगने वाला काल, वर्णों के संयुक्तोच्चारण से होने वाली विकृतियाँ, स्वराघात, ध्वनियों के उत्पन्न होने की सामान्य प्रक्रिया, वैदिक

---

१. एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्येन।—च० अ०

२. तदिदं शास्त्रं व्याकरणं पुरस्ताद्ध्येयमलं विज्ञानाय। आम्नायदादर्ढ्यार्थम् शाखान्तरेष्वन्यथा निगदत्वात् समानशब्दानां। स्वरान्यत्वाद्वर्णान्यत्वाच्च। —अ० प्रा०

मन्त्रों के शुद्ध पाठ के लिये आवश्यक निर्देश, हस्त-संचालन, संधियाँ, क्रमपाठ, पदपाठ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त कतिपय वर्णों के स्वरूप के सम्बन्ध में भी प्रातिशाख्यों में अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त सभी विषयों का समावेश प्रत्येक प्रातिशाख्य में नहीं किया गया है, फिर भी सभी प्रातिशाख्यों के आधार पर उपरोक्त विषय ही प्रातिशाख्यों के वर्ण्य विषय हैं। ऋ० प्रा० में छन्दों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विधान किये गये हैं जो अन्य प्रातिखाख्यों में नहीं उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्रातिशाख्य में अपनी-अपनी संहिताओं के वाह्य स्वरूप की रक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास किये गये हैं। ये प्रयास आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय

उपलब्ध प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। सम्प्रति कतिपय ऐसे ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, जिन्हें कुछ विद्वान् प्रातिशाख्य मानते हैं तथा कुछ विद्वान् नहीं मानते। उपलब्ध प्रातिशाख्यों में प्रमुख प्रातिशाख्य ये हैं—(१) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (३) वाजसनेयि प्रातिशाख्य अथवा शुक्ल-यजुर्वेद प्रातिशाख्य, (४) चतुरध्यायिका, (५) अथर्ववेद-प्रातिशाख्य और (६) ऋक्तन्त्र। अब इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य— ऋक्चरण की शाखाओं से सम्बन्धित यह प्रातिशाख्य अन्य प्रातिशाख्यों से विशाल है। इसके रचयिता आचार्य शौनक हैं।[1] इसका सम्बन्ध मुख्यतः ऋक्चरण की शाकल तथा वाष्कल शाखाओं के साथ हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में छः पटल हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में अठारह पटल हैं। प्रत्येक पटल को वर्गों में विभक्त किया गया है, प्रत्येक वर्ग में प्रायः पाँच श्लोक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ५२९ श्लोकों के रूप में अपने आकार को प्रदर्शित करता है। कतिपय हस्त-लेखों में ऋग्वेद प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपलब्ध हुआ है। सूत्रों की संख्या १०६७ है।

ऋ० प्रा० के प्रथम पटल में समानाक्षर, सन्ध्यक्षर आदि संज्ञाओं का कथन प्रातिशाख्य शास्त्र को समझने की सुविधा की दृष्टि से किया गया है। द्वितीय, चतुर्थ एवं पञ्चम पटल में स्वर, व्यञ्जन, नति आदि संधियों का विस्तृत विधान

---

१. तस्मादादौ तावच्छास्त्रावतार उच्यते शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाह्निके।—वि० कृ० ब० वृ०

किया गया है। तृतीय पटल उदात्तादि स्वरघातों के स्वरूप को प्रदर्शित करता है तथा इन स्वरों की संधियों का विधान भी तृतीय पटल में ही विवेचित है। छठें, सातवें, आठवें एवं नवें पटल में दीर्घत्व, संयोगविषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य आदि के विधान प्राप्त होते हैं। ग्यारहवें पटल में क्रम-पाठ के नियमों का विधान है। बारहवें पटल में पदविचार, तेरहवें में वर्णोत्पत्ति, चौदहवें में उच्चारण-दोष, पन्द्रहवें में वेदाध्ययन, सोलहवें, सत्रहवें एवं अठारहवें पटल में छन्द विषयक विधान प्रस्तुत किये गये हैं।

सम्प्रति ऋ० प्रा० की चार टीकाएँ प्रकाश में आई हैं। (१) उवटकृत पार्षद भाष्य, (२) पार्षदवृत्ति, (३) विष्णुमित्रकृत वर्गद्वय वृत्ति, (४) पशुपतिनाथ शास्त्रीकृत व्याख्या।

इन सभी टीकाओं में उवटकृत भाष्य ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विषय विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञानिक है। पार्षद-वृत्ति तो उ० भा० पर ही आधारित है। विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति केवल ऋ० प्रा० के प्रारम्भिक उन दश श्लोकों पर ही प्राप्त होती है, जिन पर उवट भाष्य नहीं मिलता। पशुपतिनाथ शास्त्री की व्याख्या उवट भाष्य पर आधारित है। यह व्याख्या १९२७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुई है।

२—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—यह प्रातिशाख्य कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसमें कुल २४ अध्याय हैं। परन्तु सूत्रों की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० से छोटा है। इसके सूत्रों की संख्या ५४७ है। कतिपय विद्वान् इस प्रातिशाख्य को कृष्ण-यजुर्वेद की सभी शाखाओं से सम्बन्धित मानते हैं। इसमें विषय वस्तु का प्रतिपादन अत्यन्त ही वैज्ञानिक एवं सुन्दर रीति से किया गया है। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से इस प्रातिशाख्य का सर्वाधिक महत्त्व है। तै० प्रा० के द्वितीय अध्याय में वर्णोत्पत्ति-विषयक विधान किया गया है, जो अध्ययन की दृष्टि से अतीव वैज्ञानिक है। तै० प्रा० के प्रथम अध्याय में वर्ण-समाम्नाय, वर्णाख्या, ह्रस्वदीर्घ-विधान, उदात्तादि स्वर, आदि अनेक विषयों का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में वर्णोत्पत्ति विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक विधान हैं। तृतीय अध्याय में संहितापाठ में स्थित दीर्घ स्वर के पदपाठ में ह्रस्व होने का विधान किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह (प्रगृह्य) का विस्तृत विवेचन किया गया है। पञ्चम अध्याय में संधि विषयक परिभाषा सूत्रों, आगम एवं वर्णविकार आदि का विवेचन है। षष्ठ अध्याय से त्रयोदश अध्याय पर्यन्त संधि-विषयक सर्वाङ्गीण विवेचन प्राप्त होते हैं। चतुर्दश अध्याय में द्वित्व-विधान, आगम, ऊष्मवर्णों के परिवर्तन आदि से सम्बन्धित विधान किये गये हैं। पञ्चदश से बाइसवें अध्याय पर्यन्त अनुस्वार, अनुनासिक, कम्प, स्वर, क्षैप्रादि

स्वरों एवं उनका उच्चारण-प्रकार, अङ्गाङ्गिभाव आदि का निरूपण किया गया है। तेईसवाँ अध्याय वाणी की सात अवस्थाओं, क्रुष्टादि सप्त-स्वरों तथा आह्वारक स्वरों का निरूपण करता है। चौबीसवाँ अध्याय संहिता के चतुर्विध भेद, वेदाध्यायी शिष्य एवं अध्यापक आचार्य के गुणों का निरूपण करता है।

तै० प्रा० की तीन व्याख्यायें उपलब्ध हैं। (१) माहिषेयकृत पदक्रमसदन भाष्य (२) सोमयार्यकृत त्रिभाष्यरत्न व्याख्या एवं (३) गार्ग्य गोपालयज्वाकृत वैदिकाभरण भाष्य। इनमें सर्वाधिक प्राचीन माहिषेय भाष्य एवं सर्वाधिक अर्वाचीन वैदिकाभरण भाष्य है। इस प्रातिशाख्य की एक अप्रकाशित व्याख्या मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी में सुरक्षित है, जिसका नाम 'वैदिक भूषण' या 'भूषण रत्न' है, यद्यपि इसका पाठ पर्याप्त भ्रष्ट है।

३—**वाजसनेयि प्रातिशाख्य**—शुक्ल-यजुर्वेद की 'वाजसनेयी' चरण से सम्बन्धित यह प्रातिशाख्य विस्तार की दृष्टि से ऋ० प्रा० से छोटा तथा अन्य प्रातिशाख्य से बड़ा है। इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से 'शुक्ल यजुः' चरण की माध्यन्दिन शाखा की संहिता के साथ है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य शौनक के शिष्य कात्यायन हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। आठवें अध्याय के कतिपय विधान श्लोकबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी विधान सूत्ररूप में उपनिबद्ध हैं। इसके सभी मुद्रित संस्करणों में आठवें अध्याय के सूत्रों की व्यवस्था तथा संख्या में भिन्नता प्राप्त होती है। अतः इस प्रातिशाख्य के सूत्रों की संख्या सभी संस्करणों में समान नहीं है। इसके सूत्रों की न्यूनतम संख्या ७२५ एवं उच्चतम संख्या ७४० है। वा० प्रा० के प्रथम अध्याय में शब्दोत्पत्ति, अध्ययनविधि, संज्ञा एवं परिभाषा, वर्णों के उच्चारण-स्थान एवं करण तथा अङ्गत्व विचार प्रतिपादित हैं। द्वितीय अध्याय में उदात्तादि स्वरों (Accents) से सम्बन्धित विधान किये गये हैं। तृतीय अध्याय सन्धि-नियमों से ही भरा पड़ा है। चतुर्थ अध्याय में कुछ सन्धि-नियमों के साथ ही पदपाठ एवं क्रमपाठ के नियम भी सन्निविष्ट हैं। छठवें अध्याय में आख्यात तथा उपसर्ग पदों के स्वर सम्बन्धी नियम तथा पदों का स्वरूप विवेचन किया गया है। सातवें अध्याय में अवसानाक्षर एवं परिग्रह के नियमों का विधान किया गया है। वा० प्रा० का आठवाँ अध्याय वर्ण समाम्नाय के कथन के साथ ही वेदाध्ययन-विधि और उसका फल, वर्णों के देवता, पदों की चार जातियाँ तथा पदों के गोत्र, देवता आदि का विवेचन करता है।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य पर प्रकाशित अथवा अप्रकाशित पाँच टीकाओं के नामों का संकेत प्राप्त होता है। (१) उवटकृत मातृभेद भाष्य, (२) अनन्त भट्ट-

कृत पदार्थ प्रकाश भाष्य, (३) श्रीराम शर्माकृत ज्योत्स्ना विवृत्ति, (४) रामाग्नि-होत्रीकृत प्रातिशाख्य दीपिका, (५) अज्ञात लेखक कृत प्रातिशाख्य विवरण। इन सभी व्याख्याओं में उव्वटकृत, व्याख्या ही प्राचीन एवं विषयनिरूपण की दृष्टि से अत्यन्त समादरणीय है।

४— चतुरध्यायिका—अथर्ववेद से सम्बन्धित यह प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है। चार अध्यायों में विभक्त होने के कारण ही इसको चतुरध्यायिका कहा जाता है तथा अथर्ववेद से सम्बन्धित होने के कारण अथर्ववेद-प्रातिशाख्य भी कहा जाता है। इसके रचयिता आचार्य शौनक हैं। यह ग्रन्थ सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। सूत्रों की कुल संख्या ४३४ है। इसके प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सोलह पादों में विभक्त है। इस प्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में ध्वनियों का वर्गीकरण, अभिनिधान, अक्षर, स्वरों (Accents) का विवरण, स्थान-करण-निरूपण, ऋकार, लृकार तथा संध्यक्षरा का स्वरूप, संयुक्त वर्णों का स्वरूप, प्रगृह्य, यम नासिक्य, स्वर-भक्ति, स्फोटन आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण किया गया है। द्वितीय अध्याय में संधियों का विवेचन तथा स्फोटन एवं कर्षण का विधान प्राप्त होता है। तृतीय अध्याय में स्वरों का दीर्घत्व विधान, द्वित्व, स्वरवर्णों का अन्तस्था वर्णों में परिवर्तन, स्वर-संधि, स्वरित का स्वरूप एवं उसके प्रकार तथा कम्प स्वर आदि का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इसी प्रकार च० अ० के चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रगृह्य क्रमपाठ एवं उसके प्रयोजन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विधान प्राप्त होते हैं।

चतुरध्यायिका को सर्वप्रथम १८६२ ई० में ह्विटनी ने अपनी अंग्रेजी भाषा में की गई व्याख्या के साथ प्रकाशित कराया था। इस ग्रन्थ पर एक भाष्य भी मिलता है। परन्तु भाष्यकार का नाम अज्ञात है। ह्विटनी ने अपनी अंग्रेजी व्याख्या में इस भाष्य को आंशिक रूप से उद्धृत किया है। सम्प्रति यह भाष्य भारत में उपलब्ध नहीं है। वेबर की 'बर्लिन संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स' की तालिका में पृ० ८७-८८ पर इस भाष्य का संक्षिप्त विवरण मिलता है।[1]

५—अथर्ववेद-प्रातिशाख्य—अथर्ववेद से सम्बन्धित यह प्रातिशाख्य उपलब्ध सभी प्रातिशाख्यों से परिमाण की दृष्टि से छोटा है। अथर्ववेद-प्रातिशाख्य के दो पाठ मिलते हैं। (१) लघु-पाठ, (२) बृहत्पाठ। इस प्रातिशाख्य की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें एक भी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। संपूर्ण ग्रन्थ सूत्रशैली में उपनिबद्ध है। इसके रचयिता के सम्बन्ध में कुछ भी कहना

---

१. द्रष्टव्य—च० अ०, ह्विटनीकृत व्याख्या की भूमिका

असम्भव है । यह प्रातिशाख्य तीन प्रपाठकों में विभक्त है । इसके लघु एवं बृहत्पाठ में उपलब्ध सूत्रों की संख्या क्रमशः २२३ एवं ३२४ है । इसके दोनों पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि इसका लघुपाठ बृहत्पाठ पर ही आधारित है । कतिपय विद्वान् इसके लघुपाठ को मूल तथा बृहत्पाठ को उसकी व्याख्या मानते हैं, परन्तु यह मत भ्रमपूर्ण है । अथर्व-प्रातिशाख्य की विषयवस्तु सीमित है । इसमें संधि-नियम, स्वर तथा पदपाठ के नियम आदि कतिपय विषय ही प्रतिपादित किये गये हैं ।

अथर्ववेद-प्रातिशाख्य के लघु पाठ की नौ पाण्डुलिपियाँ और बृहत्पाठ की तीन पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध होती हैं । अथर्वप्रातिशाख्य के लघुपाठ को सर्वप्रथम विश्वबन्धु शास्त्री ने १९२३ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित कराया था । इसके बृहत्पाठ को डॉ० सूर्यकान्त ने अथर्व-प्रातिशाख्य के नाम से १९३९ ई० में लाहौर से प्रकाशित कराया था । इस प्रातिशाख्य में ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री का पूर्णतः अभाव है ।

६—ऋक्तन्त्र—ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा के साथ है । इसके रचयिता आचार्य शाकटायन या औद्व्रजि हैं । यह प्रातिशाख्य भी अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति सूत्र रूप में है । इसमें कुल पाँच प्रपाठक हैं तथा सभी उपलब्ध सूत्रों की संख्या दो सौ सत्तासी है ।

इस प्रातिशाख्य के प्रथम प्रपाठक में वर्ण-समाम्नाय, वर्णोच्चारण, द्वितीय प्रपाठक में वर्णों के उच्चारण-स्थान, पारिभाषिक शब्द, अभिनिधान अंगत्व-विचार उच्चारणकाल, वृत्ति-निरूपण और उदात्तादि स्वरों का विवेचन, तृतीय प्रपाठक में विभक्तिलोप, संहिता और संधि-विषयक विधान तथा चतुर्थ एवं पञ्चम प्रपाठकों में भी संधि-विषयक विधान प्रस्तुत किये गये हैं ।

ऋ० तं० में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को देखने से उनकी तीन श्रेणियाँ स्पष्ट होती हैं । (१) कुछ संज्ञायें अन्वर्थक हैं । जैसे—अन्तस्थ, ऊष्म इत्यादि, (२) कतिपय संज्ञायें अपूर्ण हैं, जैसे उदात्त के लिये 'उद्', स्वर के लिए 'र' दीर्घ के लिए 'घ' लघु के लिए 'घु' इत्यादि । (३) कुछ संज्ञायें निरर्थक हैं—जैसे पदादि के लिये 'णि' संयोग के लिए 'सण्' इत्यादि ।

ऋक्तन्त्र का सम्प्रति उपलब्ध प्रामाणिक संस्करण डॉ० सूर्यकान्त द्वारा अंग्रेजी-व्याख्या के साथ प्रकाशित है ।

उपर्युक्त प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रातिशाख्यों का उल्लेख भी प्राप्त होता है । जैसे ए० एम० रामनाथ दीक्षित के अनुसार सामवेद से

सम्बन्धित ऋक्तन्त्र के अतिरिक्त सामतंत्र, अक्षरतंत्र, पुष्पसूत्र आदि प्रातिशाख्य भी प्रकाश में आ चुके हैं।[१] पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने छिट-पुट संकेतों एवं सूची-पत्रों के आधार पर वाष्कल-प्रातिशाख्य, शांखायन-प्रातिशाख्य, चारायणीय प्रातिशाख्य के विरचित होने की भी संभावना की है।[२] सातवलेकर द्वारा सम्पादित मैत्रायणी संहिता की श्रीधर अण्णा-शास्त्री लिखित प्रस्तावना में मैत्रायणी चरण के प्रातिशाख्य के अस्तित्व की संभावना भी की गई है। इसके अतिरिक्त आश्वलायन-प्रातिशाख्य, सात्यमुग्रि प्रातिशाख्य, गौतम-प्रातिशाख्य, लघु-ऋक्तंत्र, निदान-सूत्र, पञ्चविज्ञानसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र एवम् भाषिक-सूत्र को भी कतिपय विद्वान् प्रातिशाख्य मानने के पक्ष में हैं।[३]

---

१. सन्ति सामवेदे चत्वारि प्रातिशाख्यानि-ऋक्तन्त्रम्, सामतन्त्रम्, अक्षरतन्त्रम्, पुष्पसूत्रेति।—सामतन्त्र की भूमिका, पृ० ३

२. द्रष्टव्य—सं० व्या० शा० इ०, भाग २, पृ० २८४

३. द्रष्टव्य—भारतीय भाषा-विज्ञान की भूमिका, पृ० २२५

ध्वनि

ध्वनि का अर्थ

ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ है—'वह गुण जिसका ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है।' इस परिभाषा के अनुसार वाद्य यन्त्रों से तथा अन्य किसी भी पदार्थ के परस्पर टकराने से जो ध्वनि होती है उसे भी ध्वनि के अन्तर्गत रखा गया है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। प्रातिशाख्यों में ध्वनि के अर्थ में 'शब्द' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। प्रातिशाख्यों के भाष्यकारों ने 'शब्द' का अर्थ ध्वनि किया है।[१] वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) वाद्य यंत्रों या अन्य साधनों से उत्पन्न वह ध्वनि जिससे अर्थबोध नही हो सकता और (२) मनुष्य के उच्चारणावयवों से निःसृत वह ध्वनि जिससे अर्थबोध होता है। 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग वैयाकरणों के युग से प्रारम्भ होता है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थबोध कराने वाली शक्ति की संज्ञा 'स्फोट' है, एवं स्फोट के व्यञ्जक तत्व को ध्वनि कहा गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली 'ध्वनि' शब्द है।[२] पतंजलि के अनुसार ध्वनि और शब्द दोनों एक ही हैं। क्योंकि लोक में जो ध्वनिसमूह पदार्थ का बोधक है वही शब्द है। परन्तु पा० सू० १।१।७० पर भाष्य करते समय पतञ्जलि ने स्फोट को शब्द और ध्वनि को शब्द का गुण कहा है।[३] शब्द के गुण कहने का आशय यह है कि ध्वनि से शब्द व्यञ्जित होते हैं। ध्वनि व्यञ्जक है, शब्द व्यंग्य है। स्फोट से तात्पर्य है—जिससे अर्थ निकले 'स्फुटति अर्थो यस्मात्'। ध्वनि नश्वर होती है, परन्तु क्रमशः नष्ट होते हुए भी स्फोट को द्योतित करती है। श्लोक-वार्तिक के अनुसार ध्वनि स्फोट का व्यायाम है।[४]

---

१. शब्दोनाम ध्वनिः।—तै० प्रा० २।१ पर त्रि०

२. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।—पा० सू० १।१।७० पर महाभाष्य

३. स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः।—पा० १।१।७० पर म० मा०

४. स्फोटः शब्दो ध्वनिः तस्य व्यायाम उपजायते।—वाक्यपदीय १।२२ पर हरिवृत्ति में उद्धृत

वैयाकरणों ने ध्वनि के दो भेद स्वीकार किये हैं—(१) प्राकृत ध्वनि, (२) वैकृत ध्वनि। जो ध्वनि शब्द के ग्रहण में कारण होती है, वह प्राकृत एवं जो ध्वनि द्रुत, विलम्बित मध्यम आदि वृत्तियों के ग्रहण में कारण होती है, वह वैकृत कही जाती है।[1] प्राकृत ध्वनि में द्रुतादि वृत्तियों का संस्पर्श नहीं हो सकता है। वैकृत ध्वनि में द्रुतादि वृत्तियों की संगति बैठ जाती है। वैकृति ध्वनि के अन्तर्गत ही कालगत भेद स्वीकार किये जा सकते हैं।

वृषभदेव ने वाक्यपदीप १।७७ पर अपनी व्याख्या में स्फोट को ध्वनि की प्रकृति माना है, तथा इससे उद्भूत ध्वनि को प्राकृत कहा है। इस ध्वनि से उत्तरं-काल में होने वाली ध्वनियाँ उससे विलक्षण हैं। वे इस ध्वनि के विकार के समान हैं। अतः वैकृत कही जाती हैं।[2] पा० सू० १।१।७० पर महाभाष्य की टीका में नागेशभट्ट ने आलस्यादि कारणों से उत्पन्न ध्वनि को वैकृत ध्वनि कहा है। वर्णों की अभिव्यक्ति के उत्तरकाल में इसकी अभिव्यक्ति होती है।[3]

विचार करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि वक्ता द्वारा उच्चारित ध्वनि श्रुतिगोचर होने से पूर्व प्राकृत एवं श्रुति गोचर होने पर वैकृत कही जा सकती है। अर्थात् वैकृत ध्वनि का ही श्रवण होता है।

भर्तृहरि वाक् के तीन रूप स्वीकार किये हैं—'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी'। इनमें वैखरी वाक् ही हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनती है। शेष दो का सम्बन्ध हमारी श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं है। ये दोनों अवस्थायें ध्वनि के उच्चरित होने से पूर्व की अवस्थायें हैं। वैखरी वाक् स्वसंवेद्य एवं परसंवेद्य दोनों गुणों से युक्त होती है। वैखरी शब्द का निर्वचन 'विखर' शब्द से किया जाता है। न्याय-मञ्जरी में जयन्त भट्ट ने कहा है—विखर का तात्पर्य है—'देहेन्द्रिय संघात'। उससे

---

१. शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते। स्थितिभेदे (वृत्तिभेदे) निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।—वाक्यपदीय १।७७, हरिवृत्ति में उद्धृत

२. ध्वनिः स्फोटयोः पृथक्त्वेनानुपलम्भात् तं स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यते। तत्र भवः प्राकृतः। तदुत्तरकालभावी तस्माद् विलक्षण एवोपलभ्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्येति वैकृत उच्यते।—वृषभ, वाक्यपदीय १।७७, पृ० ७८

३. अयं तु वैकृतः। तत्वं चालस्यादिकृतत्वाद्। वर्णाभिव्यक्त्युत्तरकालश्चायम्। —पा० सू० १।१।७० के महाभाष्य पर उद्योत टीका

उत्पन्न होने वाली ध्वनि वैखरी कही जाती है।[1] वाक्यपदीय हरिवृत्ति में वैखरी को श्रोत्र के विषय के रूप में श्रुतिरूप माना गया हैं।[2] इसी प्रकार अन्य अनेक आचार्य वैखरी वाक् को श्रुति का विषय मानते हैं। वैखरी वाक् की उत्पत्ति शरीर से होती है। अर्थात् मुख से उच्चरित ध्वनि वैखरी कही जाती है।[3] व्याकरण की दृष्टि से वैखरी का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी के आधार पर शब्दों के साधुत्व एवं असाधुत्व का विचार किया जाता है। वृषभदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि वैखरी वाक् का संस्कार ही अन्य सभी वाक् के अवयवों के संस्कार का उपलक्षण है। शेष दो अर्थात् मध्यमा और पश्यन्ती का आभास योगियों को होता है।

मध्यमा वाक् को भर्तृहरि ने 'अन्तःसन्निवेशिनी' कहा है। उसका आधार मुख्य प्राणशक्ति है। यह सभी प्राणशक्ति के माध्यम से परिचालित होती है। भर्तृहरि के अनुसार द्रुत, मध्यम एवं विलम्बित इन त्रिविध वृत्तियों में शब्द के उच्च, मन्द, उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम ये पाँच औपाधिक भेद माने गये हैं।[4] इनमें उपांशु और परमोपांशु मध्यमा वाक् के प्रतीक हैं, इस स्थिति में वाक् का ग्रहण श्रोता द्वारा नहीं हो सकता। इसमें शब्द का एक मात्र आधार बुद्धि ही होती है। पश्यन्ती वाक् इस परमोपांशु अवस्था से एक पग आगे की अवस्था है। परमलघुमञ्जूषा में वाक् के परा रूप को वाङ्-मूलचक्र में स्थित बतलाया गया है तथा पश्यन्ती मध्यमा एवं वैखरी को क्रमशः नाभि, हृदय एवं कण्ठ प्रदेश में स्थित बतलाया गया है।[5] भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अपने वाणी-विभाग विवेचन के प्रसङ्ग में परावाक् को नहीं स्वीकार किया है।

---

१. विखर इति देहेन्द्रिय संघात उच्यते तत्र भवा वैखरी।— जयन्तभट्टकृत, न्याय-मंजरी, पृ० ३४३

२. परैः संवेद्य यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी। श्लिष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा प्रसिद्धसाधुभावाः भ्रष्टसंस्काराः च। यथा याऽक्षे, या दुन्दुभौ, या वेणौ या वीणायामित्यपरिमाणभेदाः।—वाक्यपदीय १।१४३, हरिवृति

३. बैखरी करणव्यापारानुग्रहा श्रोत्रज्ञानविषया शब्दबुद्धिः।—महाभाष्य-व्याख्या, हस्तलेख, वक्तृभिः विशिष्टायां स्वरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरी। —स्याद्वादरत्नाकर १।७

४. द्रष्टव्य—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति पृ० १७, लाहौर संस्करण

५. परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया बैखरी कण्ठदेशगा।—परमलघुमञ्जूषा

भाषा का प्रयोजन है—विचारों का आदान प्रदान। इसके लिये इन बातों का होना आवश्यक है—इच्छा, मनोभाव, यान्त्रिक उत्पत्ति और वाक् व्यक्ति या ध्वनि। इन चार चरणों के माध्यम से ही किसी वक्ता की अभिव्यक्ति श्रोता तक पहुँच सकती है। श्रोता को केवल ध्वनि का ही प्रत्यक्ष होता है, जो उसके श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। यही ध्वनि अर्थबोध कराती है। भर्तृहरि ने ही 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। वे एक ओर ध्वनि को स्फोट से उत्पन्न मानते हैं और दूसरी ओर स्फोट को ध्वनिकाल का परवर्ती कह कर उसे नाद से सम्बद्ध करते हैं—'स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुयायिनः' वा० प० १।७६, 'स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव' वा० प० १।१०७। इस प्रकार भर्तृहरि के मत से नाद और ध्वनि दो वस्तुएँ हैं—'नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह' वा० प० १।८५; ध्वनि के दो अर्थ हैं—इसमें एक की स्थिति स्फोट से पहले के नाद से सम्बद्ध है तथा दूसरे की स्थिति स्फोट के बाद उससे उत्पन्न वस्तु के रूप में है। इन्हीं को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत और वैकृत दो नाम दिये गये हैं। प्राकृत ध्वनि का सम्बन्ध उच्चारण और शब्द की वर्णात्मक अभिव्यक्ति के साथ है। वह नाद का तथा शब्दों या वर्णों के ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का भी कारण बनती है। इसके विपरीत वैकृत ध्वनि वृत्ति-भेद को उत्पन्न करने में समर्थ होती है।

ध्वनि और नाद

नाद के माध्यम से ही श्रोता प्राकृत ध्वनियों के ग्रहण में समर्थ होता है। नाद को ध्वनि का विवर्त माना गया है। प्राकृत ध्वनि को ध्वनि एवं वैकृत ध्वनि को नाद भी कहा जा सकता है। उच्चारणावयवों के सम्पर्क से वायु में उत्पन्न होने वाला स्पन्दन प्राकृत अवस्था है तथा उससे श्रुतिगोचर होने वाला तत्त्व अर्थात् 'नाद' ध्वनि की वैकृत अवस्था है। इस प्रसंग में यह भी कह देना आवश्यक है कि जितना समय वक्ता को ध्वनि के उच्चारण करने में लगता है, उतना ही समय श्रोता को उसके ग्रहण करने में भी लगता है। उच्चारण की पूर्णता पर ही नाद-ग्रहण की पूर्णता निर्भर करती है। जब तक हम उच्चारण करते हैं, तब तक ये ध्वनियाँ वर्ण ही होती हैं। उच्चारण समाप्त होते ही ये शब्द बन जाती हैं।

भर्तृहरि के अनुसार नाद और ध्वनि दोनों से बुद्धि में शब्द का अवधारण होता है। नाद और स्फोट में अन्तर यह है कि नाद व्यञ्जक है, तथा स्फोट व्यङ्ग्य है।

प्रातिशाख्यों में नाद और श्वास को वर्णों की मूलप्रकृति माना गया है।[1] यह विचार भी अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्ध हुआ है। वायु जब पुरुष-प्रयत्न के अनुसार स्वर तन्त्रियों से टकराती है, तभी वह नादरूप में परिणत हो जाती है। इस अवस्था तक ध्वनि उत्पन्न हो तो जाती है, परन्तु वह वर्ण के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती। तात्पर्य यह है कि जब वायु स्वरतन्त्रियों से घर्षण करती है तो घर्षण के फलस्वरूप एक प्रकार की ध्वनि होती है। वही ध्वनि नाद रूप में परिवर्तित हो जाती है। तीसरी स्थिति में वही नाद वर्णों के रूप को ग्रहण कर लेता है।

वस्तुतः वायु को वर्ण के रूप में परिवर्तित होने में तीन स्थितियों में विकृत होना पड़ता है। सर्वप्रथम स्वरतन्त्रियों के साथ संघर्षण करके यह वायु ध्वनि के रूप में परिवर्तित होती है, पुनः ध्वनि नाद के रूप में परिणत हो जाती है तथा अन्तिम अवस्था में नाद वर्ण के रूप को ग्रहण करता है।

व्याकरणदर्शन के अनुसार स्वरतन्त्रियों के माध्यम से वायु में होने वाला स्पन्दन ही प्राकृत ध्वनि है तथा उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि वैकृत है। प्राकृत ध्वनि जब मुखविवर अथवा नासिका-विवर मार्ग से बाहर निकलने के लिए उद्यत होती है, तभी उसमें पुरुषकृत विभिन्न प्रयत्नों से विकार लाकर उसे वैकृत ध्वनि का रूप प्रदान कर दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि प्राचीन वैयाकरणों ने ध्वनि के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म विचार किया है। वास्तव में मनुष्य के मस्तिष्क में ध्वनि-उत्पत्ति के पूर्व भी कई प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। उन सबका सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ध्वनि के साथ अवश्य रहता है। ध्वनि-उत्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में शिक्षाकारों ने आत्मा को सर्वाधिक सक्रिय माना है। आत्मा ही कथनीय शब्द या वाक् को बुद्धि को प्रदान करता है। अर्थात् उसे बुद्धि के साथ संयुक्त करता है। तब बुद्धि उसे मन से संयुक्त करती है मन कायाग्नि को प्रेरित करता है। इतनी प्रक्रिया हो जाने के बाद कायाग्नि के चलायमान होने से वायु ऊपर उठता है, और ध्वनि के रूप में परिणत होने के योग्य बनता है।[2] इन सभी क्रियाओं में ध्वनि-उत्पन्न करने का ही प्रयोजन निहित रहता है। अतः वाक् की सत्ता किसी न किसी रूप में ध्वनि के श्रुतिगोचर होने

---

१. ताः वर्णप्रकृतयः।—तै० प्रा० २।७

२. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तु उरसि चरन मन्द्रं जनयति स्वरम्।—पा० शि० ६, ७

के पूर्व भी अवश्य रहती है। इस प्रकार भर्तृहरि का वाणी-विभाजन भी पूर्णतः ध्वनि-विज्ञान पर आधारित है।

भाषा-विज्ञान में मनुष्य के मुख से निःसृत एवं श्रोतेन्द्रिय द्वारा गृहीत सार्थक ध्वनियों को ही अध्ययन का विषय बनाया गया है। क्योंकि ध्वनि का सम्बन्ध भाषा से है तथा भाषा का कार्य है—विचारों का आदान-प्रदान। इसलिये ध्वनिशास्त्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है, जिनका सम्बन्ध मनुष्य की वागिन्द्रिय एवं श्रोतेन्द्रिय से होता है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने उसी गुण को ध्वनि माना है, जिसकी निष्पत्ति पुरुष की इच्छानुसार उसकी वागिन्द्रिय से होती है और जिसका ग्रहण श्रोता के श्रोतेन्द्रिय द्वारा होता है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने ध्वनि का अर्थ बोल-चाल की ध्वनि किया है तथा उसे उच्चारणावयवों से उत्पन्न होने वाला गुण स्वीकार किया है।[1] ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है जो मनुष्य की वागिन्द्रिय से उत्पन्न होती हैं।

वर्ण और ध्वनि

प्रातिशाख्यों में ध्वनि से मिलता-जुलता 'वर्ण' शब्द का प्रयोग भी पर्याप्त रूप में किया गया है। वर्ण शब्द का प्राचीन अर्थ 'रंग' है। प्राचीन काल में ध्वनि के साथ 'रंगों' (Colours) का साम्य दिखलाया जाता था। उदाहरणार्थ नारदीय शिक्षा ८।१-२ में कहा गया है कि षड्जस्वर कमल के पत्ते की प्रभा के समान, ऋषभस्वर शुक ये पंखे के समान, गान्धारस्वर स्वर्ण के समान, मध्यमस्वर कुन्द की प्रभा के समान, पंचमस्वर कृष्ण वर्ण के समान, धैवतस्वर पीतवर्ण के समान तथा निषादस्वर सभी वर्णों के समान होता है।[2] नारदीय शिक्षा के इस कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि इन षड्जादि स्वरों के प्रयोग एवं श्रवण के अन्तर्गत जो

---

१. "A Speech Sound is a sound of definite acoustic quality produced by the organs of speech. A given speech sound is incapable of viliations."—Introduction to Bengali Phonetics Reader by S. K. Chatterjee.

२. पद्मपत्रप्रभः षड्जः ऋषभः शुकपिञ्जरः।
कनकाभस्तु गान्धारो मध्यमः कुन्दसप्रभः ॥
पञ्चमस्तु भवेत् कृष्णः पीतकं धैवतं विदुः।
निषादः सर्ववर्णः स्यादित्येता स्वरवर्णता ॥—ना० शि० ८।१, २

आह्लाद होता है, उसकी तुलना इन उपर्युक्त रंगों के दर्शन से उत्पन्न होने वाले आह्लाद से की गई हो। परवर्तीकाल में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग स्वर और व्यञ्जन के लिये भी होने लगा। परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि 'वर्ण' और 'ध्वनि' शब्द मूलतः एक ही अर्थ को व्यक्त नहीं करते हैं। परन्तु आपाततः वे एक अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। तै० प्रा० २२।१ में कहा गया है कि शब्द सभी वर्णों की प्रकृति अर्थात् मूलकारण है।[1] तै० प्रा० २।१ में यह भी कहा गया है कि अब शब्दोत्पत्ति कही जाती है।[2] शब्दोत्पत्ति का अर्थ ध्वनि की उत्पत्ति से है क्योंकि तै० प्रा० के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय में अकारादि ध्वनियों के उत्पन्न होने की प्रक्रियाओं का विधान किया गया है। तै० प्रा० के बाईसवें अध्याय में वर्ण के मूलकारण के रूप में शब्द को कहने का तात्पर्य यही है कि शब्द अर्थात् ध्वनि उत्पन्न होकर वर्ण का रूप ग्रहण करती है। तात्पर्य यह है कि किसी भी वर्ण की अभिव्यक्ति होने के पहले ध्वनि का होना आवश्यक है। 'पद' वर्णों का संघात होता है। किसी भी पद का उच्चारण करने के लिए उस पद में उपलब्ध होने वाले वर्णों का उच्चारण करना आवश्यक होता है। ये वर्ण तभी उत्पन्न होंगे, जब इन वर्णों की ध्वनियों को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जायेगा। ध्यातव्य है कि अनुप्रदानादि ध्वनियों के उच्चारण में कारण होते हैं। इनसे केवल ध्वनि-उत्पत्ति सम्भव है, यही ध्वनि 'वर्ण' के रूप में परिवर्तित होकर श्रोता द्वारा गृहीत होती है। अतः ध्वनि 'वर्णों' का कारण है। ध्वनि अनश्वर है परन्तु वर्णों का नाश होता है। इसीलिए वैयाकरणों ने स्फोटवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया है। तै० प्रा० २।२ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने ध्वनि की उत्पत्ति को उसी प्रकार से उत्पन्न होना स्वीकार किया है जिस प्रकार कूपखनन के पश्चात् जल की उपलब्धि होती है।[3] कूपखनन के पूर्व भी जल पृथ्वी के अन्दर वर्तमान रहता है। कूपखनन रूपी क्रिया से उसकी अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ध्वनि नित्य है। उच्चारण-प्रक्रिया से केवल उसे 'वर्ण' का रूप दे दिया जाता है। इस प्रकार वर्ण कार्य है, ध्वनि कारण है। ये अकारादि वर्ण हैं, उनको व्यक्त करने के लिए पुरुष-प्रयत्न द्वारा ध्वनि को उत्पन्न किया जाता है। यहाँ उत्पन्न करने

---

१. शब्दः प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्।—तै० प्रा० २२।१

२. अथ शब्दोत्पत्तिः।—तै० प्रा० २।१, शब्दो नाम ध्वनिः वर्णानामकारादीनामुपादानकारणम्।—तै० प्रा० २।१ पर त्रि०

३. यथा उदकस्य दर्शनात् पूर्वम् एव भूमौ जलमस्त्येव तत् खननाद् दृश्यते—तद्वत्।—तै० प्रा० २।१ पर त्रि०

का तात्पर्य है—उसे विविध वर्णों की अभिव्यक्ति में सहायक होने योग्य बना दिया जाना।

ध्वनि और वर्ण शब्द का प्रयोग परवर्ती काल में लगभग एक ही अर्थ में होने लगा। इस प्रयोग का कारण यही हो सकता है कि ये दोनों शब्द परस्पर इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं, कि इनके अर्थ में भेद करना कठिन मालूम पड़ता है।

वास्तव में ध्वनि और वर्ण में परस्पर भेद है। ध्वनि वर्ण का कारण है। वर्ण की अभिव्यक्ति के लिये ध्वनि की उत्पत्ति नितान्त आवश्यक होती है। ध्वनि स्पष्ट तथा अस्पष्ट दो प्रकार की होती है। जिस ध्वनि से किसी पदार्थ का बोध नहीं होता, वह अस्पष्ट ध्वनि है तथा जिस ध्वनि से किसी पदार्थ का बोध सम्भव होता है वह स्पष्ट ध्वनि कही जाती है। वर्ण तो स्पष्ट ही होते हैं। वर्णों से आवश्यक रूप से किसी पदार्थ का बोध होता है। आपाततः यह कहा जा सकता है कि ककारादि वर्णों का स्वतंत्र कोई भी अर्थ नहीं होता, परन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है। इस प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि वर्णों से मिलकर ही पद बनते हैं तथा पदों का अर्थ होना आवश्यक ही है। पद का लक्षण ही है 'अर्थ का अभिधान करने वाला'।[1]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि स्थान-करण के पारस्परिक अभिघात से ध्वनि उत्पन्न होती है। यही ध्वनि पृथक्-पृथक् प्रयत्न से विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। इसी पृथक् प्रयत्न-जन्य ध्वनि को वर्ण कहा जाता है।

वर्णों का विभाग

प्राचीन वैयाकरणों ने वर्णों के दो पक्षों को स्वीकार किया है। प्रथम-'सावयवपक्ष' सौर द्वितीय-'निरवयव' पक्ष। परन्तु सिद्धान्त रूप में निरवयवपक्ष को अधिक मान्यता दी गई है। भर्तृहरि ने वर्ण के लिए 'विभक्ताः' विशेषण का प्रयोग किया है (विभज्यते इति विभक्ता वर्णाः)। कहीं-कहीं 'माला' शब्द का व्यवहार भी वर्ण के अवयवों के लिये किया गया है।[2]

परन्तु व्याकरण में वर्ण के निरवयवपक्ष को अधिक उपयुक्त माना गया है। वर्ण के अवयवों की कल्पना भी ध्वनि-वैज्ञानिकों ने की है, परन्तु यह कालगत

---

१. अर्थः पदम्।—वा० प्रा० ३।२

२. तच्चायं निरवयवेषु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसायः।—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।८९

अर्थात् मात्रागत कल्पना है। जब किसी अन्य ध्वनि के कारण किसी वर्ण का अपूर्ण उच्चारण होता है, तब उसे उस वर्ण का भाग कहा जा सकता है। परन्तु वास्तव में यह उच्चारण उस वर्ण का भाग न होकर अपूर्ण उच्चारण ही है। भाग तो तब हो सकता था, जब उसका उच्चारण पूर्णरूप में करके उसे कई खण्डों में विभाजित किया जा सकता। शैवागम में 'विसर्ग' को हकार का आधा माना जाता है। इस कारण से कतिपय विद्वान् वर्ण का भी भेद मानते हैं, परन्तु उनका यह मत उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि विसर्ग और हकार के उच्चारण में मूल भेद यह है कि हकार सघोष वर्ण है, एवं विसर्जनीय अघोष वर्ण है। यदि विसर्ग के उच्चारण में स्वरतन्त्रियाँ घोषत्व की सृष्टि कर दें, तो विसर्ग भी हकार का रूप ग्रहण कर लेगा।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि वर्ण अविभाज्य हैं, उनके विभाजन का सिद्धान्त आपेक्षिक और एकाङ्गी है।

ध्वनि-विज्ञान

ध्वनियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन करने वाला शास्त्र ध्वनि-विज्ञान कहलाता है। इसके लिए आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक ('Phonetics') शब्द का प्रयोग करते हैं। भाषा-विज्ञान में इस शास्त्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा ध्वनियों पर आधारित है। अतः जब तक किसी भाषा की ध्वनियों का सर्वाङ्गीण अध्ययन नहीं किया जाएगा, तब तक उस भाषा के विषय में हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। इस शाखा के अन्तर्गत ध्वनियों के विषय में सर्वाङ्गीण अध्ययन किया जाता है। संस्कृत के अध्येताओं एवम् आचार्यों ने इसके लिये 'शिक्षाशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया है जिसके परिणामस्वरूप प्राचीनकाल में अनेक शिक्षा-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों के उच्चारण से सम्बन्धित सभी तथ्यों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया जाता है। ध्यातव्य है कि इस शास्त्र के अन्तर्गत उन्हीं ध्वनियों के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध मनुष्य की भाषा से होता है। इस शास्त्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक अंगों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाती है। इसके अतिरिक्त ध्वनि-उत्पत्ति की सामान्य प्रक्रिया, ध्वनियों के उच्चारण में स्थान, करण, बाह्यप्रयत्न, आभ्यन्तरप्रयत्न ध्वनियों के विशेष रूप में परिवर्तित होने के कारण, ध्वनियों के उच्चारण में लगने वाला काल, स्वराघात आदि विविध विषयों का अध्ययन किया जाता है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने शिक्षा-ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्यों में इन्हीं विषयों का विवेचन किया है। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने ध्वनियों में होने वाले परिवर्तनों

आदि पर भी विचार करना ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया है। प्राचीनकाल में इस परिवर्तन को संधि का विषय मानकर इसका विवेचन व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने अनेक ध्वनि-यंत्रों की सहायता से ध्वनिशास्त्र के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

वैदिक ध्वनि-विज्ञान का तात्पर्य

वैदिक ध्वनि-विज्ञान का अर्थ है— वैदिक मंत्रों के शुद्ध पाठ से सम्बन्धित विशिष्ट ज्ञान। अर्थात् जिन उच्चारण-नियमों के अध्ययन से वैदिक मंत्रों का शुद्ध-शुद्ध पाठ किया जा सके, उनका विवेचन करने वाला शास्त्र वैदिक ध्वनि-विज्ञान शब्द से अभिहित किया जाता है। इसी अर्थ में शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों को वैदिक ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ कहा जाता है। इसमें वैदिक मंत्रों में प्राप्त ध्वनियों का सम्यग् अध्ययन किया जाता है। ध्वनियों के उच्चारण में सहायक तत्वों— जैसे स्थान, करण, अनुप्रदान, प्रयत्न आदि का सम्यक् अनुशीलन इसी शास्त्र के अन्तर्गत आता है। वैदिक मंत्रों की सर्वप्रमुख विशेषता है उसकी स्वर-प्रक्रिया। अत: स्वर-प्रक्रिया (उदात्तादि स्वराघातों) का विवेचन भी इसी शास्त्र के अन्तर्गत आता है।

वेद मंत्रों के सम्यक् पाठ करने की प्रक्रियाओं का विशिष्ट एवं परिपूर्ण ज्ञान भी वैदिक ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है।

सामान्य रूप में वैदिक ध्वनि-विज्ञान उन सभी नियमों का अध्ययन करता है, जिनके माध्यम से वैदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण हो सके तथा मंत्रों के वाह्य-स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव न हो सके।

वैदिक ध्वनि-विज्ञान का महत्त्व

हमारे प्राचीन महर्षियों ने भारतीय समाज को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिये भारतीय संस्कृति के स्तम्भ रूप वेदों के अध्ययन को नियमित रूप से करने का विधान किया है। इसके लिये वेदाध्ययन को धार्मिक कृत्य कहा गया है, तथा इसके द्वारा अदृष्ट फल की कल्पना का उद्घोष भी किया गया है। उस प्राचीन युग में वेदाध्ययन की मौखिक परम्परा विद्यमान होने के कारण तत्कालीन वैदिक विद्वानों को यह भय सदैव बना रहता था कि कालक्रमानुसार वेदमंत्रों में विकार भी आ सकता है। इसीलिए तत्कालीन विद्वानों ने वेदों के वाह्य-स्वरूप में आने वाले विकारों के निराकरण के लिए वेद-मंत्रों के प्रत्येक पदों के ध्वनि, मात्रा, स्वर आदि तत्त्वों का सूक्ष्म निरीक्षण किया तथा उनको अविकृत

रखने के लिये प्रत्येक सम्भव प्रयास किया। इसी उद्देश्य को लेकर शिक्षा-ग्रंथों एवं प्रातिशाख्यों की रचना हुई। इन ग्रंथों में वैदिक मंत्रों के उच्चारण को शुद्ध रूप में करने के लिये सभी आवश्यक नियमों का विधान किया गया। साथ ही साथ वेदाध्ययन करने का समय, स्थान, वेदाध्यायी के लिए खाद्य पदार्थ आदि सभी विषयों का वर्णन किया गया। या० शि० में विधान किया गया है कि जिस प्रकार कछुवा अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार स्वस्थ, प्रशान्त एवं निर्भीक होकर अपने मन, दृष्टि एवं चेष्टा को एकाग्र करके वेदमंत्रों के वर्णों का उच्चारण करना चाहिए।[1]

पाणिनि-शिक्षा में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो वेदमंत्र उदात्तादि स्वरों की दृष्टि से एवं वर्णोच्चारण की दृष्टि से हीन रूप में प्रयुक्त होता है वह मिथ्या रूप में प्रयुक्त होकर अपने वास्तविक अर्थ का कथन नहीं करता। वह वाणी रूपी वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर डालता है। स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु (वृत्र) के विनाश की कथा तो सबको ज्ञात ही है।[2]

वास्तव में वेदमंत्रों के शुद्ध उच्चारण एवं पाठ से एक अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है। जिसका विवरण अथर्ववेद संहिता के मंत्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में अनेकशः मंत्र जादू, टोना, मारण, मोहन तथा उच्चाटन आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। इन मंत्रों की शक्ति उसके उच्चारण की शक्ति से भिन्न नहीं है। आधुनिक युग में भी मंत्रों के माध्यम से अनेक ऐसे रोगों को दूर किया जाता है, जो बहुत सी औषधियों के प्रयोग से भी समाप्त नहीं किये जा सकते। व्यावहारिक दृष्टि से भी वाणी में बहुत अधिक शक्ति होती है।

वैदिक ध्वनि-विज्ञान का मुख्य प्रयोजन 'वैदिक मंत्रों के शुद्ध-शुद्ध पाठ की प्रक्रिया बतलाना' है। इसके अध्ययन से हम वैदिक मंत्रों के शुद्ध-शुद्ध पाठ की विधियों को हृदयंगम करके उनसे होने वाले परिणामों को आत्मोत्कर्ष का विषय बना सकते हैं। वेदों के महत्त्व को बतलाने वाले अति प्रसिद्ध श्लोक का भाव भी यही है कि जिन उपायों को हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जान सकते, उन्हें वेदों के माध्यम से जान सकते हैं, अर्थात् इस मंत्रशक्ति की समता करने

---

१. कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः।
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीतो वर्णानुच्चारयेद् बुधः॥—या० शि० २३

२. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥—पा० शि०

वाला कोई दूसरा उपाय हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के आधार पर प्राप्त नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार वेदमन्त्रों का शुद्ध एवं उचित रूप में पाठ करने के लिए वैदिक-ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन नितान्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना

प्रस्तुत ग्रन्थ को वैदिक-ध्वनि-विज्ञान संज्ञा प्रदान करने का स्पष्ट हेतु यह है कि इसमें वेदों में उच्चार्यमाण ध्वनियों के उच्चारण-प्रकार, उच्चारण के स्थान एवं करण, करण की सक्रियता, दो ध्वनियों के संयुक्तोच्चारण से उत्पन्न होने वाली विशेषतायें आदि विषयों को प्रमुख स्थान दिया गया है। ध्वनि भाषा की मूल इकाई है। अतः किसी भी भाषा के अध्ययन के लिये उसकी ध्वनियों का ज्ञान अत्यावश्यक है। वेदों में प्रयुक्त ध्वनियों के सम्बन्ध में पूर्ण एवं विस्तृत ज्ञान प्रातिशाख्यों के माध्यम से ही सम्भव है, क्योंकि प्रातिशाख्य-ग्रन्थ यह स्पष्ट कर देते हैं कि किस वेद के संहिता ग्रन्थों में कौन-कौन सी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ का आधार प्रातिशाख्यों को बनाया गया है। परन्तु इसमें यत्र-तत्र व्याकरण-ग्रन्थों एवं शिक्षा-ग्रन्थों के विचारों का उल्लेख भी कर दिया गया है, जिसका कारण यही है कि विषय अधिकाधिक स्पष्ट हो जाय। वैदिक ध्वनि-विज्ञान से हमारा तात्पर्य यह भी है कि वेदमन्त्रों के सस्वर पाठ से प्राचीन महर्षियों का क्या तात्पर्य था तथा वैदिक मन्त्रों के पाठ की कितनी अवस्थायें थीं। इन्हीं सब उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयास किया गया है।

सभी प्रातिशाख्य-अपनी-अपनी संहिता को ध्यान में रखकर ध्वनि-सम्बन्धी नियमों का विधान करते हैं। वेदों की संहिताओं के रचना-क्रम में कालगत तथा स्थानगत विभिन्नतायें रही हैं। इसी कारण उनके उच्चारण में भी पारस्परिक भेद रहा है। वेदों की सभी शाखाओं में न्यूनाधिक रूप में उच्चारण-सम्बन्धी विभिन्नतायें अवश्य रही हैं। उन सबका समन्वय करते हुए इस ग्रन्थ में उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत गन्थ में कुल आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होने वाली ध्वनियों की परिगणना कराई गई है। लेखक का प्रयास

---

१. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

रहा है कि उन सभी ध्वनियों को एकत्र रखकर उनकी संख्या का सही निर्धारण किया जाय। इन ध्वनियों की गणना करने पर इनकी अधिकतम संख्या ७१ तक पहुँच गई है। यद्यपि इस संख्या में स्वरभक्ति तथा यम ध्वनियों की गणना स्वतन्त्र वर्ण के रूप में की गई है। इन ७१ ध्वनियों को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित करने का आधार बतलाकर उन्हें दो श्रेणियों (स्वर एवं व्यञ्जन) में वर्गीकृत किया गया है। स्वर-ध्वनियों के समानाक्षर और संध्यक्षर इन दो वर्गीकरणों को दिखलाते हुए कतिपय वर्णों के समानाक्षरत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् व्यञ्जन वर्णों के अवान्तर भेदों को बतलाया गया है।

द्वितीय अध्याय में उच्चारणावयवों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी अवस्थाओं को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् वर्णोच्चारण में होने वाले वाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्नों को स्पष्ट किया गया है। इसके बाद क्रमानुसार स्वरों की उच्चारण-प्रक्रिया बतलाते हुए व्यञ्जनों की उच्चारण प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। मन्त्रोच्चारण की वृत्तियों एवं अवस्थाओं का निरूपण भी इस ग्रन्थ के इसी द्वितीय अध्याय में कर दिया गया है।

तृतीय अध्याय में सर्वप्रथम 'अक्षर' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके आधार तथा भेदों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् वर्णों के पारस्परिक अंगाङ्गिभाव का विवेचन किया गया है। ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थ में अंगाङ्गिभाव सम्बन्धी प्रमुख नियमों का ही विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में ध्वनियों के संयुक्तोच्चारण से उत्पन्न होने वाले वैशिष्ट्यों का प्रातिशाख्यानुसारी निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इसके लिए सर्वप्रथम 'संयोग' का स्वरूप बतलाकर या० शि० के अनुसार 'संयोग' के सप्तविध भेदों का निरूपण किया गया है। उसके बाद, अभिनिधान, स्फोटन, स्वरभक्ति, यम, कर्षण, ध्रुव तथा द्वित्व आदि के विषय में प्रर्याप्त विवेचन किया गया है। साथ ही द्वित्व प्राप्त होने की अवस्थाओं की व्याख्या भी की गई है।

पञ्चम अध्याय में नासिक्य ध्वनियों के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया गया है। नासिक्य ध्वनियों से लेखक का तात्पर्य उन सभी ध्वनियों से है, जिनके उच्चारण में नासिका की सहायता अपेक्षित होती है। अनुस्वार, अनुनासिक आदि ध्वनियाँ नासिक्य कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त नासिक्य संज्ञक वह ध्वनि जो केवल हकार के पश्चात् नासिक्य स्पर्श ध्वनियों के रहने पर उन दोनों ध्वनियों (हकार एवं परवर्ती नासिक्य ध्वनि) के मध्य आगम स्वरूप उत्पन्न हो जाती है, को भी विवेच्य विषय बनाकर उसके स्वरूप को यथा सम्भव स्पष्ट करने का प्रयास इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में किया गया है।

षष्ठ अध्याय में उच्चारणकाल का विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम मात्रा के मानक तत्वों का निर्धारण किया गया है। उसके बाद क्रमशः स्वर वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल की मात्रा को स्पष्ट किया गया है। इस अध्याय में व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल के संदर्भ में कतिपय ऐसे तथ्यों को भी प्रस्तुत किया गया है, जिनमें नासिक्य व्यञ्जनों एवं अन्तस्थ वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल के सम्बन्ध में विशेष बातें बतलाई गयी हैं। यद्यपि ये विधान क्षेत्र-विशेष तथा बोली-विशेष में ही लागू होते हैं। इसके अतिरिक्त मन्त्रों के उच्चारण में होने वाले विराम के काल तथा अनुस्वार के उच्चारण में लगने वाले काल का निरूपण भी इसी छठें अध्याय में कर दिया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध के सातवें अध्याय में उदात्तादि स्वराघातों के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया गया है। उदात्तादि स्वराघातों का संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इस अध्याय में संगीत-शास्त्र में उपलब्ध षड्जादि सात स्वरों के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। प्रातिशाख्यों में संगीतशास्त्र-विहित सात स्वरों का निरूपण नामतः नहीं प्राप्त होता। अतः इनसे अत्यन्त सन्निकट सामवेदीय क्रुष्टादि सात स्वरों (यमों) के विषय में विशेष विवेचन किया गया है। साथ ही साथ इन सात स्वरों का उदात्तादि स्वराघातों के साथ होने वाले सम्बन्ध को भी स्पष्ट कर दिया गया है। इसके बाद उदात्तादि स्वराघातों के उच्चारण सम्बन्धी विभिन्न मतों को प्रस्तुत करके उनकी समीक्षा भी करने का प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ में प्रातिशाख्यों में प्राप्त होने वाले ध्वनि-सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करके उनका विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रातिशाख्यों के सूत्रों को समझने के लिये मुझे शिक्षा-ग्रन्थों का भी अध्ययन करना पड़ा है। अतः इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र प्रातिशाख्यों के विचारों को पुष्ट करने के लिये शिक्षा-ग्रन्थों के विचारों को भी उद्धृत किया गया है। महा-भाष्य एवं अन्य कतिपय व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों की सहायता भी लेनी पड़ी है। ध्वनि-सम्बन्धी अध्ययन पर डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा एवं डब्ल्यू० सिडनी एलेन ने पर्याप्त कार्य किया है। अतः मुझे इन दोनों ही विद्वानों के ग्रन्थों से विषय को समझने में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। विषय लगभग समान होने से यत्र-तत्र इनके विचारों से मेरे विचारों का साम्य हो जाना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। अतः मेरे विचार इनके विचारों से यत्र-तत्र सामञ्जस्य भी कर लिये हैं। इन दोनों विद्वानों के ग्रन्थ ध्वनि-सम्बन्धी अध्ययन को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सके थे। डॉ० सि० वर्मा ने अपने ग्रन्थ में ध्वनि-विज्ञान के प्रमुख अंग वर्णो-च्चारण को स्थान नहीं दिया है। इसी प्रकार इनके ग्रन्थ में यह भी नहीं बतलाया

गया है कि वेद की किस संहिता में कितने एवं कौन-कौन से वर्ण प्रयुक्त हैं ? इसी प्रकार ध्रुव, स्फोटन आदि कतिपय महत्वपूर्ण विषयों को भी डॉ० वर्मा ने अछूता ही रहने दिया है। डब्ल्यू० सिडनी एलेन का ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त है। परन्तु संदर्भों (Referances) की दृष्टि से महत् उपादेय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में प्रातिशाख्यों एवं अन्य ग्रन्थों के विचारों का विवेचन नहीं किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन अभावों को दूर करने का यथा सम्भव प्रयास किया गया है तथा इस ग्रन्थ को अपने विषय प्रतिपादन में पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ में ध्वनि-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का निर्वचन अथवा व्युत्पत्ति प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि का० हिं० वि० वि० के संस्कृत-विभाग से एक ऐसा शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ है, जिसमें प्रातिशाख्यों में प्राप्त होने वाले सभी ध्वन्यात्मक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सम्प्रति यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो गया है। संधियों का सम्बन्ध भी ध्वनियों के साथ ही है, परन्तु मेरे ही एक मित्र अभी-अभी कुछ महीने पूर्व वैदिक संधियों पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं। अतः उसी विषय का पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझा गया है।

इस ग्रन्थ में प्रातिशाख्यों के काल निर्धारण को विवेच्य विषय नहीं बनाया गया है। सामान्यतः सभी प्रातिशाख्यों के रचनाकाल के सम्बन्ध में यह सुस्पष्ट है कि पाणिनि के पूर्व ही इनका उद्भव हो चुका था। महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में प्रातिशाख्यों के स्वराघात विधायक सूत्रों को यथावत् ग्रहण कर लिया है। 'उच्चैरुदात्तः', नीचैरनुदात्तः' तथा 'समाहारः स्वरितः' सूत्र प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार कतिपय संज्ञायें भी पाणिनि ने प्रातिशाख्यों से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि कुछ आधुनिक विद्वान् कतिपय प्रातिशाख्यों को पाणिनि के बाद की रचना स्वीकार करते हैं, परन्तु इसे उनका प्रमाद ही कहा जा सकता है। निष्कर्षतः हम यही कह सकते हैं कि प्रातिशाख्य ग्रन्थ पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने सभी प्रातिशाख्यों को पाणिनि से पूर्वरचित स्वीकार किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका भी दी गई है, जिसको तीन भागों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम भाग में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि प्राचीन भारत में भी ध्वनि-विज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन अत्यन्त दिलचस्पी के साथ किया जाता रहा। जिसके बीज संहिता ग्रन्थों में ही प्राप्त होने लगते हैं। द्वितीय भाग में प्रातिशाख्यों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा भूमिका के तृतीय भाग में ध्वनि के सम्बन्ध में वैयाकरणों के अनुसार

विचार किया गया है। इस भाग में ध्वनि का अर्थ, नाद और ध्वनि में पारस्परिक सम्बन्ध, वर्ण और ध्वनि, ध्वनि-विज्ञान, वैदिक ध्वनि-विज्ञान तथा वैदिक ध्वनि-विज्ञान के महत्त्व आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने सात अध्याय के कलेवर में वैदिक ध्वनि-सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन करता है।

अस्तु ! इस कार्य में लेखक को किस सीमा तक सफलता प्राप्त हो सकी है, इसका निर्णय विज्ञजन ही कर सकते हैं। लेखक तो अपनी अल्पज्ञमति का सदुपयोग करते हुए सहृदय विद्वानों के समक्ष करबद्ध रूपेण नत है तथा अपनी त्रुटियों के लिए विद्वानों का मुखापेक्षी है। हाँ ! इतना कह देना लेखक अपना मुख्य दायित्व समझता है कि ग्रन्थ में सम्भावित त्रुटियाँ लेखक की अपनी हैं तथा विशेषतायें विद्वज्जनों के आशीर्वचन के सत्फल स्वरूप उत्पन्न हो सकीं हैं।



प्रथम अध्याय

वर्णसमाम्नाय

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ

प्रातिशाख्यों के आधार पर सम्पूर्ण वैदिक भाषा में उपलब्ध होने वाली ध्वनियों की गणना करने पर इनकी अधिकतम संख्या ७१ तक पहुँच जाती है। इन ध्वनियों की स्वीकारोक्ति के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्य एकमत नहीं हैं। प्रत्येक प्रातिशाख्य केवल उन्हीं ध्वनियों को स्वीकार किये हैं जो उनसे सम्बन्धित शाखा-विशेष के संहिता-ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। वैदिक भाषा की सभी ध्वनियाँ अधोलिखित हैं—

स्वर—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ॡ, ॡ३, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३।

व्यञ्जन—क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; श, ष, स, ह; अः (विसर्जनीय) ᳵ क ᳵ ख, (जिह्वामूलीय) ᳶ प, ᳶ फ (उपध्मानीय) अं, आं, (अनुस्वार), हुँ (नासिक्य) कुँ, खुँ, गुँ, घुँ = (चार यम) ळ, ळ्ह और स्वर-भक्ति।

उपर्युक्त ध्वनियों के अतिरिक्त कतिपय ऐसी भी ध्वनियाँ हैं जो संहिता-ग्रन्थों में तो उपलब्ध हैं, परन्तु उस शाखा के प्रातिशाख्य में प्रातिशाख्यकार ने वर्ण-समाम्नाय में उनका कथन नहीं किया है। यद्यपि किसी न किसी रूप में उन ध्वनियों को ग्रन्थकार ने स्वीकार अवश्य किया है। उपर्युक्त ध्वनियों में कतिपय ध्वनियाँ किन्हीं अन्य ध्वनियों के विकार-स्वरूप उत्पन्न होने वाली हैं, इसलिए प्रातिशाख्यकारों ने उन्हें स्वतंत्र वर्ण के रूप में स्वीकार नहीं किया है। फलतः वर्ण-समाम्नाय में भी उनका कथन स्वतंत्र वर्ण के रूप में नहीं किया गया है।

वा० प्रा० तथा ऋ० तं० के अतिरिक्त किसी भी प्रातिशाख्य में सूत्रकार द्वारा वर्णमाला का निर्देश नहीं किया गया है। ऋ०प्रा० में भाष्यकार उवट के अनुसार स्वयं सूत्रकार ने वर्ण-समाम्नाय का कथन नहीं किया है। ऋ० प्रा० १।३ पर भाष्य करते समय उव्वट ने इस प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए उसके उत्तर

में कहा है कि 'यह दोष नहीं है; सूत्रकार के समक्ष लौकिक वर्ण-समाम्नाय अर्थात् परम्परा से प्राप्त वर्णमाला उपस्थित थी। अतः सूत्रकार ने वर्णमाला की पुनरुक्ति न करके उनमें से जितने वर्ण इस शाखा अर्थात् शाकलशाखा की शैशिरीय उपशाखा में उपलब्ध हैं, उतने वर्णों की समानाक्षर आदि संज्ञा प्रातिशाख्य के प्रारम्भिक सूत्रों में किया है।[1] ऋ० प्रा० के प्रारम्भिक श्लोकों में अर्थात् जिन पर विष्णुमित्र ने वर्गद्वय-वृत्ति लिखी है, उनमें ऋ० प्रा० में स्वीकृत सभी वर्णों का स्पष्ट कथन कर दिया गया है। वृत्तिकार इन श्लोकों को आचार्य शौनक की ही रचना मानता है। ऋ० प्रा० पर वर्गद्वय के अंतिम सूत्र 'इति वर्णराशिः क्रमश्च' पर अपनी वृत्ति में विष्णुमित्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये वर्गद्वय श्लोक भी आचार्य शौनक की ही रचना हैं।[2] इसके अनुसार ऋ० प्रा० द्वारा गृहीत वर्णमाला को इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ। क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; ह, श, ष, स; अः, ᳵ क, ᳶ प, अं।

इनके अतिरिक्त ऋ० प्रा० में स्वरों के अन्तर्गत केवल इकार के प्लुत रूप को स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण ऋग्वेद-संहिता में प्लुत ईकार का प्रयोग तीन ही स्थलों पर किया गया है—अधः स्विदासी३ दुपरिस्विदासी३ त्वभीरिवविन्दती३ इति (ऋ० सं० १०।१२९।५ तथा ऋ० सं० १०।१४६।१)। इनका परिगणन ऋ० प्रा० १।३१ में सूत्रकार ने करा दिया है।[3] ऋ० प्रा० १।३० में प्लुत-स्वरों के उच्चारण-काल का भी कथन सूत्रकार ने कर दिया है।[4] ऋ० प्रा० में प्लुत ईकार के दीर्घवत् कार्य का भी विधान कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त ऋ० प्रा० में कहीं भी प्लुत स्वरों के विषय में कोई विधान नहीं प्राप्त होता है। ऋ०

---

१. नैष दोषः। उपदिष्टो वर्णसमाम्नायो लौकिको विद्यते। तत्र यावन्तो वर्णा अस्यां शाखायामुपयोक्ष्यन्ते तावतां संज्ञां कर्तुमेव वर्णसमाम्नायमुररीकृत्याह -"अष्टौ समानाक्षराण्यादितः।"—ऋ० प्रा० १।१ पर उवट

२. एवं वर्णसमाम्नायमुक्त्वा तत्र लघुनोपायेन संज्ञापरिभाषाभ्यां शास्त्रे संव्यवहार-सिद्धिं मन्यमानः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धार्थमाह।—वि० कृ० व० द्व० वृ० श्लोक १०

३. अधः स्विदासी३ दुपरिस्विदासी३ दर्थे प्लुतिर्भीरिव विन्दती३ त्रिः।—ऋ० प्रा० १।३१

४. तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः।—ऋ० प्रा० १।३०

प्रा० में लृकार को भी सभी अवस्थाओं में स्वर नहीं माना गया है। वर्गद्वय में पद के मध्य में स्थित लृकार को ही स्वरों के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। पद के आदि और अन्त में आया हुआ लृकार स्वरों में नहीं गिना जाता।[1] ऋ० प्रा० १३।३५ में कहा गया है—उसी रेफ के लकार हो जाने पर 'क्लृप्' धातु में स्थित लृकार भी स्वर हो जाता है 'अर्थात् 'कृप्' धातु का रेफ जब लकार में परिवर्तित हो जाता है तो, वही परिवर्तित होकर क्लृप् हो जाता है और यहाँ लृकार स्वर माना जाता है।[2] ऋ० प्रा० १।१९ पर भाष्य में उवट ने सूत्र में प्रयुक्त 'उभय' शब्द से प्लुत ईकार एवं लृकार का ग्रहण किया है तथा उसकी पुष्टि में तेरहवें अध्याय के उस सूत्र को उद्धृत किया है, जिसमें लृकार को स्वर कहा गया है।[3] इस सूत्र (१।१९) में अक्षर संज्ञा का विधान किया गया है। अक्षर का मुख्य आधार स्वर ही होता है अतः ये स्वर ही होंगे। ऋ० प्रा० में ळ तथा ळ्ह, नासिक्य एवं यमों के विषय में विधान तो प्राप्त होता है, परन्तु इन वर्णों को वर्णमाला में स्थान नहीं दिया गया है। स्वरभक्ति को तै० प्रा० के भाष्यकार सोमयार्य ने अपने त्रिभाष्यरत्नभाष्य में स्वतन्त्र वर्ण मानकर वर्ण-समाम्नाय में स्थान दिया है। अन्य प्रातिशाख्यों में इन वर्णों को वर्ण-समाम्नाय में स्थान न देने का वास्तविक कारण यही है, कि ये वर्ण किसी-न-किसी अन्य वर्ण के विकृत रूप हैं तथा इनके उच्चारण में अत्यल्प समय लगता है। किसी भी प्रातिशाख्य में केवल उन्हीं वर्णों को वर्ण-समाम्नाय में स्थान दिया गया है, जिनके उच्चारण में कम से कम आधी मात्रा का समय अवश्य लगता है। ऋ० प्रा० में ळ तथा ळ्ह वर्णों को वर्ण-समाम्नाय में स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु ऋ० प्रा० १।५२ में आचार्य वेदमित्र के मत को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट कहा गया है कि दो स्वरों के मध्य में आया हुआ डकार ळकार हो जाता है तथा वही डकार ऊष्म वर्ण (हकार) से संयुक्त होकर जब ढकार में परिवर्तित होकर दो स्वरों के मध्य में आता है, तब ळ्हकार में परिणत हो जाता है।[4] ऋ० प्रा० १।६ के उव्वट भाष्य में कहा गया

---

१. पदाद्यन्तयोर्नलृकारः स्वरेषु।—ऋ० प्रा० वर्गद्वय ९

२. तस्यैव लकार भावे धातो स्वरः कल्पयताव्लृकारः।—ऋ० प्रा० १३।३५

३. य इह ह्रस्वदीर्घसंज्ञाः स्वराः निर्दिष्टाः, यौ च वक्ष्यमाणकौ स्वरौ-धातौ स्वरः कल्पयताव्लृकारः 'इति-तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः' इति लृकारईप्लुतौ एत उभये तु, अक्षर संज्ञाः।—ऋ० प्रा० १३।१९ पर उवट

४. द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः। इळासाळ्हा ······।—ऋ० प्रा० १।५२

है कि (सूत्र में) 'सर्व' शब्द यमादियों के ग्रहण के लिये प्रयुक्त है। अर्थात् उवट यम, अनुस्वार तथा नासिक्य वर्णों को व्यञ्जन मानते हैं। इसी स्थल पर यह भी कहा गया है कि यद्यपि उन यमादियों का यहाँ संज्ञाधिकार में ग्रहण नहीं किया गया है परन्तु स्थानाधिकार में उनका ग्रहण तो किया ही गया है।[1] उल्लेखनीय है कि ऋ० प्रा० में अनुस्वार की परिगणना स्वर और व्यञ्जन दोनों से भिन्नरूप में परन्तु उभयगुणों से युक्त वर्ण के रूप में की गई है। ऋ० प्रा० १।५ में कहा गया है कि अनुस्वार व्यञ्जन भी है और स्वर भी है। इस सूत्र के भाष्य में उव्वट ने अनुस्वार में कतिपय स्वर के गुणों एवं कतिपय व्यञ्जन के गुणों को स्वीकार किया है।[2] जिसका विवेचन 'नासिक्य ध्वनियाँ' नामक स्वतंत्र अध्याय में किया जायेगा। तै० प्रा० में सूत्रकार ने वर्ण-समाम्नाय का कथन नहीं किया है। परन्तु सूत्रों को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है कि सूत्रकार के समक्ष कोई पूर्व-प्रचलित वर्णमाला अवश्य थी, जिसे स्वीकार करके सूत्रकार ने संज्ञाओं का कथन किया है। तै० प्रा० के भाष्यकारों ने सूत्रकार को अभीष्ट वर्णों की परिगणना तै० प्रा० १।१ के भाष्य में करा दी है। वैदिकाभरणभाष्य के अनुसार सूत्रकार को स्वीकृत वर्णों की संख्या (५९) उनसठ है।[3] त्रि० के अनुसार यह संख्या (६०) साठ हो जाती है। क्योंकि वह स्वरभक्ति को भी एक स्वतंत्र वर्ण स्वीकार करता है।[4] तै० प्रा० में स्वीकृत वर्णों को निम्नलिखित क्रम से रखा जा सकता है।

अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ। क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; श, ष, स, ह; ⁀क, ⁀प, अं = (अनुस्वार), अः = (विसर्जनीय), अनुनासिक, ळ, कँ॒, खँ॒, गँ॒, घँ॒ = (चार यम), स्वरभक्ति।

तै० प्रा० में अकार, इकार तथा उकार के प्लुत रूपों को भी स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'ऌ' के केवल ह्रस्व-रूप को ही मान्यता दी गई

---

१. सर्व शब्दो यमादीनां परिग्रहणार्थः। तेषां यद्यपि अत्र संज्ञाधिकारे ग्रहणं न कृतं तथापि स्थानाधिकारे ग्रहणं कृतमेव।—ऋ० प्रा० १।६ पर उवट

२. अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा।—ऋ० प्रा० १।५ तथा इसी सूत्र पर उवट भाष्य

३. एवमेकोनषष्टिवर्णा अस्मदीयैस्समाम्नायन्ते।—तै० प्रा० १।१ पर वैदिकाभरण

४. अकारादयो वर्णाः स्वरभक्तिपर्यवसानाः आनुपूर्व्येण पूर्वैः शिष्टैरुपदिष्टाः। -षष्टिसंख्या सूत्रता एव विस्पष्टता द्रष्टव्या।—तै० प्रा० १।१ पर त्रि०

है। व्यञ्जनों के अन्तर्गत ळकार को भी तै० प्रा० स्वीकार करता है। परन्तु ऋ० प्रा० की भाँति यहाँ भी इस ध्वनि को डकार का विकृत रूप ही माना गया है। तै० प्रा० १३।१६ में पौष्करसादि ऋषि के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि 'पृक्त स्वर' से परवर्ती डकार ळकार हो जाता है।[1] पृक्त स्वर के अन्तर्गत वैदिकाभरणकार के मत से ऋकार एवं लृकार दोनों आते हैं, क्योंकि इन दोनों स्वरों में रेफ और लकार क्रमशः संश्लिष्ट हैं, जबकि त्रि० केवल ऋकार को ही पृक्त स्वर मानता है।[2] त्रि० में अनुस्वार को स्वतंत्र वर्ण मानने का कारण स्वयं भाष्यकार ने १।१ के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है। उसके अनुसार—१।३४ में अनुस्वार के भी उच्चारण-काल का विधान स्वयं सूत्रकार द्वारा किया गया है, अतः यह धर्मी है। अनुनासिक की भाँति धर्म नहीं है।[3] अर्थात् अनुनासिकता अन्य वर्णों का धर्म है, परन्तु अनुस्वार धर्म न होकर स्वतंत्र वर्ण है। यदि अनुस्वार भी किसी अन्य वर्ण का धर्म होता, तो उसके काल का स्वतंत्र विधान न किया गया होता। एवं यदि अनुनासिकता स्वतंत्र वर्ण होती तो उसके उच्चारणकाल का विधान भी सूत्रकार अवश्य करते। अतः त्रि० र० का मत उचित ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त ऋ० प्रा० में स्वीकृत अन्य वर्ण इस प्रातिशाख्य को भी मान्य हैं। वा० प्रा० के आठवें अध्याय में प्रथम सूत्र से ३२वें सूत्र तक स्वयं सूत्रकार ने ही शुक्ल-यजुर्वेद में उपलब्ध सभी वर्णों की परिगणना करा दी है। वा० प्रा० में स्वीकृत वर्ण ६५ हैं,[4] जो निम्नलिखित हैं—

अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ, ॠ३ लृ, ॡ, ॡ३, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३ औ, औ३; क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; स, श, ष, ह; ‿ क, ‿ प, (अं) = अनुस्वार, (अः) = विसर्जनीय (हुँ) नासिक्य तथा (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ) = ४ यम।

---

१. पृक्तस्वरात् परो डोळं पौष्करसादेः पौष्करसादेः।—तै० प्रा० १३।१६

२. पृक्तस्वरो नाम ऋकारः लृकारश्च, रेफलकारसंपृक्तत्वात्।—वै०, पृक्त-स्वरात्-ऋकारात् परो।—त्रिभाष्यरत्न

३. ······कालविशेषाश्रयत्वाद् असौ धर्मी न तु अनुनासिकवद्धर्मः।—तै० प्रा० १।१ पर त्रि०

४. द्रष्टव्य—एते पञ्चषष्टि वर्णाः ब्रह्मराशिरात्मा वाचः। त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः। द्विचत्वारिंशत् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः।—वा० प्रा० ८।१।३२

वा० प्रा० में सभी स्वरों के प्लुत रूपों को स्वीकार किया गया है। वा० प्रा० में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य, ळकार एवं ळ्हकार के विषय में पर्याप्त विधान प्राप्त होते हैं, परन्तु सूत्रकार ने स्वयं ८।४५ में कहा है कि ये वर्ण वाजसनेयी संहिता की माध्यन्दिन-शाखा के अध्येताओं को स्वीकार्य नहीं हैं।[1] इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि ये ध्वनियाँ शुक्ल यजुर्वेद की काण्वशाखा में अवश्य थीं। प्रस्तुत प्रातिशाख्य तो माध्यन्दिन एवं काण्व दोनों ही शाखाओं की संहिताओं में प्राप्त ध्वनियों को अपने विवेचन का विषय बनाया है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार मध्यदेश में अर्थात् जिस प्रदेश में सौरसेनी भाषा बोली जाती है—रहने वाले यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बन्धित व्यक्ति ही उपर्युक्त वर्णों की सत्ता अपनी संहिता में स्वीकार नहीं करते हैं।[2] वा० प्रा० ८।४६ में यह भी कह दिया गया है कि माध्यन्दिन शाखा में लृकार और प्लुत-स्वर के स्थल सूत्रसंख्या (२।५०-५३) में स्पष्टरूपेण बतला दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त संहिता में अन्य स्थलों पर लृकार तथा प्लुत स्वर नहीं उपलब्ध होते हैं।[3] शौनकीया चतुरध्यायिका में भी सूत्रकार द्वारा वर्ण-समाम्नाय का कथन नहीं किया गया है। परन्तु ह्विटनी द्वारा सम्पादित अथर्व-प्रातिशाख्य (च० अ०) में किसी भाष्यकार द्वारा किये गये अंशतः खण्डित-भाष्य में सूत्रकार को अभिमत वर्णों का संकेत प्राप्त होता है। इस भाष्य के अनुसार च० अ० में स्वीकृत वर्ण-राशि अधोलिखित है—

अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, लृ, ॡ, ॡ३, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३। क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; श, ष, स, ह; ⁀क, ⁀ख, (जिह्वामूलीय) ⁀प, ⁀फ (उपध्मानीय) अनुनासिक, कुँ, खुँ, गुँ, घुँ (यम) और नासिक्य।

ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या के अनुसार च० अ० में सभी स्वरों के प्लुतरूप स्वीकृत हैं। परन्तु विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि अथर्ववेद में केवल आकार, इकार तथा एकार के ही प्लुतरूप उपलब्ध होते हैं। च० अ०

---

१. तस्मिन्ळळ्हाजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्याः न सन्ति माध्यन्दिनानाम्। —वा० प्रा० ८।४५

२. द्रष्टव्य—क्रिटिकल स्टडी इन दी फोनेटिक्स आब्जर्वेशन्स, पृष्ठ ४५, सि० वर्मा

३. लृकारः प्लुतश्चोक्तवर्जम्।—वा० प्रा० ८।४६

१।१०५ में प्लुतस्वर-युक्त सभी पदों को सूत्रकार ने एकत्र रख दिया है।[1] ळ, एवं ळ्ह वर्णों के सम्बन्ध में च० अ० में कहीं भी विधान नहीं किया गया है। वास्तव में सम्पूर्ण अथर्ववेद में एक भी स्थल नहीं उपलब्ध होता, जहाँ पर दो स्वरों के मध्य में आये हुए डकार अथवा ढकार अपने स्वरूप को छोड़कर ळकार तथा ळ्हकार में परिवर्तित हुए हों। अनुस्वार शब्द का तो च० अ० में एक भी स्थल पर प्रयोग तक नहीं किया गया है। जिसके कारण अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी को यह गलत धारणा हो गई थी कि इस प्रातिशाख्य में अनुस्वार का अभाव है। च० अ० १।२६ तथा १।२७ पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से ह्विटनी की उपर्युक्त धारणा पूर्णतः भ्रान्त सिद्ध हो जाती है, क्योंकि इन सूत्रों में स्पष्टतया उन्हीं तत्त्वों का विवेचन किया गया है, जिन्हें अन्य प्रातिशाख्यों में अनुस्वार नाम से अभिहित किया गया है।[2] च० अ० १।६७ में विधान किया गया है कि नकार और मकार के लोप हो जाने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[3] इसके उदाहरणस्वरूप 'विंशतिः' और 'पयांसि' पदों को उद्धृत किवा गया है, जिनमें अनुस्वार (अं) की उपलब्धि निर्विवाद है। यमों की सत्ता भी इस प्रातिशाख्य में स्वीकार की गई है परन्तु उनकी संख्या के विषय में सूत्रकार मौन हैं।[4] ऋक्तन्त्र में किसी स्वर के प्लुत रूप को वर्णसमाम्नाय में स्थान नहीं दिया गया है।[5] इस ग्रन्थ में अन्य ध्वनियाँ ऋ० प्रा० जैसी ही हैं। अन्य प्रातिशाख्यों से इसकी विशेषता यही है कि इस ग्रन्थ में अनुस्वार के 'अं' तथा 'आं' दो रूप स्वीकार किये गये हैं, जबकि अन्य प्रातिशाख्यों में केवल 'अं' को ही अनुस्वार कहा गया है। अनुस्वार भी वास्तव में ह्रस्व और दीर्घ भेद से दो प्रकार का होता है, इसीलिये इस ग्रन्थ में इसके दो रूप स्वीकार किये गये हैं।

वर्णों का दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजन

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में सम्पूर्ण वर्णराशि को दो प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया गया है—(१) स्वर, (२) व्यञ्जन। इन भेदों के भी कई अवान्तर-भेद किये

---

१. द्रष्टव्य—च० अ० १।१६५

२. द्रष्टव्य—च० अ० १।२६, २७ तथा इन्हीं सूत्रों पर ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या

३. नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः।—च० अ० १।६७

४. समानपदेऽनुत्तमात् स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्।—च० अ० १।९९

५. द्रष्टव्य—ऋक्तन्त्र १।२

गये हैं, जिनका विवेचन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ संक्षेप में यह प्रतिपादित कर देना पर्याप्त होगा कि इस वर्गीकरण का आधार भी ध्वनि-वैज्ञानिक ही है।

वर्गीकरण का आधार

ध्वनियों का स्वर और व्यञ्जन इन दो मुख्य श्रेणियों में विभाजन सभी ध्वनि-वैज्ञानिकों एवं भाषाविदों को निरपवाद रूप से स्वीकृत है। इसमें मुख्य कारण पारस्परिक सापेक्षनिरपेक्षभाव को ही कहा जा सकता है। व्यञ्जन अपने उच्चारण के लिए स्वर की अपेक्षा रखते हैं, जबकि स्वर स्वतः उच्चरित हो जाते हैं। प्रसिद्ध यूनानी-वैयाकरण 'डायोनिशस थ्रेक्स' का भी मत है कि स्वर वे ध्वनियाँ हैं, जिनका उच्चारण बिना किसी अन्य ध्वनि की सहाथता के हो जाता है जबकि व्यञ्जन उन ध्वनियों को कहा जाता है, जो अपने उच्चारण के लिये स्वरों पर आश्रित रहती हैं। अर्थात् व्यञ्जनों का उच्चारण बिना स्वर की सहायता के नहीं हो सकता। इस प्रसंग में प्राचीन-भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिकों के मतों को उद्धृत कर देना भी अत्यन्त प्रासंगिक होगा। पाणिनि-शिक्षा पर पञ्चिका-वृत्ति में स्पष्ट कहा गया है कि इन स्वरों के द्वारा व्यञ्जन ध्वनित होते हैं, अतः ये स्वर कहे जाते हैं।[1] इसी बात को या० शि० की शिक्षाबल्ली में भी स्पष्टतः कहा गया है—इनके द्वारा व्यञ्जन ध्वनित होते हैं, अथवा ये स्वयम् उच्चरित होते हैं, अतः ये स्वर हैं।[2] ऋ० प्रा० १।३ के भाष्य में उवट ने स्वर शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है कि स्वर ध्वनित होते हैं—शब्द करते हैं।[3] उवट के इस कथन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि व्यञ्जनों में भी जो ध्वनि निकलती है वह स्वर के कारण ही स्पष्ट श्रुतिगोचर हो पाती है। पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों के प्रत्येक व्यञ्जनवर्ण के साथ अकार के उच्चारण का कारण बतलाते हुए सिद्धान्त कौमुदी की वृत्ति में स्पष्ट कहा गया है कि इन हकारादि व्यञ्जनों में जो अकार को संपृक्त करके सूत्र का निर्माण हुआ है वह केवल उच्चारण के लिए ही है।[4] बिना अकार का संयोग किये इन व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं हो सकता। तै० प्रा० १।६ पर वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है—जो स्वयम्

---

१. स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति।—पा० शि० (पंचिका भाष्य) ४

२. स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते व्यञ्जनमेभिः स्वेन राजन्त इति वा।—या० शि० (शिक्षावल्ली) पृष्ठ ७६

३. स्वर्यन्ते शब्द्यन्त इति स्वराः।—ऋ० प्रा० १।३ पर उवट

४. हकारादिषु अकारः उच्चारणार्थः।—ल० सि० कौ०

सुशोभित होते हैं, किसी अन्य के द्वारा व्यक्त नहीं होते हैं, वे स्वर कहे जाते हैं।[1] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी म० भा० १।२।२९ में कहा है—जो स्वयं प्रकाशित होते हैं वे स्वर तथा जो दूसरे (स्वरों) पर आश्रित हैं, वे व्यञ्जन कहे जाते हैं।[2] तै० प्रा० पर वैदिकाभरण में भी पतञ्जलि के मत का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार जो स्वयं प्रकाशित होते हैं उन्हें पतञ्जलि ने स्वर कहा है तथा उस स्वर के द्वारा जो व्यक्त होते हैं, वे व्यञ्जन कहे जाते हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर एवं व्यञ्जन के मध्य पारस्परिक सापेक्ष एवं निरपेक्ष भाव है। स्वर स्वतः उच्चरित हो जाते हैं जबकि व्यञ्जन स्वतः उत्पन्न होने का सामर्थ्य नहीं रखते हैं। इस सम्बन्ध में आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के विचारों की समीक्षा कर लेना भी प्रासङ्गिक होगा।

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का मत

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि 'स्वर निरपेक्ष उच्चरित होते हैं और व्यञ्जनों का उच्चारण स्वर-सापेक्ष है'। यह प्राचीन आचार्यों का मत सभी व्यञ्जन ध्वनियों के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। उनका कथन है कि श्, स्, ज् आदि कुछ ऐसे व्यञ्जन हैं, जिनके उच्चारण में स्वर की किञ्चित् आवश्यकता नहीं पड़ती तथा संसार में कुछ ऐसी भी भाषायें हैं, जिनमें पूरे शब्द का उच्चारण बिना किसी स्वर की सहायता लिये ही हो जाता है। इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार है कि प्रत्येक व्यञ्जन बिना न्यूनाधिक स्वर की सहायता के कदापि उच्चरित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यञ्जन के उच्चारण में न्यूनाधिक मात्रा में वायु-प्रवाह में बाधा उत्पन्न करना आवश्यक है। यह बाधा करण (सक्रिय उच्चारणाङ्ग) द्वारा स्थान (निष्क्रिय उच्चारणाङ्ग) पर आघात या स्पर्श द्वारा उत्पन्न की जाती है। फलस्वरूप वायु या तो मुख-विवर में कुछ काल के लिए रोक ली जाती है, अथवा वायु का कुछ भाग मुख-विवर से निरन्तर निकलता रहता है तथा कुछ भाग रुका रहता है। अथवा वायु किञ्चित् अवरोध के साथ घर्षण करती हुई मुख-विवर से निकलती रहती है। जिस क्षण वायु उच्चारणांगों के पारस्परिक पृथक्करण के परिणाम स्वरूप मुख-विवर से बाहर निकलती है, उसी क्षण व्यञ्जन ध्वनियों

---

१. स्वयं राजन्ते नान्येन व्यञ्जन्त इति स्वराः।—तै० प्रा० १।६ पर वै०

२. स्वयं राजन्त इति स्वराः अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति।—महाभाष्य १।२।२९

३. यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः। उपरिस्थायिना येन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते।—तै० प्रा० १।५ पर वैदिकाभरण

का श्रवण स्पष्टतः हो पाता है। यह पृथक्करण तभी होगा, जब उस व्यञ्जन के पश्चात् कोई स्वर ध्वनि उच्चरित की जाय। इसी प्रकार वायु को मुख-विवर तक ले जाने के लिए भी किसी-न-किसी स्वर के किञ्चिदंश के उच्चारण की आवश्यकता पड़ती है। श्, ज्, स् आदि ध्वनियों के उच्चारण में यद्यपि स्वर की उतनी मात्रात्मिका ध्वनि की आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी कि स्पर्श ध्वनि एवं अन्तस्थ ध्वनियों के उच्चारण में पड़ती है। परन्तु कितनी भी सावधानी की जाय, कुछ-न-कुछ स्वर की ध्वनि व्यञ्जनों के उच्चारण में श्रुतिगोचर हो ही जाती है। वास्तविक बात तो यह है कि व्यञ्जनों में जो श्रवणीयता आती है, वह स्वर के ही कारण होती है। इस प्रसंग में एक तथ्य और प्रकाश में आता है वह यह कि भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिक-ग्रन्थों में व्यञ्जनों के उच्चारण में अर्द्धमात्रा समय का विधान पाया जाता है। सामान्यतया 'निमेष' काल को एक मात्रिक माना जाता है। अर्थात् व्यञ्जन को इस निमेष-काल के अर्द्धांश में ही उच्चरित हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होना मेरे विचार से असम्भव है। अर्थात् कोई भी ध्वनि इतने अल्प-काल में श्रुतिगोचर नहीं हो पाती। अतः उससे अधिक काल में श्रुतिगोचर होने का तात्पर्य है कि उसमें स्वर ध्वनि का किञ्चित् समावेश हो गया है। इसलिए इस तथ्य के आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि व्यञ्जन बिना स्वर की सहायता के श्रुतिगोचर नहीं हो सकता। व्यञ्जन का लैटिन नाम "Consonant" है जिसका सम्बन्ध Consonantem शब्द से है। इस शब्द का अर्थ दूसरे के साथ 'ध्वनित होने वाला' या उच्चरित होने वाला है। पतञ्जलि ने तो एकदम स्पष्ट शब्दों में इसका उद्घोष कर दिया है कि 'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति' अर्थात् स्वर के बिना व्यञ्जन का उच्चारण भी नहीं हो सकता। इस प्रकार यद्यपि प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिकों ने तो एकमत से व्यञ्जन के उच्चारण में स्वर के योगदान को स्वीकार किया है, परन्तु आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक स्वर और व्यञ्जनों के उच्चारण में परस्पर सापेक्षता को पूर्णतः न स्वीकार करते हुए भी स्वर और व्यञ्जन की संतोषप्रद परिभाषा दे सकने में असमर्थ प्रतीत होते हैं।

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार स्वर वे सघोष-ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में वायु अबाध गति से मुख-विवर से बाहर निकल जाती है। यद्यपि यह परिभाषा भी पूर्णतः ठीक नहीं कही जा सकती। क्योंकि कतिपय स्वरों के उच्चारण में भी वायु को किञ्चित् अवरोध का सामना अवश्य करना पड़ता है। प्रातिशाख्यों में स्वरों के उच्चारण-प्रसंग में भी जिह्वा के विभागों द्वारा ताल्वादि स्थानों के समीप ले जाकर वायु को किञ्चित् अवरुद्ध करने का विधान पाया जाता है। जिसका विशद् विवेचन स्वरों के उच्चारण के प्रसंग मे किया जायेगा। इसी प्रसंग में व्यञ्जनों के स्वरूप पर भी विचार कर लेना उचित होगा। व्यञ्जन शब्द

'वि' उपसर्ग पूर्वक प्रकट होना, व्यक्त होना, प्रकाशित होना अर्थ वाली 'अंज्' धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। व्यञ्जन का अर्थ है—जो अर्थ को व्यक्त करे। अर्थात् यदि शब्द से व्यञ्जन को निकाल दिया जाय तो शब्द का अर्थ प्रायः नष्ट हो जाता है। यद्यपि कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनमें बिना व्यञ्जन के भी अर्थबोध हो जाता है परन्तु वे संख्या में अत्यल्प हैं। ऋ० प्रा० १।६ के भाष्य में उवट का कथन है कि ये वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं—प्रकट करते हैं, अतः ये व्यञ्जन कहलाते हैं।[1] व्यञ्जन ही अर्थ-विशेष के बोधक होते हैं, व्यञ्जनों के बदल जाने से अर्थ भी बदल जाते हैं—उदाहरणार्थ कूप, यूप तथा धूप में स्वर की एकता होने पर भी व्यञ्जनों की भिन्नता होने से उनके अर्थों में भेद है। तै० प्रा० २।१।१ पर त्रि० व्याख्या में पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है कि कूप, यूप इत्यादि शब्दों में व्यञ्जन ही अर्थ के बोधक हैं। अतः उनका ही स्वर के प्रति अंगी हो जाना क्यों न समझा जाय ? इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया गया है कि व्यञ्जन स्वतंत्र रूप से स्थित (उच्चरित) नहीं हो सकता। अपितु वह सापेक्ष है। स्वर तो निरपेक्ष उच्चरित होता है।[2] अतः किसी भी स्थिति में 'स्वर' व्यञ्जन का अंग नहीं हो सकता।

स्वर और व्यञ्जन के उच्चारण में मौलिक भेद

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि (१) स्वर वे सघोष ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में अत्यधिक मुखरता होती है। अर्थात् स्वरों को वक्ता अपनी इच्छानुसार उनकी निश्चित मात्रानुसार एक या एकाधिक मात्रा में उच्चरित कर सकता है। व्यञ्जन किसी भी स्थिति में अपने निर्धारित मात्रा-काल से न तो अधिक काल तक उच्चरित हो सकते हैं और न उससे शीघ्र ही उच्चरित हो पाते हैं। (२) स्वरों को काफी दूर तक सुन सकते हैं। व्यञ्जनों में इतनी श्रव्यता नहीं होती। इस श्रव्यता की परीक्षा दूरभाषितयन्त्र पर बातचीत करते समय की जा सकती है। यही कारण है कि स्वर ही स्वराघात एवं बलाघात वहन करते हैं, व्यञ्जन नहीं। इसी मुखरता के कारण-स्वर ध्वनियाँ आक्षरिक हैं तथा व्यञ्जन स्वर का अंग बनकर अक्षर की सीमा में आते हैं। ध्वनि-वैज्ञानिकों ने

---

१. व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि।—ऋ० प्रा० १।६ पर उवट

२. ननु कूपो यूप इत्यादौ व्यञ्जनमेवादौ अर्थविशेषबोधकमिति स्वरो व्यञ्जनाङ्गं किं न स्यात्; व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षम्, स्वरस्तु निरपेक्षः।—तै० प्रा० २।१।१ पर त्रि०

आलिसोग्राफ आदि यन्त्रों की सहायता से यह तथ्य ढूढ़ निकाला है कि स्वरों और प्रमुख व्यञ्जनों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों में होने वाले कम्पनों में न्यूनाधिक्य पाया जाता है। इस प्रकार एक भेद यह भी कहा जा सकता है कि सभी स्वर सघोष होते हैं परन्तु व्यञ्जनों में भी सभी सघोष न होकर कतिपय व्यञ्जन ही सघोष हैं, शेष अघोष। इन सघोष व्यञ्जनों की सघोषता भी स्वरों की सघोषता से अल्प ही होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वर और व्यञ्जन में प्रबलतम भेद उनकी सापेक्ष-निरपेक्षता का ही कहा जा सकता है। स्वरों का उच्चारण स्वतंत्र अर्थात् बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के हो जाता है, जबकि व्यञ्जन को उच्चरित होने के लिये स्वरों की सहायता नितान्त अपेक्षित है। स्वरों का उच्चारण वक्ता की इच्छानुसार पर्याप्त काल तक हो सकता है। स्वर अधिक मुखर होते हैं। सभी ध्वनि-वैज्ञानिकों ने स्वर और व्यञ्जन के मध्य भेद को स्वीकार किया है। ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से उपर्युक्त विभाजन अत्यन्त उपयोगी है।

स्वर-ध्वनियाँ

प्रातिशाख्यों में उपलब्ध स्वरों की अधिकतम संख्या २३ है, जो इस प्रकार है—

अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ॡ, ॡ३, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३।

इन स्वरों की स्वीकृत-संख्या के विषय में सभी प्रातिशाख्य एकमत नहीं हैं। ऋ० प्रा० प्लुत ईकार के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्वर के प्लुतरूप को स्वीकार नहीं करता है। ऌकार का दीर्घ रूप भी प्रातिशाख्यकार को किसी भी रूप में मान्य नहीं है। तै० प्रा० में समानाक्षरों के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत सभी रूपों को स्वीकार किया गया है। ऌकार के केवल ह्रस्व रूप को ही माना गया है। वा० प्रा० उपर्युक्त सभी स्वरों की सत्ता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार वाङ्मय में २३ स्वर एवं ४२ व्यञ्जन हैं। यही वर्णराशि सम्पूर्ण वाङ्मय का मूल है। ऋ० तं० किसी भी स्वर के प्लुत रूप को स्वीकार नहीं करता है। च० अ० भी वा० प्रा० में स्वीकृत स्वरों को स्वीकार करती है। इस प्रकार ऋ० प्रा० में स्वरों की संख्या १४, तै० प्रा० में १६, वा० प्रा० में २३, ऋक्तन्त्र में १४ तथा च० अ० में भी २३ है।

स्वरों के अवान्तर भेद

प्रातिशाख्यों एवं अन्य प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में स्वर-ध्वनियों को मुख्यतः दो वर्गों में रखा गया है—(१) समानाक्षर या मूलस्वर (Monopthong) और (२) सन्ध्यक्षर (Dipthong)।

समानाक्षर—समानाक्षर का अर्थ है, समान अक्षर—समान रूप से उच्चरित होने वाले अक्षर। अर्थात् इनके उच्चारण में उच्चारणांगों की स्थिति आद्यन्त एक जैसी ही रहती है। इनके उच्चारण में ऐसा नहीं होता कि करण (सक्रिय उच्चारणावयव) को उच्चारण-काल में ही अपनी स्थिति में परिवर्तन करना पड़े। इनके उच्चारण में सर्वांश में एक ही प्रकार की ध्वनि श्रुतिगोचर होती है। समानाक्षर संज्ञक स्वर-ध्वनियों को चाहे जितनी लम्बी अवधि तक उच्चरित करें उच्चारणावयवों की स्थिति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन आना असम्भव है। तै० प्रा० १।२ पर वैदिकाभरण में यह स्पष्ट कहा गया है कि दो स्वरों की संधि से उत्पन्न न होने के कारण ही ये स्वर समानाक्षर कहे जाते हैं।[1] आधुनिक युग के प्रख्यात भाषा-वैज्ञानिक प्रो० डेनियल जोन्स भी उपर्युक्त कारणों से ही इनको समानाक्षर कहते हैं। उन्होंने समानाक्षर ध्वनियों को (Pure vowel) मूल-स्वर कहा है।[2]

प्रातिशाख्यों के अनुसार निम्नलिखित-स्वर समानाक्षर संज्ञक कहे जा सकते हैं—

अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ॡ, एवं ॡ३।

इन स्वरों में ऋवर्ण तथा ऌवर्ण के समानाक्षरत्व के सम्बन्ध में मत-भेद प्राप्त होता है तथा प्रत्येक प्रातिशाख्य अपनी संहिताओं में प्राप्त होने वाले स्वरों के प्लुत रूपों में से आवश्यकतानुसार कुछ प्लुत स्वरों को समानाक्षर माना है कुछ को नहीं माना है। ऋ० प्रा० की वर्णमाला में स्वरों के प्लुत रूपों में केवल ईकार के प्लुत रूप को स्वीकार किया गया है परन्तु इसके समानाक्षरत्व के विषय में सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ही मौन हैं। तै० प्रा० में नौ वर्णों को समानाक्षर माना गया है जिनमें अकार, इकार एवं उकार के ह्रस्व, दीर्घ एवं

---

१. एकारादयः स्वराः……। तदभावस्तु समानरूपाः अकारादय इतरे स्वराः समानाक्षराणीति।—तै० प्रा० १।२ वै०

२. द्रष्टव्य—An out line of English Phonetics, page 62

प्लुत रूप ही स्वीकृत हैं ।[1] इसके अतिरिक्त ऋवर्ण एवं लृवर्ण को समानाक्षर नहीं माना गया है । वा० प्रा० १।४४ में समानाक्षर के लिए 'सिम्' संज्ञा का प्रयोग किया गया है तथा वर्ण-समाम्नाय के आदि में स्थित आठ स्वरों की 'सिम्' संज्ञा स्वीकार की गई है ।[2] ऋ० तं० १।२ में दस वर्णों को समान (समानाक्षर) कहा गया है । इसके अनुसार ऋकार और लृकार भी अपने दीर्घ रूपों सहित समानाक्षर हैं ।[3]

अब प्रसंगवश कतिपय वर्णों के समानाक्षरत्व के विषय में विशेष विचार किया जा रहा है—

ऋवर्ण और लृवर्ण का समानाक्षरत्व—यह पहले ही कहा जा चुका है कि समानाक्षर संज्ञक वर्णों का उच्चारण सर्वांश में समान रूप से होता है। इस दृष्टिकोण से ऋवर्ण और लृवर्ण को समानाक्षर मानना संगत नहीं प्रतीत होता हैं । सभी प्रातिशाख्य यह स्वीकार करते हैं कि इन वर्णों में क्रमशः रेफ और लकार का संश्लेष है, अतः इनका उच्चारण सर्वांश में समानरूप से नहीं हो सकता । वा० प्रा० ४।१४८ के अनुसार ऋवर्ण तथा लृवर्ण में यद्यपि रेफ और लकार का संश्लेष तो है अर्थात् ऋवर्ण में रेफ एवं लृवर्ण में लकार स्वर-ध्वनियों के मध्य संश्लिष्ट हैं परन्तु इन वर्णों में एकवर्णता है ।[4] संश्लेष की स्थिति दो प्रकार की हो सकती है—तिलतण्डुलवत् एवं दुग्धजलवत् । सूत्रकार के अनुसार इनका संश्लेष दुग्धजलवत् ही है । तभी तो उनमें एकवर्णता होती है । इस दृष्टि से यदि इन वर्णों को समानाक्षर कहा जाय तो अनुचित नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि सभी सन्ध्यक्षर दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न कहे गये हैं परन्तु ऋवर्ण एवं लृवर्ण दो स्वरों की संधि से निष्पन्न नहीं हैं । अतः इन्हें समानाक्षर कहा जा सकता है । इस संदर्भ में एक प्रबल तर्क यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि कोई भी आचार्य अपने सूत्रों के स्पष्टीकरण तथा अपने विवेच्य-माण लक्ष्य की पूर्ति के लिये वर्णों का नामकरण करता है । अतः किसी भी वर्ण को विशेष संज्ञा प्रदान करने का प्रयोजन है कि ऐसा करने से आचार्य को उनके सूत्रों के निर्माण में अधिक सुविधा हुई है । तात्पर्य यह है कि किसी भी संज्ञा का अपना

---

१. नवादितः समानाक्षराणि ।—तै० प्रा० १।२

२. सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम् ।—वा० प्रा० १।४४

३. अ इति आ इति इ इति ई इति उ इति ऊ इति ऋ इति ॠ इति लृ इति ॡ इति समानानि ।—ऋ० तं० १।२

४. ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ ।—वा० प्रा० ४।१४८

प्रयोजन है। उस प्रयोजन-विशेष की सिद्धि में जो वर्ण सहायक होते हैं, उनको ही वह विशेष संज्ञा प्रदान की गई है। उदाहरणार्थ तै० प्रा० १।२ एवं ऋ० प्रा० १।१ के भाष्यों में भाष्यकारों द्वारा समानाक्षर संज्ञा का प्रयोजन सवर्णदीर्घत्व को ही बतलाया गया हैं।[1] फलस्वरूप जितने भी वर्ण सवर्ण दीर्घत्व में उपयोगी सिद्ध हुए हैं, उन्हें समानाक्षर संज्ञा प्रदान की गई है। वा० प्रा० में 'सिम्' संज्ञा के क्षेत्र के अन्तर्गत केवल आठ वर्णों को ही स्वीकार करने का कारण भी प्रयोजन का अभाव बतलाया गया है।[2]

प्लुत स्वरों का समानाक्षरत्व—इस स्थल पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब प्लुत स्वरों को भी तै० प्रा० में समानाक्षर माना गया है—तो इसका कारण क्या हो सकता है? प्लुत स्वरों की तो किसी भी स्वर के साथ संधि होती नहीं। क्योंकि स्वयं सूत्रकार ने १०।२४ में प्लुत और प्रगृह्य स्वरों की संधि का निषेध किया है।[3] वास्तव में इसका कारण स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः इसी के समाधान के लिये त्रि० र० कार ने 'शिक्षादिशास्त्रप्रसिद्ध्यनुरोधाय' यह वाक्यांश लिखा है।[4] इसके अनुसार शिक्षादि शास्त्रों में इन्हें समानाक्षर माना गया है। अतः यहाँ भी इन्हें समानाक्षर स्वीकार कर लिया गया है।

सन्ध्यक्षर—संध्यक्षर शब्द का अर्थ है—वे वर्ण जो संधि के कारण उत्पन्न हुए हों। अर्थात् दो स्वर वर्णों की संधि के फलस्वरूप ही जिनकी निष्पत्ति सम्भव है उन्हें संध्यक्षर कहा जाता है। ऋ० प्रा० १।२ के उवट-भाष्य में स्पष्ट कहा गया है कि अकार की इकार, उकार, एकार तथा ओकार के साथ संधि से जिन स्वरों की निष्पत्ति होती है, उन्हें संध्यक्षर कहते हैं।[5] संध्यक्षर संज्ञक स्वरों के उच्चारण के प्रसंग में विशद् विवेचन उच्चारण-प्रकरण में किया जायेगा।

प्रातिशाख्यों के आधार पर निम्नलिखित स्वर संध्यक्षर कहे जा सकते हैं—ए, ओ, ऐ, औ तथा इनके प्लुत रूप (ए३, ओ३, ऐ३, औ३)।

---

१. द्रष्टव्य—तै० प्रा० १।२ पर भाष्य, ऋ० प्रा० १।१ पर उवट

२. वर्णसमाम्नाये त्रिमात्रा अपि वक्ष्यन्ते। इह सन्धौ तु तेषां ग्रहणं न सम्भवति प्रयोजनाभावात्।—वा० प्रा० १।४४ पर उवट

३. न प्लुतप्रग्रहौ।—तै० प्रा० १०।२४

४. ननु ईदृशी महती संज्ञा किमर्था शिक्षादिशास्त्रप्रसिध्यनुरोधायेति ब्रूमः। —तै० प्रा० १।२ पर त्रि० र०

५. अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह संधौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते।—ऋ० प्रा० १।२ पर उवट भाष्य

यद्यपि इन वर्णों की संख्या के विषय में प्रातिशाख्यों में परस्पर वैमत्य है, तथापि जैसा कि ऊपर कहा ही जा चुका है कि प्रत्येक ग्रन्थकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही वर्णों की विशिष्ट संज्ञाओं का विधान किया है।

व्यञ्जन

प्रातिशाख्यों में स्वीकृत व्यञ्जन निम्नलिखित हैं।

क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; श, ष, स, ह; अः = (विसर्जनीय) ‿क, ‿ख = (जिह्वामूलीय) ‿प, ‿फ = (उपध्मानीय) अं, आं = (अनुस्वार), हुँ = (नासिक्य) कुँ, खुँ, गुँ, घुँ, = (चार यम), ळ, ळ्ह = (उत्क्षिप्त मूर्धन्य), स्वर-भक्ति।

उपर्युक्त व्यञ्जनों में 'क' से 'म' तक स्पर्श; य, र, ल, व अन्तस्थ; श, ष, स, ह ऊष्मवर्ण तथा विसर्जनीय को सभी प्रातिशाख्य एक मत से स्वीकार करते हैं। अन्य वर्णों के विषय में किञ्चित् मतभेद प्राप्त होता है, जिनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

व्यञ्जनों के अवान्तर भेद

प्रातिशाख्यों के आधार पर व्यञ्जन ध्वनियों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—(१) स्पर्श (२) अन्तस्थ (३) ऊष्म और (४) अयोगवाह।

१—स्पर्श—'क' से लेकर 'म' तक पच्चीस वर्णों को सभी प्रातिशाख्य स्पर्श वर्ण स्वीकार करते हैं। इनकी संख्या एवं स्वरूप के विषय में सभी प्रातिशाख्य एकमत हैं।

इन वर्णों को स्पर्श कहने का एक मात्र कारण यही है कि इनके उच्चारण में सक्रिय उच्चारणावयव (करण), निष्क्रिय उच्चारणावयव (स्थान) का पूर्णरूपेण स्पर्श कर लेता है। जिसके परिणामस्वरूप वायु को कुछ समय के लिये मुख-विवर में रुकना पड़ता है। इसीलिए अंग्रेजी में इन्हें (Stops) कहते हैं। वायु के अवरोध के पश्चात् स्फोटन होने से इन ध्वनियों को कुछ ध्वनि-वैज्ञानिक Plosive भी कहते हैं। स्पर्श व्यञ्जन निम्नलिखित हैं—

क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म।

स्पर्श वर्णों का वर्गीकरण—प्रातिशाख्यकारों ने स्पर्श वर्णों को ५ वर्गों में रखा है; यह विभाजन उच्चारण-स्थान के आधार पर किया गया है। एक ही

स्थान पर उच्चरित होने वाले वर्ण एक वर्ग में रखे गये हैं। इस प्रकार स्पर्शवर्णों को क्रमशः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग एवं पवर्ग में रखा गया है। कवर्ग = क, ख, ग, घ, ङ। चवर्ग = च, छ, ज, झ, ञ। टवर्ग = ट, ठ, ड, ढ, ण। तवर्ग = त, थ, द, ध, न। पवर्ग = प, फ, ब, भ, म। इन वर्गों में भी प्रत्येक वर्ण के विषय में संख्या का अभिधान होता है। वर्गस्थ सभी प्रथम व्यञ्जन को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय, तृतीय को तृतीय चतुर्थ को चतुर्थ एवं पञ्चम को पञ्चम अथवा उत्तम स्पर्श कहा जाता है। इन स्पर्श वर्णों को संख्या के अनुसार इस प्रकार रखा जा सकता है—

प्रथम—क, च, ट, त, प

द्वितीय—ख, छ, ठ, थ, फ

तृतीय—ग, ज, ड, द, ब

चतुर्थ—घ, झ, ढ, ध, भ

पञ्चम अथवा उत्तम—ङ, ञ, ण, न, म

२—**अन्तस्थ**—अन्तस्थ वर्णों के सम्बन्ध में भी सभी प्रातिशाख्य एकमत हैं। अन्तस्थ उन व्यञ्जनों को कहा जाता है जिनकी स्थिति स्वर और व्यञ्जन के मध्य मानी जाती है। अर्थात् ये वर्ण न तो स्पर्श वर्णों की भांति पूर्णतः स्वराश्रित होकर ही उच्चरित होते हैं और न तो स्वर वर्णों की भाँति स्वतंत्र उच्चरित होते हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा न तो स्पर्श व्यञ्जनों की भांति उच्चारण-स्थान को पूर्णतः स्पर्श करती है तथा न ही स्वरों की भांति मुख-विवर को पूर्णतः उन्मुक्त ही रखती है। प्रातिशाख्यों के भाष्यकारों ने अन्तस्थ शब्द की कई प्रकार से परिभाषा दी है। उन्हें अनावश्यक समझ कर प्रस्तुत स्थल पर विवेचन का विषय नहीं बनाया जा रहा है। प्रातिशाख्यों के आधार पर य, र, ल, व ये चार वर्ण अन्तस्थ हैं। वैयाकरणों ने इन अन्तस्थ वर्णों में य, ल, एवं व के अनुनासिक और निरनुनासिक दो भेद स्वीकार किया है। ऋ० प्रा० १।९, तै० प्रा० १।८, वा० प्रा० ८।१४, १५ एवं ऋ० तं० १।२ में य, र, ल, व को ही अन्तस्थ कहा गया है।[1]

३—**ऊष्म-वर्ण** (Breath Sounds)—ऊष्मवर्णों के उच्चारण में अन्य वर्णों से यही विशेषता रहती है, कि ये वर्ण वायु-प्रधान होते हैं। अर्थात् इन वर्णों के

---

१. चतस्रोऽन्तस्थास्ततः—ऋ० प्रा० १।९, पराश्चतस्रोऽन्तस्थाः—तै० प्रा० १।८, अथान्तस्था-यिति, रिति, लिति, विति।—वा० प्रा० ८।१४-१५, यिति रिति लिति वित्यन्तस्थाः।—ऋ० तं० १।२

उच्चारण के समय वायु-वेग की तीव्रता होती है। वायु को दो उच्चारणावयवों के मध्य से घर्षण करते हुए निकलना पड़ता है। स्वर-तन्त्रियों द्वारा प्रथम विकार को प्राप्त वायु जब मुखविवर में आती है तब मुखविवर में उसके प्रवाह में स्पर्श वर्णों की भाँति पूर्णतः अवरोध नहीं उत्पन्न किया जाता अर्थात् मुखविवर पूर्णतः अवरुद्ध न होकर थोड़ा-सा खुला रहता है, जिससे घर्षण करती हुई वायु बाहर निकल जाती है। इसीलिए इस वर्ग की ध्वनियों को संघर्षी ध्वनि भी कहते हैं। इस वर्ग की ध्वनियों को (Hissing Sound) भी कहते हैं।[1]

ऊष्म वर्णों की संख्या के विषय में सभी प्रातिशाख्य एकमत नहीं हैं। ऋ० प्रा० १।१० के अनुसार अन्तस्था संज्ञक व्यञ्जनों से बाद में पठित आठ वर्ण ऊष्म कहे जाते हैं।[2] भाष्यकार उवट के अनुसार आठ वर्ण ये हैं—ह, श, स, ष, अः, ‿क, ‿प और अनुस्वार। तै० प्रा० १।६ में ‿क, श, ष, स, ‿प तथा 'ह' वर्णों को ऊष्म संज्ञा प्रदान की गई है।[3] वा० प्रा० ८।१६, १७ में श, ष, स, ह इन चार वर्णों को ही ऊष्म संज्ञक माना गया है।[4] ऋ० तं० १।२ में भी इन्हीं चार वर्णों को ऊष्म कहा गया है। च० अ० १।३१ के भाष्य में भाष्यकार ने श, स, ष, ह, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय इन सात वर्णों को ऊष्म संज्ञक स्वीकार किया है।[5]

ऋ० प्रा०, तै० प्रा० एवं च० अ० ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय को भी स्वीकार करते हैं। ऋ० प्रा० एवं च० अ० में विसर्जनीय को भी ऊष्म कहा गया है परन्तु तै० प्रा० इसे ऊष्म वर्ण नहीं मानता। ऋ० प्रा० ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो अनुस्वार की गणना भी ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत करता है, जबकि अन्य किसी भी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ में अनुस्वार को ऊष्म वर्ण स्वीकार नहीं किया गया है। विसर्जनीय, उपध्मानीय एवं जिह्वामूलीय वर्णों के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि इनके उच्चारण में भी वायु-वेग की अधिकता रहती है, जिससे इन्हें वायु-प्रधान वर्ण माना जा सकता है तथा इन सभी वर्णों के उच्चारण में भी वायु का अवरोध नहीं हो पाता इसलिये भी इन्हें ऊष्म वर्ण कहना

---

१. ऊष्मा वायुः तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः।—ऋ० प्रा० १।१० पर उवट

२. उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः।—ऋ० प्रा० १।१०

३. परे षडूष्माणः।—तै० प्रा० १।६

४. अथोष्माणः। शिति, षिति, सिति, हिति।—वा० प्रा० ८।१६, १७

५. द्रष्टव्य—च० अ० १।३१ पर ह्विट्नीकृत अंग्रेजी व्याख्या

उचित ही है। ऋ० प्रा० का यह मत कि अनुस्वार भी ऊष्म वर्ण है—अत्यधिक विचार का विषय है। एक ओर ऋ० प्रा० अनुस्वार को स्वर और व्यञ्जन दोनों से अतिरिक्त किन्तु दोनों के गुणों से युक्त ध्वनि स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर इसकी गणना आठ ऊष्म वर्णों में करता है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि सम्भवतः ऋ० प्रा० को रचना के समय अनुस्वार का उच्चारण इस प्रकार से होता रहा होगा; जो ऊष्म ध्वनियों से किसी सीमा तक साम्य रखता रहा होगा।

प्रातिशाख्यों में स्वीकृत ऊष्म वर्णों को अधोलिखित रेखा-चित्र द्वारा सरलता से समझा जा सकता है—

ऋ० प्रा०	तै० प्रा०	वा० प्रा०	च० अ०	ऋ० तं०
ह, श, ष, स	‿क (जिह्वा०)	श, ष, स,	अः (विसर्ज०)	ह, श,
अः = (विसर्जनीय)	श, ष, स	ह = ४	‿क (जि०)	ष, स
‿क (जिह्वामू०)	‿प (उपध्मा०)		‿प (उप०)	= ४
‿प (उपध्मानीय)	ह = ६		श, ष, स	
अं (अनुस्वार)			ह = ७	
= ८				

४—अयोगवाह—व्यञ्जनों का चतुर्थ विभाग 'अयोगवाह' के रूप में किया जा सकता है। यद्यपि वा० प्रा० एवं ऋ० तं० के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में इस शब्द का प्रयोग नहीं प्राप्त होता। ऋ० तं० में अयोगवाह तथा योगवाह दोनों शब्द प्राप्त होते हैं। पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में अयोगवाह शब्द के ऊपर पर्याप्त विचार किया है। वास्तव में वे ध्वनियाँ जिनका उच्चारण बिना पूर्ववर्ती स्वर के कथमपि नहीं हो सकता, अयोगवाह कही गयी हैं। अयोगवाह के नामकरण की सार्थकता पर विद्वानों ने प्रर्याप्त विचार किया है। अतः पिष्ट-पेषण के भय से उन सभी व्याख्याओं पर पुनः विचार नहीं किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में तो मेरा अपना इतना ही विचार है कि ये वर्ण न तो उच्चारण में बिना

पूर्ववर्ती स्वर के उच्चरित ही हो सकते हैं तथा न तो लेखन-प्रक्रिया में ही पूर्ववर्ती स्वर के बिना लिखे ही जा सकते हैं। किसी स्वर के साथ योग प्राप्त करके ही ये अपना निर्वाह करते हैं। बिना योग के इनका निर्वाह (उच्चारण अथवा लेखन) सम्भव नहीं है। अतः ये अयोगवाह कहे जाते हैं।

वा० प्रा० ८।१९-२४ तक के सूत्रों में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य और यमों को अयोगवाह कहा गया है।[1] ऋ० तं० १।२ में भी इन्हीं ध्वनियों के लिए अयोगवाह शब्द प्रयुक्त है।

निष्कर्ष

इस वर्णसमाम्नाय में उन सभी ध्वनियों को वर्ण की संज्ञा दी गई है, जिनका उल्लेख किसी-न-किसी रूप में सूत्रकारों अथवा भाष्यकारों ने किया है। उदाहरणार्थ—तै० प्रा० १।१ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने ही स्वरभक्ति को स्वतंत्र वर्ण स्वीकार किया है। अन्य किसी भी ग्रन्थ में स्वरभक्ति को वर्ण की संज्ञा नहीं प्राप्त है। यम की संख्या के विषय में भाष्यकारों में वैमत्य है, परन्तु सूत्रकारों ने उनकी संख्या चार ही स्वीकार की है। अतः यहाँ भी सूत्रकारों का ही अनुसरण किया गया है। अधिकतर विद्वानों में यह धारणा दृढ़ हो गई है कि वस्तुतः वर्ण-समाम्नाय में केवल उन्हीं ध्वनियों को स्थान मिलना चाहिए, जिनका लिखित आकार निश्चित है। इसी बात को दृष्टि में रखकर मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने केवल 'बावन' वर्णों को संस्कृत वर्णमाला में स्थान दिया है, अन्य वर्णों को नहीं। वर्णों का विभाजन प्रातिशाख्यों के विद्वानों के आधार पर किया गया है। पारिभाषिक शब्दों पर विचार अन्य ग्रन्थों में पर्याप्त रूप में हो चुका है। अतः उनसे सम्बन्धित नवीन बातें ही यहाँ पर विशेषतः उल्लिखित हैं। प्रातिशाख्यों में वा० प्रा० वर्णसमाम्नाय की दृष्टि से सर्वाधिक पूर्ण कहा जा सकता है। यद्यपि वा० प्रा० में उन सभी ध्वनियों को वर्णमाला में स्थान दे दिया गया है जो लोक और वेद सभी में उपलब्ध होती हैं। सूत्रकार ने स्वयं कहा है कि लोक में जो कुछ भी बोला जाता है वह सभी यहाँ—इस प्रतिशाख्य में प्रतिष्ठित हैं।[2]



---

१. अथायोगवाहाः।—वा० प्रा० ८।१८
ᳵक इति जिह्वामूलीयः। ᳶप इत्युपध्मानीयः। अं इत्यनुस्वारः, अः इति विसर्जनीयः, हुँ इति नासिक्यः। कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इति यमाः।—वा० प्रा० ८।१९-२४

२. यत्किञ्चिद् वाङ्मयं लोके सर्वमत्रप्रतिष्ठितम्।—वा० प्रा० ८।२६

द्वितीय अध्याय

वर्णोच्चारण

उच्चारणावयवों का संक्षिप्त परिचय

वर्णों के उच्चारण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले शरीरावयवों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर प्रस्तुत स्थल पर उच्चारणावयवों के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है—

१—फेफड़े (उरस्) (Lungs)—ये संख्या में दो होते हैं। इनका आकार थैले के समान होता है। शरीर में श्वास-प्रश्वास क्रिया निरन्तर चलती रहती है। नासिका द्वारा श्वास रूप में गृहीत वायु श्वास-नलिका द्वारा इसी स्थान (फेफड़े) में पहुँचती है, जिससे फेफड़े फूल जाते हैं पुनः उसी वायु को फेफड़े निःश्वास रूप में बाहर निकालते हैं। इस प्रकार इन फेफड़ों का ध्वनि-उत्पत्ति में यद्यपि प्रत्यक्ष योगदान तो नहीं कहा जा सकता परन्तु वायु को ऊपर फेंकने में ये ही प्रमुख कार्य करते हैं, इनकी स्थिति श्वास-नलिका के निचले सिरे पर होती है।

२—श्वास-नलिका (Windpipe)—यह फेफड़ों से जुड़ी हुई, मुख-विवर की तरफ आती हुई एक लम्बी नली है। श्वास-रूप में नासिका द्वारा गृहीत वायु इसी नलिका से होकर फेफड़े में जाती है तथा पुनः इसी नलिका से होती हुई बाहर निकलती है। यह नलिका एक के ऊपर एक रखे हुए उपस्थि के वृत्ताकार छल्लों के समान वस्तुओं से निर्मित है। वायु के फेफड़ों तक आने-जाने का एकमात्र यही मार्ग है। इसी के ऊपरी सिरे पर स्वर-यन्त्र स्थित होता है।

३—स्वर-यन्त्र (Larynx)—श्वास-नलिका के ऊपरी सिरे पर स्वर-यन्त्र स्थित है। प्रौढ़ एवं दुबले व्यक्तियों के गर्दन में आगे की ओर उभड़ा हुआ जो प्रदेश दिखाई पड़ता है वहीं पर स्वर-यन्त्र स्थित रहता है। साधारण भाषा में इसे 'कण्ठ' कहा जाता है। 'उस्कार रसेल' ने इसे मानवीय ध्वनि का प्रसारण केन्द्र

कहा है।[1] यही वह प्रथम स्थान है जहाँ वायु को विकृत करके उसे ध्वनि का रूप प्रदान किया जाता है। वायु को श्वास और नाद का रूप इसी यन्त्र द्वारा प्रदान किया जाता है। ये ही—श्वास और नाद ध्वनियों के मूलकारण अर्थात् प्रकृति कहे गये हैं। अंग्रेजी में इस यन्त्र को 'आदम्स ऐप्ल' कहा जाता है, ईसाई जनश्रुति के अनुसार आदम ने ज्ञानवृक्ष के फल को खा लिया था जो कि यहीं अर्थात् गर्दन में अटक गया था। वही गले में उभड़ा प्रदेश दिखलाई पड़ता है। इसी में आगे तथा पीछे की ओर विस्तृत परदे के समान दो झिल्लियाँ होती हैं, जिन्हें स्वर-तंत्रियाँ कहा जाता है। इनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

४—**स्वर-तंत्रियाँ** (Vocal Cords)—श्वास-नलिका के ऊपरी सिरे पर स्थित स्वर-यन्त्र में असंख्य पतले तन्तुओं से निर्मित दो लचीले परदे होते हैं। इनकी स्थिति रंगमञ्च के परदे की भाँति है। जिस प्रकार रंगमञ्च के दोनों परदे दो ओर खुलते हैं तथा बन्द करने पर वे परस्पर समीप आ जाते हैं, उसी प्रकार ये स्वर-तन्त्रियों से निर्मित परदे परस्पर विपरीत दिशा में खुलते हैं तथा बन्द करने पर परस्पर इतने समीप आ जाते हैं कि उनके बीच में अवकाश अत्यल्प होता है। ये परदे श्वास-नलिका के ढक्कन का कार्य करते हैं। इनमें स्थित तंत्रियाँ परदों के परस्पर दूर रहने की अवस्था में तो सिकुड़ी हुई रहती हैं परन्तु जब दोनों परदे परस्पर समीप होते हैं तब उस अवस्था में इन तंत्रियों में तनाव हो जाता है। पुरुष-प्रयत्न के अनुसार ये परदे फैलकर परस्पर समीप में आ जाते हैं। परिणाम-स्वरूप उनके बीच का अवकाश अत्यल्प हो जाता है। फलतः वायु-मार्ग सकरा हो जाने से फेफड़े से निकलती हुई वायु के आघात से इन तंत्रियों में कम्पन होने लगता है। इस कम्पन से ही वायु 'नाद' हो जाती है। जब कम्पन नहीं होता तो वायु 'श्वास' कही जाती है। स्वर-तंत्रियों के विविध कार्यों का विशद वर्णन नीचे किया जा रहा है—

स्वर-तंत्रियों की अवस्थायें—भाषा-वैज्ञानिकों ने स्वर-तंत्रियों की कई अवस्थाओं की कल्पना की है, परन्तु प्रस्तुत स्थल पर कतिपय प्रमुख अवस्थाओं का ही निरूपण किया जा रहा है—

(क) **प्रथम अवस्था**—इस अवस्था में दोनों परदे परस्पर अत्यधिक दूर रहते हैं तथा स्वर-तंत्रियाँ ढीली रहती हैं। इस स्थिति में काकल या स्वर-यन्त्र-मुख एक पञ्चभुजाकार तथा बहुत अधिक चौड़ा हो जाता है। स्वर-तंत्रियों की यह अवस्था श्वास लेने के समय होती है। इस श्वास से वायु में किसी भी प्रकार का विकार

---

१. द्रष्टव्य—'ध्वनि-विज्ञान', ले० गोलोक बिहारी धल, पृ० ५८

नहीं हो पाता, जिससे ध्वनि उत्पन्न हो सके। स्वर-तंत्रियों की इस अवस्था का उपयोग ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र से बाहर का विषय है।

(ख) द्वितीय अवस्था—दूसरी अवस्था में दोनों परदे परस्पर दूर न होकर अत्यधिक समीप हो जाते हैं। स्वर-तंत्रियों में तनाव हो जाता है। परन्तु वायुमार्ग पूर्णतः बन्द नहीं होता। इस अवस्था में वायु संकीर्ण मार्ग से बाहर निकलती है। वायु के घर्षण से स्वर-तंत्रियों में कम्पन होता है। कम्पन से एक प्रकार का झंकार होता है जिसके फलस्वरूप ध्वनि सघोष हो जाती है। वस्तुतः जब वायु स्वर-तंत्रियों की इस अवस्था से गुजरती है तो स्वर-तंत्रियों में उत्पन्न झंकृति वायु में सम्मिश्रित हो जाती है, जिससे वायु का वह रूप अब नहीं रह जाता है जो स्वर-तंत्रियों तक आने के पूर्व था। उसमें विकार हो जाता है। यही विकार प्रातिशाख्यों में 'नाद' कहा गया है। मनुष्यों की स्वर-तंत्रियों में होने वाले कम्पनों को आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से परिगणित कर डाला है। इस प्रकार यह तथ्य प्रकाश में आता है कि सामान्य-अवस्था में पुरुषों की स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति १०९ से १६३ साइकिल प्रति सेकेण्ड तथा स्त्रियों की स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति २१८ से ३२६ साइकिल प्रति सेकेण्ड होती है। संगीतज्ञ, अच्छे वक्ता और अभिनेता में भावावेश के अनुसार इनका कम्पन सामान्य-कम्पन-संख्या से बहुत अधिक देखा जाता है। १९ मई सन् १९५३ को वाशिंगटन में चर्चिल का भाषण हुआ था। रेकार्ड के विश्लेषण के अनुसार उनकी स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति ११५ से २३० साइकिल प्रति सेकेण्ड थी। ध्वनि-वैज्ञानिकों के अनुसार गले में उभड़े भाग पर हाथ रखने तथा कानों को बन्द करने से इस कम्पन का आभास होता है।

(ग) तृतीय अवस्था—स्वर-तंत्रियों की तीसरी अवस्था में स्वर-तंत्रियों के दोनों परदे परस्पर दूर रहते हैं। फलस्वरूप स्वर-तंत्रियों में पर्याप्त ढीलापन रहता है। फेफड़े से आवर्तित वायु को इस स्थिति में किसी भी प्रकार का घर्षण नहीं सहना पड़ता। फलस्वरूप वायु श्वास रूप में परिणत होकर आगे बढ़ती है। इस अवस्था तथा प्रथम अवस्था में यही भेद है कि प्रथम अवस्था में वायु बाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करती है, जबकि इस (तृतीय) अवस्था में वायु फेफड़े से आवर्तित होकर तथा वक्ता द्वारा अघोष ध्वनि उत्पन्न करने के लिये प्रेरित होकर बाहर आना चाहती है। प्रथम अवस्था में स्वर-तंत्रियों का झुकाव कुछ नीचे की ओर हो जाता है क्योंकि वायु ऊपर से नीचे की ओर जाती है तथा वायु चूंकि ध्वनि-उत्पादन के लिये प्रेरित नहीं की गई रहती, अतः वायु में किसी भी प्रकार का

विकार होना असम्भव है। इस तृतीय अवस्था में वायु अघोष ध्वनि की उत्पत्ति के लिये प्रेरित होती है अतः वह जब स्वर-तंत्रियों के बीच पहुँचती है तो उसमें कुछ विकार अवश्य होता है। यह विकार स्वर-तंत्रियों के ही माध्यम से सम्भव है। वास्तव में इस अवस्था में होता यह है कि जब वायु स्वर-यन्त्र के पास पहुँचती है तो पूर्व-प्रयत्न के अनुसार स्वर-तंत्रियों से उसका टकराव तो होता ही है भले ही वह टकराव अत्यल्प हो। यद्यपि इस अवस्था में स्वर-तंत्रियाँ अत्यन्त ढीली रहती हैं परन्तु वायु का कुछ टकराव अवश्य होता है। इस टकराव से वायु में वर्ण का रूप ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। अघोष और सघोष वर्णों की अघोषता एवं सघोषता की पहचान यह भी है कि सघोष वर्णों के उच्चारण में फेफड़े से चली हुई वायु क्षण भर के लिये स्वर-यन्त्र के समीप रुक कर तब आगे बढ़ती है, जबकि अघोष वर्णों के उच्चारण में वायु बिना किसी रुकावट के आगे बढ़ जाती है।

(घ) **चतुर्थ अवस्था**—स्वर-तन्त्रियों की चतुर्थ अवस्था में स्वर-तंत्रियों के परदे न तो परस्पर अत्यधिक दूर ही रहते हैं और न अत्यन्त समीप ही रहते हैं। परिणाम-स्वरूप स्वर-तंत्रियाँ भी न तो अत्यधिक तनी ही रहती हैं और न अत्यधिक ढीली ही रहती हैं। इस अवस्था में फेफड़े से आती हुई वायु द्वारा स्वर-तंत्रियों में कम्पन तो होता है, परन्तु वह कम्पन अत्यन्त मन्द होता है। इससे स्वर-तंत्रियों में तीव्र झंकार नहीं होता, फलतः वायु किञ्चित् घर्षण का सामना करती हुई बाहर निकल जाती है। वायु की इस अवस्था को मध्यम या श्वासनादात्मक अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में वायु न तो पूर्णतः 'श्वास' ही होती है और न शुद्ध 'नाद' ही कहलाती है।

स्वर-तंत्रियों की उपर्युक्त अवस्थाओं में प्रथम अवस्था का सम्बन्ध ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर है। द्वितीय एवं चतुर्थ अवस्थाओं को भी सभी प्रातिशाख्य स्वीकार करते हैं। तृतीय को भी प्रातिशाख्यों में तो स्वीकार किया गया है परन्तु कुछ विद्वान् इस अवस्था में निकलती हुई वायु को पूर्णतः विकारहीन समझते हैं। अर्थात् उनके मत में इस तृतीय अवस्था में स्वर-तंत्रियाँ पूर्णतः निष्क्रिय पड़ी रहती हैं। उनमें किसी प्रकार का विकार (कम्पन इत्यादि) नहीं होता है। फलतः वायु भी अविकृत ही रहती है। इस बिषय में मेरा अपना विचार है कि इस अवस्था में भी स्वर-तन्त्रियों में कुछ तो विकार होता ही है। यह अलग बात है कि वह विकार अत्यल्प होता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो इस स्थिति में निकली हुई वायु और श्वास रूप में अन्दर जाती हुई वायु में कोई विभेद नहीं रहेगा। स्वर-तन्त्रियों की उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्थितियाँ हो सकती

हैं। यद्यपि प्रातिशाख्य ग्रन्थों में स्वर-तन्त्रियों की तीन ही स्थितियाँ मान्य हैं परन्तु तै० प्रा० में वाणी के सात स्थान (प्रकार) बतलाये गये हैं। इन सातों स्थानों में ध्वनि (वाणी को उच्चरित करने के लिये अन्य स्थितियों की अनिवार्यता प्रतीत होती है।

५—**कृत्रिम स्वर-तन्त्रियाँ**—उपरि कथित स्वर-तन्त्रियों के ऊपर उन्हीं जैसी कृत्रिम स्वर-तन्त्रियाँ भी होती हैं। मुख्य स्वर-तन्त्रियों के दूर-दूर रहने पर भी कृत्रिम स्वर-तन्त्रियाँ जब समीपवर्ती होकर वायुमार्ग को विशेष संकीर्ण कर कर देती हैं तब एक प्रकार की फुसफुसाहट-युक्त ध्वनि निकलती है। इस प्रकार की ध्वनियों का उपयोग यज्ञ की दृष्टि से सराहनीय है।

६—**कण्ठ**—स्वर-तन्त्रियों के मध्य के अवकाश को प्रातिशाख्यों में 'कण्ठ' नाम से अभिहित किया गया है। तै० प्रा० में कण्ठ से तात्पर्य है—'स्वर-तन्त्रियों के दोनों परदों के मध्य का अवकाश'[1] अर्थात् श्वास-नलिका का छेद। प्राचीन शास्त्रों में कण्ठबिल, कण्ठगह्वर आदि नाम भी इसी कण्ठ के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। 'लघु शब्देन्दुशेखर' के रचयिता नागेश के अनुसार कण्ठ से तात्पर्य है कण्ठ स्थान एवं उसके समीप स्थित जिह्वामूल स्थान। अर्थात् वैयाकरणों ने कण्ठ से जिह्वामूल का भी ग्रहण किया है। चतुरध्यायिका के अनुसार कण्ठ के भी अधरकण्ठ इत्यादि विभाग हो सकते हैं।[2] चतुरध्यायिका में कण्ठ का ऊपरी भाग और कण्ठ का निचला भाग इत्यादि विभाग भी स्वीकार किये गये हैं।

७—**उपालिजिह्वा या गलबिल**—नासिका-रन्ध्र और जिह्वामूल के पीछे जो खाली स्थान है, उसे गल-बिल कहा जाता है। इसी स्थान से चार मार्ग स्पष्ट होते हैं—नासिका-विवर, मुख-विवर, भोजन-नलिका एवं श्वास-नलिका। इस प्रकार यह चौराहे का कार्य करता है। ध्वनियों के उत्पादन में इसका भी योगदान है। जिह्वा के पिछले भाग को पीछे हटाकर गलबिल को विभिन्न प्रकार से संकुचित करके ध्वनियों का स्वरूप-परिवर्तन किया जा सकता है। इसी स्थल से होकर स्वर यन्त्र द्वारा श्वास अथवा नाद रूप को प्राप्त हुई वायु वर्णों का रूप ग्रहण करने के लिये मुखविवर अथवा नासिका-विवर में जाती है।

८—**स्वरयन्त्रावरण**—गलबिल के समीप में ही स्थित तथा भोजन-नलिका एवं श्वास-नलिका की विभाजिका दीवाल से जुड़ा हुआ, पेड़ के पत्ते के समान उठा हुआ एक मांसल भाग है जिसे स्वरयन्त्रावरण कहा जाता है। यह भोजन करते समय श्वास-नलिका को ढक लेता है। जिससे भोजन श्वास-नलिका

---

१. संवृते कण्ठे नादः क्रियते।—तै० प्रा० २।४

२. कण्ठ्यानामधरकण्ठः।—च० अ० १।१९

में न जाकर भोजन-नलिका में चला जाता है। यद्यपि यह अंग ध्वनि-उत्पादन में प्रत्यक्ष योगदान तो नहीं करता परन्तु स्वरयन्त्र की रक्षा करने से परम्परया योगदान तो देता ही है। प्रसिद्ध ध्वनि-वैज्ञानिक 'हेफनर' के अनुसार कुछ स्वरों के उच्चारण में इसका योगदान भी रहता है।[1]

अलिजिह्वा या कौवा (UVULA)

गलबिल के ऊपरी भाग में जहाँ से मुख-विवर और नासिका विवर के रास्ते फूटते हैं, एक छोटा सा मांसपिण्ड लटकता रहता है। इसकी स्थिति मुख-विवर और नासिका-विवर के मध्य होती है। यही मांसपिण्ड कौवा कहलाता है। यह पुरुष-प्रयत्न के आधार पर ऊपर-नीचे होता रहता है। वास्तव में यह मांस-पिण्ड कोमलतालु से जुड़ा हुआ होता है। ध्वनिसृष्टि-प्रक्रिया में यह निम्नलिखित तीन अवस्थाओं में कार्य करता है—

(अ) प्रथम अवस्था—प्रथम अवस्था में यह बिल्कुल ढीला होकर नीचे की ओर लटकता रहता है। यह अवस्था तब होती है, जब 'श्वास' नासिका द्वारा लिया जा रहा हो तथा मुख-विवर बन्द हो। इस अवस्था में कौवा मुख-विवर और श्वास-नलिका के सम्बन्ध का विच्छेद कर देता है। जिसके फलस्वरूप वायु नासिका-विवर से ही आती-जाती है।

(आ) द्वितीय अवस्था—द्वितीय अवस्था में कौवा तनकर खड़ा हो जाता है। वायु नासिका-विवर से न निकल कर मुख-विवर द्वारा ही निकलती है। यह स्थिति तभी सम्भव है जब श्वास-प्रश्वास की क्रिया मुख द्वारा सम्पन्न हो रही हो। कौवे के तनकर खड़े हो जाने से नासिका-विवर और श्वास-नलिका के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। अर्थात् यह नासिका-विवर को बन्द कर लेता है और सारी वायु मुख-विवर में चली जाती है। जिससे स्पर्श ध्वनियाँ, अनुनासिक-अन्तस्थ ध्वनियाँ तथा अन्य सभी ध्वनियाँ जो अनुनासिक हैं, उच्चरित हो जाती हैं।

(इ) तृतीय अवस्था—कौवे की तीसरी अवस्था उसे कहते हैं जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को बन्द कर लेता है और न ही नीचे गिर कर मुख-विवर को बन्द करता है। वह मध्य में रहता है। फलस्वरूप कुछ वायु मुख-विवर से निकलती है और कुछ वायु नासिका-विवर से निकलती है। यह स्थिति तभी सम्भव है जब मुख-विवर और नासिका-विवर दोनों ही खुले हों। कौवे की इस तृतीय अवस्था में अनुनासिक ध्वनियों की सृष्टि सम्भव है।

---

१. द्रष्टव्य—General Phonetics, R. M. S. Heffner, 1947, Page 19

कौवे की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त कतिपय अन्य अवस्थायें भी हैं, जिनका उपयोग वैदिक ध्वनियों के उत्पादन में नहीं है। अतः प्रस्तुत स्थल पर उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

कौवे के एक ओर मुख-विवर तथा दूसरी ओर नासिका-विबर स्थित हैं। नासिका-विवर में कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिसका विवेचन नासिका-विवर के अतिरिक्त किसी अन्य नाम से किया जा सके। अतः अब मुख-विवर में स्थित अंगों का विवेचन किया जा रहा है—

तालु (Palat)—मुख-विवर का ऊपरी आवरण तालु कहलाता है। इसके ऊपर नासिका-विवर स्थित है। अर्थात् तालु ही वह अंग है जो मुख-विवर और नासिका-विवर को अलग-अलग रखने के लिये दीवाल का कार्य करता है। इसको मुख्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) कठोर तालु और (२) कोमल तालु।

१—कठोर तालु—यह भाग तालु का वह हिस्सा है जो बाहर की ओर स्थित है। अर्थात् ऊपर के ओष्ठ के समीप स्थित ऊपर के दांतों की जड़ से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण तालु के लगभग आधे भाग को कठोर तालु कहा जाता है। तालु का यह कठोर भाग है। यद्यपि इसके ऊपर मांसावरण है तथापि हड्डी से निर्मित होने के कारण यह स्पर्श में कठिन मालूम पड़ता है। मुखछत में हाथ से स्पर्श करने पर जहां तक कठोरता मालूम पड़ती है, वहीं इसका अन्त समझना चाहिए। वाग्यन्त्र का यह एक स्थिर अंग है। इसके कई विभाग किये गये हैं। जिनका विवेचन नीचे किया जा रहा है—

(क) वर्त्स—ऊपर की दन्तपंक्ति में सामने की ओर स्थित दांतों के मूल के पीछे उभड़े हुए प्रदेश को 'वर्त्स' कहा गया है। ऋ० प्रा० १।४६ पर भाष्य में उवट ने स्पष्ट कहा है कि वर्त्स शब्द के द्वारा दन्तमूल से ऊपर वाला उठा हुआ प्रदेश कहा जाता है।[1] तै० प्रा० २।१८ पर त्रिभाष्यरत्न में भी यही तथ्य स्वीकार किया गया है।[2] इसी सूत्र पर वै० आ० में रेफ और टवर्ग के स्थानों के मध्यवर्ती प्रदेश को वर्त्स कहा गया है।[3] माध्यन्दिन-संहिता २५।१ के भाष्य में आचार्य

---

१. वर्त्सशब्देन दन्तमूलादुपरिष्टादुच्छूनः प्रदेश उच्यते।—ऋ० प्रा० १।४६ पर उवट

२. वर्त्स्वेष्विति दन्तपंक्तेरुपरिष्टादुच्चप्रदेशेष्वित्यर्थः।—तै० प्रा० २।१८ पर त्रिभाष्यरत्न

३. वर्त्सं नाम रेफटवर्गस्थानयोर्मध्यप्रदेशः।—तै० प्रा० २।१८ पर वैदिकाभरण

महीधर ने वर्स्व का अर्थ दन्तपीठ किया है अर्थात् दाँतों के पीछे का उभरा भाग ही वर्स्व कहा गया है। इन सभी उद्धरणों का निष्कर्ष यही है कि ऊपर वाली दन्तपंक्ति में सामने की ओर स्थित-दाँतों के पीछे ही वर्स्व स्थित है। ध्वनि की उत्पत्ति में इसका योगदान यह है कि जिह्वा द्वारा इसका स्पर्श करके कतिपय ध्वनियों की सृष्टि होती है। यह विभाग स्वयं गतिशील नहीं है। कतिपय ग्रन्थों में इसके लिए 'वर्त्स' संज्ञा का प्रयोग भी प्राप्त होता है।

(ख) मूर्धा—कठोरतालु के विभागों में सबसे ऊपरी भाग अर्थात् मुखछत का सबसे ऊपरी भाग मूर्धा कहा जाता है। मूर्धा का शाब्दिक अर्थ 'सिर' किया गया है। जिह्वा की पहुँच के अन्तर्गत मुख-विवर का सबसे उच्च भाग मूर्धा ही है। तै० प्रा० २।३७ पर त्रि० र० में मूर्धा का अर्थ मुखविवर का 'उपरिभाग' किया गया है।[1] इसी सूत्र पर वैदिकाभरणकार ने मूर्धा का अर्थ 'शिर' किया है। वस्तुतः सिर से किसी वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती, अतः इसका लाक्षणिक अर्थ मुखछत का सर्वोपरिभाग ही है। मूर्धा के एक तरफ कठोर तालु एवं दूसरी तरफ कोमल तालु स्थित रहता है।

विशेष—कठोर तालु का ही एक विभाग वह भी है, जहाँ पर सभी तालव्य ध्वनियों की सृष्टि होती है। यह विभाग मूर्धा और वर्त्स के बीच का कठोर भाग है। प्रातिशाख्यों में इसी स्थान को 'तालु' कहा गया है। कठोर तालु के विभागों में सबसे कठोर भाग यही है। इसलिये कतिपय ध्वनि-वैज्ञानिक इसी भाग को 'कठोर तालु' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

२—कोमल तालु—मूर्धा के पीछे की ओर स्थित, तालु (मुखछत) का कोमलभाग 'कोमलतालु' कहलाता है। मूर्धा से लेकर मुखछत का सम्पूर्ण पिछला भाग इसी नाम से कहा जाता है। 'कौवा' भी इसी से संयुक्त होकर लटकता रहता है। मुखछत का सबसे कोमल भाग यही है। अंगूठे द्वारा छूने से इसकी कोमलता का अनुभव किया जा सकता है। यह ऊपर-नीचे होता है। यदि श्वास मुख से लेकर नासिका द्वारा बाहर निकाली जाय तो वायु अन्दर की ओर लेते समय कोमलतालु ऊपर उठता है तथा वायु को बाहर निकालते समय नीचे झुक जाता है। नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में भी कोमल-तालु नीचे झुक जाता है। जिससे वायु नासिका-विवर से निकल जाती है। कोमल-तालु की स्थिति के अनुसार ही स्वर-ध्वनियाँ अनुनासिक एवं निरनुनासिक हो जाती हैं। अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण के समय यह नीचे झुककर वायु को नासिका-विवर से निकलने के लिये बाध्य कर

---

१. मूर्धशब्देन वक्त्रविवरोपरिभागो विवक्ष्यते।—तै० प्रा० २।३७ पर त्रिभाष्यरत्न

देता है तथा निरनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण के समय थोड़ा सा ऊपर उठकर वायु को नासिका-विवर में जाने से रोकता है। इस प्रकार ध्वनियों के उत्पादन में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

दाँत—ध्वनि-सृष्टि-प्रक्रिया में ऊपर की दन्त-पंक्ति में स्थित सामने वाले कुछ दाँत ही कार्य करते हैं। इसलिये ध्वनि-विज्ञान में दाँतों से अभिप्राय ऊपर की पंक्ति वाले दाँतों से ही है। ये दाँत स्थान का कार्य करते हैं। नीचे का ओठ तथा जिह्वा की नोक इन दाँतों के साथ स्पर्श करके कतिपय ध्वनियों की सृष्टि करते हैं। दाँतों का प्रभाव भी ध्वनियों के श्रूयमाण स्वरूप में किञ्चित् अन्तर उत्पन्न कर देता है। प्रातिशाख्यों में दाँतों के दन्त, दन्तमूल इत्यादि कई विभागों का उल्लेख प्राप्त होता है।

जिह्वा—ध्वनि-विज्ञान में जितने भी दृश्य उच्चारणावयव स्वीकार किये गये हैं, उनमें जिह्वा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। वास्तव में यदि जिह्वा न होती तो कोई भी वर्ण उच्चरित नहीं हो सकता। प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में जिह्वा का अवश्य ही कुछ-न-कुछ योगदान रहता है। साधारण अवस्था में यह ढीली रहती है। बोलने की प्रक्रिया में यह विभिन्न अंगों का स्पर्श करके वायु को विविध प्रकार से विकृत करके ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक होती है। जिह्वा ओठों से लेकर कठोरतालु तक के सभी अवयवों को स्पर्श कर सकती है। कोमल और लचकदार होने से यह आसानी से बाहर-भीतर तथा ऊपर-नीचे हो सकती है। इसके कई विभाग किये जा सकते हैं, जिनका विवेचन प्रातिशाख्यों में प्राप्त होता है। जिह्वा के ये विभाग ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति को ध्यान में रखकर किये गये हैं। ये विभाग निम्नलिखित हैं—(१) जिह्वानोक, (२) जिह्वाग्र, (३) जिह्वामध्य, (४) जिह्वापश्च, (५) जिह्वामूल।

विशेष—जिह्वा के ये सभी विभाग तालु आदि स्थानों का स्पर्श करके अथवा उनके समीप जाकर ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। कुछ ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा उदासीन रहती है। जब जिह्वा तालु आदि स्थानों का स्पर्श करती है तब वायु का उसी स्थान पर अवरोध हो जाता है। इस प्रकार जिह्वा का प्रधान कार्य है—वायु का अवरोध करके वायु को वर्ण का स्वरूप प्रदान करना।

ओष्ठ—उच्चारणाङ्गों का सबसे अधिक बहिर्दृश्यमाण अङ्ग ओष्ठ हैं। ये संख्या में दो होते हैं। इन दोनों ओष्ठों का ध्वनि-उत्पादन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनमें नीचे का ओठ चलायमान होने के कारण 'करण' तथा ऊपर का ओष्ठ स्थिर

रहने के कारण 'स्थान' कहा जाता है। ध्वनि-उत्पादन में इनकी कई अवस्थायें सम्भव हैं। ये विभिन्न आकारों को ग्रहण करके विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। ओष्ठों की निम्नलिखित अवस्थायें होती हैं—(१) दोनों ओष्ठ पूर्णतः उन्मुक्त रह सकते हैं। परिणामतः वायु अबाधगति से मुख-विवर से बाहर निकल जाती है। (२) दोनों ओष्ठ परस्पर मिलकर वायु को भीतर ही रोके रहते हैं तथा अचानक अलग होकर वायु को स्फोटित करते हैं। (३) ऊपर के दांत तथा नीचे का ओठ परस्पर स्पर्श करते हैं, इस स्थिति में दन्त्योष्ठ्य ध्वनियों की सृष्टि होती है। (४) दोनों ओष्ठों के किनारे मिलकर गोलाकार बना लेते हैं। प्रातिशाख्यों में उवर्ण के उच्चारण में ओष्ठों की इसी स्थिति का निर्देश प्राप्त होता है।

नासिका-विवर—ध्वनि-सृष्टि में नासिका-विवर का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यही वह प्रधान अवयव है, जिससे श्वास रूप में फेफड़े में गई हुई वायु ध्वनियों के रूप में परिवर्तित होती है। सामान्य अवस्था में श्वास-प्रश्वास की क्रिया इसी के माध्यम से होती है। कोमल तालु की क्रियाशीलता के फल-स्वरूप वायु नासिका-विवर मार्ग से निकल कर अनुनासिक ध्वनियों को उत्पन्न करती है। मुख-विवर के ऊपर इसकी स्थिति है। मुख-विवर तथा नासिका-विवर के मध्य तालु का व्यवधान है। नासिका के भी 'मूल' आदि अनेक विभाग कल्पित किए गए हैं।

हनू (Jaws)— प्रातिशाख्यों में 'हनू' को भी उच्चारण-स्थान माना गया है तथा विभिन्न स्वरों के उच्चारण में इसकी कार्य-प्रणाली का उल्लेख किया गया है। हनू का अर्थ है—जबड़े। ये संख्या में दो होते हैं। मुख-विवर में स्थित उच्चारणांगों के अतिरिक्त मुखविवर की दीवारों को 'हनू' कहा गया है। तै० प्रा० २।१२ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने 'हनू' को मुख-विवर के पार्श्ववर्ती भाग में स्थित बतलाया है।[1] कुछ स्वरों के उच्चारण में इसकी विभिन्न स्थितियों का विवेचन तै० प्रा० में किया गया है। 'हनू' के भी 'हनू' तथा 'हनुमूल' दो मुख्य भाग किये गये हैं।

वर्णों के उच्चारण में वायु का स्थान

वायु ही सभी ध्वनियों का आधार है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाय तो वायु ही ध्वनियों का मूल कारण है। जिस प्रकार वाद्य-यन्त्र बिगुल तथा हारमोनियम से जो ध्वनि निकलती है, उसमें वायु का ही महत्त्वपूर्ण योगदान

---

१ हनूशब्द आस्यपार्श्वभागयोर्वर्तते।—तै० प्रा० २।१२ पर वैदिकाभरण

होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी वायु की सहायता से ही ध्वनियों को उत्पन्न करता है।

यह वायु दो प्रकार की होती है—एक वह जिसे हम श्वास के रूप में अन्दर ग्रहण करते हैं तथा दूसरी वह जिसे हम फेफड़े से मुँह या नाक द्वारा बाहर निकालते हैं। यही दूसरे प्रकार की वायु ध्वनियों का मूलकारण अर्थात् उपादान-कारण है। प्रातिशाख्यों में स्पष्टतः कहा गया है कि शब्द (ध्वनि) का कारण वायु ही है। अब प्रसङ्गवश प्रातिशाख्यों के मतों पर विचार कर लेना भी उचित होगा।

वा० प्रा० १।६-७ में 'शब्द' का कारण बतलाते हुए कहा गया है—शब्द का कारण वायु है और वह वायु आकाश से उत्पन्न होती है।[1] वा० प्रा० पर उवट का कथन है कि शब्द वायुस्वरूप ही है।[2] ऋ० प्रा० १३-१ में कहा गया है कि फेफड़े से बाहर निकली हुई प्राणवायु ही श्वास, नाद इत्यादि रूपों में परिणत होती है। किन्तु फेफड़े से निकली हुई वायु तभी श्वास या नाद में परिणत होती है, जब वक्ता बोलने की चेष्टा करता है।[3] मनुष्य द्वारा बोलने की चेष्टा न करने पर वायु अबाध गति से मुख-विवर से अथवा नासिका-विवर से बाहर निकल जाती है। फलतः कोई भी वर्ण उच्चरित नहीं होता है। वक्ता द्वारा प्रेरित वायु स्वरतंत्रियों के अवकाश से 'नाद' अथवा 'श्वास' का रूप ग्रहण कर लेती है। यही श्वास और नाद ध्वनियों का मूलकारण अथवा प्रकृति हैं।[4] ऋ० तं० १।१ में भी वायु को ही ध्वनि की प्रकृति स्वीकार किया गया है।[5] यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि जब ध्वनि का कारण वायु ही है, तब वायु के निरन्तर फेफड़े से बाहर निकलने के कारण निरन्तर ध्वनि की सृष्टि होनी चाहिए तथा वायु के सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सर्वत्र ध्वनि उत्पन्न होनी चाहिए। इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि जब वक्ता ध्वनि को उत्पन्न करने की इच्छा से तदनुकूल चेष्टा करेगा तथा उस चेष्टा से युक्त वायु को उच्चारण-साधनों का सान्निध्य

---

१. वायुः खात्। शब्दस्तत्।—वा० प्रा० १।६-७

२. शब्दस्तदात्मको वाय्वात्मक इत्यर्थः।—वा० प्रा० १।७ पर उवट

३. वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानः कण्ठस्य खे संवृते विवृते वा वक्त्रीहाग्राम्।
—ऋ० प्रा० १३।१

४. ताः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति।—ऋ० प्रा० १३।३

५. वायुं प्रकृतिमाचार्याः।—ऋ० तं० १।१

प्राप्त होगा तभी वायु ध्वनि के रूप में परिणत हो सकेगी, अन्यथा नहीं। इसी तथ्य को वा० प्रा० १।८ में आचार्य कात्यायन ने इस प्रकार कहा है—उचित करण अर्थात् उच्चारण-साधनों से युक्त होकर हृदय-प्रदेशस्थ वायु वेणु, शंख आदि से शब्द (ध्वनि) के रूप में प्रकट हो जाती है। वेणु, शंख आदि वाद्ययन्त्रों में जिस प्रकार ध्वनि-उत्पादन की क्षमता रहते हुए भी वादक द्वारा किया गया प्रयत्न नितान्त अपेक्षित होता है, उसी प्रकार मनुष्य के उच्चारणावयवों में ध्वनि-उत्पादन की क्षमता रहने पर भी वक्ता द्वारा किये जाने वाले आन्तरिक प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक हैं। यहाँ पर एक और प्रश्न हो सकता है—क्या शरीर से बाहर निकलती हुई वायु मात्रा आदि की विशेषताओं से समन्वित वर्ण-विशेष के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है? इसका उत्तर है कि ऐसी बात नहीं है। शरीर के एक भाग (मुख) में पहुँचने पर वायु तालु आदि स्थानों से संयुक्त होने पर सक्रिय उच्चारणावयवों के द्वारा विशेष-विशेष स्वरूप से समन्वित वर्णत्व को प्राप्त करती है।[1] उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वायु ही सभी ध्वनियों का मूल कारण है, उपादान कारण है।

ध्वनि-उत्पत्ति की सामान्य प्रक्रिया

पहले यह कहा जा चुका है कि वायु ही सभी ध्वनियों का मूलकारण है। वायु ही विविध उच्चारणाङ्गों के द्वारा वर्णरूप में परिणत होती है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि यह वायु किस प्रकार वर्ण रूप में परिणत होती है तथा वायु के वर्णरूप में परिवर्तित होने में किन शक्तियों का योगदान है? क्या वक्ता की इच्छा होने मात्र से ही ध्वनि की उत्पत्ति हो जाती है अथवा इस क्रिया में अन्य भी अङ्ग सहायक रूप में कार्य करते हैं? इन सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। तै० प्रा० २।२ में कहा गया है कि शरीर में स्थित वायु के गतिशील होने से कण्ठ और उरस् के संधि-स्थल में ध्वनि की उत्पत्ति होती है।[2] इस सूत्र पर तै० प्रा० के सभी भाष्यों में पाणिनि-शिक्षा से एक कारिका को अंशतः उद्धृत किया गया है[3], जिसमें वायु के ध्वनिरूप में परिणत

---

१. शारीरे।—वा० प्रा० १।१४

२. वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने।—तै० प्रा० २।२

३. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्। योऽयमन्तःशरीरेऽग्निः स प्रेरयति मारुतम्। स शरीरं सदोपैति मनसा चोपयुज्यते। ततः सञ्जायते नादः तमिदं ब्रह्मणो विदुः।—तै० प्रा० २।२ भाष्य

होने में जितने भी प्रयोजक हेतु होते हैं, उन सभी हेतुओं का सम्यक् उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार जब वक्ता को बोलने की इच्छा होती है तब सर्वप्रथम आत्मा 'कहे जाने वाले' अर्थों को इकट्ठा करके उन अर्थों का सम्पर्क बुद्धि से कराती है। फिर बुद्धि को मन से युक्त कराती है। मन शरीर में स्थित अग्नि को धक्का देता है। कायाग्नि शरीरस्थ वायु को प्रेरित करता है। इस प्रकार कायाग्नि द्वारा प्रेरित वायु फेफड़े में विचरण करता हुआ मन्द्र ध्वनि को उत्पन्न करता है। इस सम्पूर्ण कारिका को इस प्रकार समझा जा सकता है—वक्ता जब बोलने की इच्छा करता है तब कहने वाले पदों को आत्मा बुद्धि से मिलाती है, बुद्धि मन को प्रेरित करती है, मन कायाग्नि को प्रेरित करता है, इस प्रकार मन द्वारा प्रेरित कायाग्नि शरीर में स्थित वायु को प्रेरित करता है, तब फेफड़े में पहुँची हुई श्वास-रूप में गृहीत वायु फेफड़े में विचरण करती हुई 'मन्द्र' स्वर में परिणत हो जाती है।

कायाग्नि द्वारा प्रेरित होने पर शरीरस्थ वायु एक प्रकार के आन्तरिक हलचल से युक्त हो जाती है, तब फेफड़े से बाहर निकल कर श्वास-नलिका के मार्ग से आगे बढ़ती है। वस्तुतः वायु में ध्वनि के रूप में परिणत होने का गुण सर्वप्रथम फेफड़े में ही आ जाता है। अर्थात् फेफड़े से जब वायु निकलती है तभी उसमें वर्ण रूप में परिवर्तित होने की योग्यता मिश्रित हो जाती है। इसी योग्यता से मिश्रित वायु जब स्वरतंत्रियों से होकर गुजरती है तब स्वरतन्त्रियों की क्रियाओं के फलस्वरूप उसमें श्वास अथवा नादात्मक गुण आ जाते हैं। वास्तव में वायु जब फेफड़े में रहती है तभी उसे घोष अथवा अघोष वर्णों के रूप में परिवर्तित होने के लिये प्रेरित कर दिया जाता है। इस प्रेरणा को पाकर ही वायु स्वरतंत्रियों के समीप जाती है तथा स्वरतंत्रियाँ भी वायु की योग्यता के अनुसार उसे तदनुकूल मार्ग प्रदान करती हैं। अर्थात् जब वायु में घोष वर्णों को उत्पन्न करने की योग्यता रहती है तब स्वरतंत्रियाँ परस्पर समीप आकर तन जाती हैं, जिससे कण्ठ-विवर बन्द सा हो जाता है। फलतः वायु सघोष बन जाती है तथा जब वायु में अघोष वर्णों को उत्पन्न करने की योग्यता रहती है, तब स्वरतंत्रियाँ परस्पर दूर रहती हैं। फलतः वायुमार्ग खुला रहता है, जिससे वायु आसानी से निकल जाती है। इस प्रकार से निकली हुई वायु श्वास कहलाती है और अघोष वर्णों की सृष्टि में सहायक होती है। वास्तव में वायु में उच्चार्यमाण ध्वनि का गुण फेफड़े से निकलने के समय ही आ जाता है। इसलिये तै० प्रा० में कण्ठ और उरस् के संधिस्थल में ही ध्वनि के उत्पन्न होने की बात कही गई है। पा० शि० की कारिका में प्रयुक्त 'मन्द्रं जनयति स्वरम्' का तात्पर्य है—वायु में ध्वनि को उत्पन्न करने की योग्यता का आ जाना। इस प्रकार ध्वनि-सृष्टि में वायु के साथ-ही-साथ कायाग्नि, मन, बुद्धि तथा आत्मा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

इस प्रकार ध्वनि उत्पन्न करने की योग्यता से युक्त वायु कण्ठविवर (स्वर-यन्त्र) के समीप पहुँचती है। स्वर-यन्त्र में स्थित स्वर-तन्त्रियों के परदों के माध्यम से वायु श्वास अथवा नाद रूप को ग्रहण करती है। यही स्वरयन्त्र वह प्रथम स्थान है, जिसमें वायु को सर्वप्रथम विकृत करके उसे ध्वनि के रूप में परिणत होने के योग्य बनाकर स्थान और करण के सम्पर्क में प्रेषित किया जाता है। स्थान और करण वायु को उसके गुणों के अनुसार विकृत करके अर्थात् उसके प्रवाह में विकार उत्पन्न करके वर्ण का रूप प्रदान करते हैं। वस्तुतः स्वरतंत्रियों के माध्यम से कण्ठ-विवर में श्वास अथवा नाद रूप में परिणत हुई वायु जब गलविवर में पहुँचती है तो उसकी योग्यता के अनुसार कौवा एवं कोमलतालु सक्रिय हो जाते हैं। यदि वायु अनुनासिक वर्ण की योग्यता से युक्त है, तो कोमलतालु कुछ नीचे झुककर वायु को नासिका-विवर से निकलने के लिये मार्ग प्रदान कर देता है। इस अवस्था में भी वायु को मुख-विवर में अवश्य जाना पड़ता है परन्तु मुखविवर में किञ्चित् अवरोध का सामना करके पुनरावर्तित होकर नासिका-मार्ग से ही बाहर निकलना पड़ता है। इन सभी क्रियाओं के मूल में पुरुषकृत प्रयत्न ही प्रधान कारण होता है। अतः अब प्रयत्नों का विवेचन कर लेना भी प्रासङ्गिक होगा।

वर्णोच्चारण में प्रयत्न

प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण के लिये वक्ता को चेष्टा करनी पड़ती है। बिना वक्ता की चेष्टा हुए वायु कदापि वर्ण का रूप ग्रहण नहीं कर सकती। जब श्वास द्वारा अन्दर ली गई वायु फेफड़े में रहती है, तभी उसे वर्ण का रूप देने के लिये चेष्टा प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु प्रमुख चेष्टाओं का प्रारम्भ स्वरतंत्रियों से होता है। अतः अधिकांश ध्वनि-वैज्ञानिक स्वरतंत्रियों द्वारा होने वाली चेष्टा को ही प्रथम चेष्टा स्वीकार करते हैं। वक्ता द्वारा की जाने वाली इन्हीं चेष्टाओं को प्रयत्न कहा जाता है।

प्रयत्न के भेद

प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—(१) बाह्य प्रयत्न। (२) आभ्यन्तर प्रयत्न। इनका विवेचन आगे किया जा रहा है—

१—बाह्य प्रयत्न—मुख के बाहर अर्थात् स्वर-यन्त्र में होने वाले प्रयत्नों को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। मुख के बाहर स्थित अंगों में स्वर-यन्त्र ही सर्व-प्रमुख अंग है, जिसमें होने वाले प्रयत्नों से वर्णों की सृष्टि में सर्वाधिक सहायता प्राप्त होती है। इसीलिये प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिकों ने बाह्य प्रयत्न का सम्बन्ध

केवल स्वर-तंत्रियों तक ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में नागेश का कहना है—काकलक के नीचे गलविवर के संकोच और विकास से क्रमशः श्वास एवं नाद रूप ध्वनि की उत्पत्ति होती है। उससे घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण रूप कार्य उत्पन्न होते हैं। गल-विवर के विकास आदि कार्य को मुख से बाहर स्थित प्रदेश में सम्पन्न होने से इसे बाह्य प्रयत्न कहा जाता है।[1] स्वर-तन्त्रियों द्वारा होने वाले प्रयत्नों से कण्ठ (श्वासनलिका के छेद) की तीन अवस्थायें होती हैं। कतिपय ध्वनि-वैज्ञानिक इन्हीं तीन अवस्थाओं को तीन बाह्य प्रयत्न स्वीकार किये हैं। प्रातिशाख्यों में इन्हें कण्ठ की अवस्था ही कहा गया है परवर्ती काल में इन्हें बाह्यप्रयत्न नाम प्राप्त हुआ है। ये बाह्य प्रयत्न निम्नलिखित हैं—

(१) संवृत—इस अवस्था में स्वर-तंत्रियों के दोनों परदे एक दूसरे से अत्यधिक सन्निकट रहते हैं। जिससे स्वर-यन्त्र (कण्ठ का छेद) बन्द सा हो जाता है तथा स्वर-तन्त्रियों में तनाव हो जाता है। इस अवस्था में फेफड़े से आयी हुई वायु द्वारा स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है, जिससे एक प्रकार का झङ्कार उत्पन्न हो जाता है। जिसके परिणाम-स्वरूप वायु नाद के रूप में परिणत हो जाती है। नादरूप वायु से सघोष वर्णों की सृष्टि होती है। सघोष वर्णों में स्वर वर्ण, स्पर्श वर्गों के तृतीय चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण तथा य, र, ल, व एवं ह वर्ण आते हैं। अतः संवृत नामक बाह्य प्रयत्न से इन्हीं वर्णों की उत्पत्ति होती हैं। तै० प्रा० २१४ पर वै० आ० में कहा गया है कि कण्ठ का संकोच संवार नामक बाह्य-प्रयत्न है।[2]

(२) विवृत्त—इस अवस्था में स्वर-तन्त्रियों के दोनों परदे एक दूसरे से दूर रहते हैं तथा स्वर-यन्त्र मुख खुला रहता है। स्वर-तन्त्रियों में ढीलापन रहता है। इस अवस्था में कण्ठ के छेद को 'विवृत' कहा जाता है। कण्ठविवर की इस अवस्था में फेफड़े से आयी हुई वायु बिना किसी प्रकार के घर्षण का सामना किये ही बाहर निकल जाती है। इस प्रकार निकलती हुई वायु श्वास कहलाती है।[3]

---

१. काकलकाधस्ताद्गलविवरसंकोचविकासश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेष-रूप घोषाल्पघोषप्राणाल्पत्वं महत्त्वरूपकार्यकरत्वमेषाम्'''गलविवर विकासा-दिकराश्चास्यबहिर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद् बाह्या इति।—नागेश-लघुशब्देन्दु-शेखर, पृ० २४

२. संवरणं कण्ठस्य संकोचः स खलु संवारो नाम बाह्यप्रयत्नः।—तै० प्रा० २१४ पर वैदिकाभरण

३. विवृते श्वासः।—तै० प्रा० २१५

श्वास वायु से स्पर्श वर्गों के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण, स, ष, श एवं अयोगवाह संज्ञक वर्ण उत्पन्न होते हैं। ये वर्ण अघोष कहे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि श्वासवायु से अघोष वर्णों की सृष्टि होती है। ऋ० प्रा० १३।४, तै० प्रा० २।४ एवं च० अ० १।१२ में भी यही कहा गया है कि अघोष वर्णों की सृष्टि श्वास-वायु से होती है।[1]

(३) मध्य—इस अवस्था में स्वर-तन्त्रियों के दोनों परदे एक दूसरे से न तो अधिक दूर रहते हैं और न ही अधिक समीप रहते हैं। इस स्थिति में स्वर-तन्त्रियों में कुछ तनाव रहता है। स्वर-यन्त्र-मुख भी न तो पूर्णरूपेण खुला ही रहता है और न पूर्णरूपेण बन्द ही रहता है। परिणाम-स्वरूप फेफड़े से आती हुई वायु से स्वर-तन्त्रियों में थोड़ा कम्पन उत्पन्न होता है। इस अवस्था में निकली हुई वायु श्वास एवं नाद उभयात्मक हो जाती है। अर्थात् वायु में श्वास के गुण तो रहते ही हैं, साथ-ही-साथ स्वर-तन्त्रियों में कुछ कम्पन होने से नाद के भी कुछ गुण आ जाते हैं। कण्ठ-विवर की इस तृतीय अवस्था को केवल ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० में स्वीकार किया गया है। च० अ० १।१३ पर अपनी अंग्रेजी-व्याख्या में प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी ने प्रातिशाख्यों के इस मत की कटु आलोचना की है। उसका कहना है कि कण्ठ-विवर की इस अवस्था को समझ पाने में मैं अपने को असफल पाता हूँ। एक ही साथ घोष और अघोष दोनों स्थितियाँ असम्भव हैं।[2] परन्तु विचार करने पर यही तथ्य पुष्ट होता है कि कण्ठ-विवर की यह तृतीय अवस्था अवश्य होती है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक 'सिडनी एलेन' ने भी इस अवस्था को स्वीकार किया है। कण्ठ-विवर की इस अवस्था से हकार एवं स्पर्श वर्गों के चतुर्थ वर्ण (घ, झ, ढ, ध, भ) की उत्पत्ति होती है।

बाह्य-प्रयत्न की संख्या के विषय में प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रन्थों एवं वैयाकरणों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। वैयाकरणों के अनुसार बाह्यःप्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है। जिनमें आठ बाह्य-प्रयत्न व्यञ्जन वर्णों के होते हैं एवं तीन स्वर वर्णों के। व्यञ्जन वर्गों के आठ बाह्य प्रयत्न ये हैं—संवार, नाद, घोष, विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण एवं महाप्राण तथा स्वर वर्णों के तीन बाह्य-प्रयत्न ये हैं—उदात, अनुदात्त और स्वरित। वैयाकरणों ने जो व्यञ्जन वर्णों के आठ बाह्य-

---

१. श्वासोऽघोषाणाम्।—ऋ० प्रा० १३।४, अघोषेषु श्वासः।—तै० प्रा० २।४, श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानः।—च० अ० १।१२

२. द्रष्टव्य—विशेष विवरण के लिए च० अ० १।१३ पर ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या

प्रयत्न स्वीकार किया है, वह प्रातिशाख्यों के मत से भिन्न नहीं है। इनका वैमत्य केवल संख्या सम्बन्धी है। प्रातिशाख्यों में संवार (संवृत) को बाह्य-प्रयत्न मानकर नाद और घोष को उसका परिणाम स्वीकार किया गया है। अर्थात् संवृत वाह्य-प्रयत्न से वायु नाद रूप में परिणत हो जाती हैं। नादवायु से घोष वर्णों की सृष्टि होती है, अतः ये तीनों बाह्य-प्रयत्न (संवृत (संवार), नाद, घोष) एक ही कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार विवार (विवृत) वाह्य-प्रयत्न से वायु श्वास हो जाती है और श्वासवायु से अघोष वर्णों की सृष्टि होती है। इसलिए ये तीनों बाह्य-प्रयत्न (विवार, श्वास, अघोष) भी एक ही माने जा सकते हैं। अल्पप्राण एवं महाप्राण का भेद कुछ सीमा तक सार्थक है। कुछ वर्णों के उच्चारण में अधिक वायु मुंह से बाहर निकलती है तथा कुछ वर्णों के उच्चारण में कम वायु बाहर निकलती है। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में कम वायु का उपयोग होता है उन्हें अल्पप्राण व्यञ्जन और जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में अधिक वायु का उपयोग होता है उन्हें महाप्राण व्यञ्जन कहते हैं।[1] स्वरों में जो बाह्य प्रयत्न-उदात्त, अनुदात्त, स्वरित माने गये हैं, ये भी सार्थक ही हैं, क्योंकि कण्ठ की स्थिति के अनुसार ही इनका विभाजन भी दिखलाया गया है। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार बाह्य प्रयत्न का सम्बन्ध केवल स्वर-तन्त्रियों के कार्यों तक ही न होकर सम्पूर्ण कण्ठ तक है, क्योंकि उदात्तादि स्वराघातों में कण्ठ के उच्च-भाग, निम्न-भाग एवं मध्य-भाग सक्रिय होते हैं।[2] व्यञ्जन वर्णों में बाह्य-प्रयत्न निर्धारित हैं, परन्तु स्वरवर्णों में किसी भी बाह्य-प्रयत्न से कोई भी स्वर उच्चरित हो सकता है। अर्थात् उदात्तादि तीन बाह्य प्रयत्नों से प्रत्येक स्वर वर्ण उच्चरित होता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब वक्ता उन्हें उक्त प्रयत्न के रूप में उच्चरित करे।

वस्तुतः स्वर-तन्त्रियों के परदों के व्यापार को ही बाह्य-प्रयत्न कहना चाहिए, जो संवृत, विवृत एवं मध्य (उभयात्मक) ये तीन ही होते हैं। श्वास, नाद तथा हकार तो इनके परिणाम हैं। अतः इन्हें परम्परया बाह्य-प्रयत्न नाम प्राप्त है। प्रातिशाख्यकारों ने इन्हें बाह्य-प्रयत्न के अन्तर्गत इसी दृष्टि से स्वीकार किया है। वैयाकरणों द्वारा ग्यारह प्रकार का बाह्य-प्रयत्न स्वीकार करने का भी यही कारण है। बाह्य-प्रयत्न को अनुप्रदान भी कहा गया है।[3] तै० प्रा० २।८ पर

---

१. महति वायौ महाप्राणा अल्पे वायौ अल्पप्राणाः।—तै० प्रा० २।११ पर वैदिकाभरण।

२. द्रष्टव्य—उदात्तादि स्वराघातों के लिए 'स्वराघात-प्रकरण'

३. श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानः। नादोघोषवत्स्वरेषु।—च० अ० १।१२, १३

वै० आ० में स्पष्टत: कहा गया है—'अनु' शब्द पश्चात् अर्थ में प्रयुक्त है। जब कोष्ठ्य (उदरस्थ) वायु कायाग्नि द्वारा प्रेरित होकर मूर्धा में टकराने के कारण पुनरावर्तित होने पर कण्ठ में आती है तो कण्ठ की संवारादि पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ होती हैं। इनके द्वारा वर्णों को भी प्रदान किया जाता है—उच्चारणाङ्गों में रख दिया जाता है। अत: ये (श्वास, नाद और हकार) अनुप्रदान कहे जाते हैं। अनुप्रदान का व्यत्पत्तिमूलक अर्थ हैं—अनु-पश्चात् = प्रथम विकार के पश्चात्। प्रदान-उच्चारणाङ्गों को प्रदान किया जाता है—अर्थात् वर्ण विशेष का रूप देने के लिये वायु को उच्चारणाङ्गों को सौंप दिया जाता है अत: इस प्रक्रिया को अनुप्रदान कहा गया है।

आभ्यन्तर प्रयत्न का क्षेत्र अनिश्चित है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने आभ्यन्तर प्रयत्न का क्षेत्र ओष्ठ से लेकर काकलक पर्यन्त स्वीकार किया है। अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न ओष्ठ से लेकर काकलक तक जितने भी उच्चारणावयव स्थित हैं उन सबसे सम्बन्धित है। काकलक का अर्थ कैयट ने 'ग्रीवा में स्थित उन्नत प्रदेश' किया है।[1] ग्रीवा से तात्पर्य है 'गदर्न'। गर्दन में उन्नत प्रदेश = स्वरयन्त्र। इस प्रकार स्वरयन्त्र एवं ओष्ठ के मध्य जितने भी अङ्ग स्थित हैं, उन सभी अङ्गों में होने वाले प्रयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार कोमलतालु द्वारा होने वाली अनुनासिकता एवं निरनुनासिकता भी आभ्यन्तर प्रयत्न की सीमा में आ जायेगी। परन्तु अनुनासिकता एवं निरनुनासिकता को बहुत कम विद्वान् प्रयत्न के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। जिन्होंने इन्हें स्वीकार भी किया है वे बाह्य-प्रयत्न के अन्तर्गत ही इन्हें रखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आभ्यन्तर-प्रयत्न कोमलतालु से लेकर ओठ के मध्यवर्ती उच्चारणावयवों द्वारा किये गये प्रयत्नों को ही माना गया है।

२—आभ्यन्तर प्रयत्न—आभ्यन्तरप्रयत्न से तात्पर्य है 'मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न'। आभ्यन्तरप्रयत्न मुख-विवर में स्थित उच्चारणावयवों द्वारा किये जाते हैं। वा० प्रा० १।४३ पर भाष्यकार उवट ने आभ्यन्तरप्रयत्न के लिये 'आस्यप्रयत्न' एवं 'मुखप्रयत्न' संज्ञाओं का प्रयोग किया है।[2] कतिपय प्रातिशाख्य ग्रन्थों में आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए 'करण' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। ऋ०

---

१. काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नतप्रदेश: ।—महाभाष्य पर कैयट

२. समानमेकं स्थानं करणमास्यप्रयत्नश्च······समान मुखप्रयत्न: स तस्य सवर्ण-संज्ञो भवति ।—वा० प्रा० १।४३ पर उवट

प्रा० १३।८, च० अ० १।२९ एवं महाभाष्य पस्पशाह्निक में आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए 'करण' संज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है।[1] आभ्यन्तर प्रयत्न के कई भेद स्वीकार किये गये हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत, ईषत्विवृत, विवृततम, विवृततर तथा संवृत। इन आभ्यन्तरप्रयत्नों में मुख्यतः पाँच भेद सर्वसम्मति से स्वीकार किये गये हैं। अन्य भेदों का समाहार उन्हीं पांच प्रयत्नों के अन्तर्गत हो जाता है। इन आभ्यन्तरप्रयत्नों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **स्पृष्ट**—स्पृष्ट का अर्थ है 'स्पर्श किया गया'। इस प्रयत्न में दो उच्चारणावयव 'करण' एवं 'स्थान' परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते हैं। तत्पश्चात् शीघ्र ही अलग होकर वायु को बाहर निकाल देते हैं। इस आभ्यन्तरप्रयत्न में सक्रिय या चल उच्चारणावयव (करण) निष्क्रिय या अपेक्षाकृत स्थिर उच्चारणावयव (स्थान) का पूर्णतः स्पर्श कर लेता है। जिससे वायु बाहर नहीं निकल पाती। ऋ० प्रा० १३।९ में इस प्रयत्न के लिये 'अस्थित' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। अस्थित के व्याख्यान में भाष्यकार उवट का कथन है—'जहाँ वर्ण के उच्चारण-स्थान को आश्रय बनाकर मध्य में जिह्वा नहीं रुकती है, वह अस्थित कहा जाता है'।[2] तात्पर्य यह है कि इस प्रयत्न में दो उच्चारणावयव परस्पर स्पर्श करके भी पर्याप्त समय तक स्थित नहीं रहते। अर्थात् शीघ्र ही अलग होकर वायु को बाहर निकल जाने देते हैं। उवट ने इस प्रयत्न में केवल जिह्वा को ही सक्रिय उच्चारणावयव स्वीकार किया है। यह समीचीन नहीं है। क्योंकि ओष्ठ्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का कोई योगदान नहीं होता है। इन वर्णों में ओष्ठ ही स्थान तथा करण दोनों प्रकार के अंगों का कार्य करते हैं। उवट के इस कथन से ऐसा स्पष्ट हो रहा है कि वे जिह्वा को करण का उप-लक्षण मानते हैं, और जितने भी करण हैं, सबका बोध जिह्वा शब्द से ही करा देना चाहते हैं। इसी प्रकार कतिपय ऐसी भी ध्वनियाँ हैं, जिनमें नीचे का ओठ और ऊपर के दांत परस्पर स्पर्श करते हैं। सभी स्पर्श वर्णों के उच्चारण में 'स्पृष्ट' संज्ञक 'आस्य प्रयत्न' होता है।

---

१. तद्विशेषः करणम्।—ऋ० प्रा० १३।८, स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्।—च० अ० १।२९, तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानेभ्यो वैदिका शब्दा उपदिश्यन्ते। —महाभाष्य पस्पशाह्निक

२. यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तद् अस्थितम् इत्युच्यते। —ऋ० प्रा० १३।९ पर उवट

ईषत्स्पृष्ट—ईषत् स्पृष्ट का अर्थ है—'थोड़ा स्पर्श किया हुआ'। इस प्रयत्न में मुख के दो उच्चारणावयवों 'स्थान' एवं 'करण' का न तो स्पर्श वर्णों की भाँति पूर्णतः स्पर्श होता है और न ही स्वर वर्णों की भाँति दोनों परस्पर दूर ही रहते हैं। इसमें उच्चारणावयवों का थोड़ा सा स्पर्श होता है। वास्तव में इस प्रयत्न में भी सक्रिय उच्चारणावयव (करण) निष्क्रिय उच्चारणावयव (स्थान) के समीप जाता है, परन्तु उसको अत्यल्प मात्रा में स्पर्श करके वायु को निकल जाने के लिये मार्ग प्रदान कर देता है। ऋ० प्रा० में इस प्रयत्न के लिए 'दुःस्पृष्ट' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[1] 'दुः स्पृष्ट' का अर्थ है 'कठिनता से स्पर्श किया गया'। तात्पर्य यह है कि इस प्रयत्न में करण द्वारा स्थान का स्पर्श अत्यन्त कठिनता से हो पाता है, और होता भी है तो अत्यल्प ही। भाष्यकार उवट ने 'दुः स्पृष्ट' को 'ईषत् स्पृष्ट' का पर्याय स्वीकार किया है।[2] ऋक्तन्त्र में भी दुःस्पृष्ट का प्रयोग ईषत् स्पृष्ट के लिये किया गया है।[3] इस प्रयत्न में स्पर्श होने पर भी वायु पूर्णतः अवरुद्ध नहीं हो पाती। प्रातिशाख्यों एवं वैयाकरणों के अनुसार सभी अन्तस्था वर्णों का उच्चारण इसी आभ्यन्तर प्रयत्न से होता है।

विवृत—विवृत का शाब्दिक अर्थ है 'खुला हुआ।' इस प्रयत्न में दो उच्चारणावयवों का स्पर्श नहीं होता, अपितु वे पृथक्-पृथक् रहते हैं। विवृत आस्य प्रयत्न में जिह्वा बिलकुल नीचे जाकर मुख-विवर को अधिक से अधिक खुला हुआ बना देती है। ऋ० प्रा० में इस प्रयत्न के लिए 'अस्पृष्ट' संज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है। भाष्यकार उवट का कथन है कि इस प्रयत्न में उच्चारण-स्थान का आश्रय लेकर जिह्वा स्थित हो जाती है। इसीलिये इसे 'स्थित प्रयत्न' भी कहा गया है।[4] अर्थात् इस प्रयत्न में जिह्वा उच्चारण-स्थान की ओर किञ्चित् बढ़ने की चेष्टा करती है परन्तु उसके समीप न जाकर अपने स्थान पर ही स्थित होकर पड़ी रहती है। फलतः मुखविवर पूर्णतया उन्मुक्त रहता है और वायु अबाधगति से बाहर निकल जाती है। वायु के अबाधगति से बाहर निकलने के कारण ही स्वर वर्णों को इच्छानुसार पर्याप्त समय तक हम उच्चरित कर सकते हैं। विवृत आस्य प्रयत्न के कई भेदों का उल्लेख प्रातिशाख्यों में प्राप्त होता है। ये भेद हैं—ईषत्

---

१. दुः स्पृष्टं प्राग्घकाराच्चतुर्णाम् ।—ऋ० प्रा० १३।१०

२. ईषत्स्पृष्टम् इत्यर्थः ।—ऋ० प्रा० १३।१० पर उवट

३. दुःस्पृष्टमन्तस्थानाम् ।—ऋ० तं० १।३

४. स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् ।—ऋ०प्रा० १३।११, यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत्स्थितमित्युच्यते ।—ऋ० प्रा० १३।११ पर उवट

विवृत, विवृत, विवृततर एवं विवृततम । इस प्रकार का भेद स्वरों के उच्चारण को दृष्टि में रखकर किया गया है। वस्तुतः सभी स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर की समान अवस्था नहीं रहती है, अपितु कुछ स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर की विवृतता कुछ कम रहती है तथा कतिपय स्वरों के उच्चारण में कुछ अधिक रहती है। च० अ० १।३१, ३२ के अनुसार ऊष्म वर्णों तथा स्वरवर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'ईषत्‌विवृत' होता है।[1] एवं १।३४, ३५ के अनुसार एकार, ओकार तथा आकार का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृततम होता है।[2] विवृत और विवृततम में यही भेद है कि विवृतावस्था में मुख-विवर की सामान्यावस्था[3] रहती है, जबकि विवृततम की अवस्था में मुखविवर पूर्णतः उन्मुक्त रहता है। इस अवस्था में वक्ता मुख-विवर को सप्रयास अधिकाधिक उन्मुक्त करने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार 'ईषत् विवृत' तथा 'अर्ध विवृत' की स्थिति में मुखविवर की विवृत्ति सामान्य से अल्प होती है।

संवृत—संवृत का शाब्दिक अर्थ है 'सकरा'। अर्थात् इस अवस्था में मुख-विवर करीब-करीब बन्द सा हो जाता है, जिससे वायुमार्ग अत्यन्त सकरा हो जाता है। अर्थात् जिह्वा तालु के नजदीक जाकर मुखविवर को सकरा कर देती है। संवृत संज्ञक आभ्यन्तर प्रयत्न के दो भेद-संवृत और अर्द्धसंवृत स्वीकार किये गये हैं। अर्द्धसंवृत की स्थिति में जिह्वा तालु से कुछ दूर रहती है, परिणामस्वरूप मुखविवर पूर्णतः सकरा नहीं हो पाता। संस्कृत-भाषा की 'अकार' ध्वनि के उच्चारण में संवृत 'संज्ञक' आभ्यन्तर प्रयत्न होता है।

वर्णोच्चारण में स्थान एवं करण

प्रातिशाख्यों एवं अन्य ध्वनिवैज्ञानिक ग्रन्थों में ध्वनि-उत्पत्ति-प्रक्रिया में कार्य करने वाले अङ्गों को मुख्यतः दो वर्गों में रखा गया है—(१) स्थान और (२) करण। प्रसंगतः यह विचार कर लेना भी उचित होगा कि उच्चारणाङ्गों का वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है– फेफड़े से श्वास-नलिका द्वारा आती हुई प्रश्वास रूप वायु स्वरतन्त्रियों के माध्यम से श्वास अथवा नाद अथवा उभया-

---

१. ऊष्मणां विवृतं च। स्वराणां च।—च० अ० १।३१, ३२

२. एकारोकारयोर्विवृततमम्। ततोऽप्याकारस्य।—१।३४,३५

३. मुखविवर की सामान्यावस्था से तात्पर्य है—जब श्वसन-क्रिया मुख और नासिका दोनों अंगों द्वारा हो रही हो।

त्मक रूप विकार को प्राप्त करके वक्ता की चेष्टा के अनुसार विविध वर्णों की सृष्टि के लिये मुख-विवर में प्रवेश करती है। मुखविवर में पहुँची हुई वायु को वर्ण का स्वरूप प्रदान करने के लिये दो उच्चारणांगों द्वारा विकृत किया जाता है। इस क्रिया में एक अंग दूसरे अंग की ओर चलता है। अर्थात् इस प्रक्रिया में एक अंग अचल एवं निष्क्रिय तथा दूसरा अंग चल एवं सक्रिय होकर कार्य करता है। इनमें जो अंग अचल एवं निष्क्रिय रहता है, उसे 'स्थान' तथा जो अंग चल एवं अपेक्षाकृत सक्रिय रहता है उसे 'करण' संज्ञा प्रदान की गई है। वास्तव में वर्णोच्चारण की इस प्रक्रिया में एक अंग दूसरे अंग का या तो स्पर्श करता है अथवा उससे अत्यधिक सान्निध्य प्राप्त करता है। तै० प्रा० २।३१ के अनुसार स्वरों का उच्चारण-स्थान वह अंगविशेष है, जहाँ उच्चारणावयवों का परस्पर उपसंहार होता है।[1] इसी प्रकार २।३३ के अनुसार स्वर वर्णों से अन्य अर्थात् व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण-स्थान वह अंग होता है, जहाँ पर उच्चरणावयवों का किञ्चित् पारस्परिक स्पर्श होता है।[2] प्रस्तुत स्थल पर उपसंहार का अर्थ विचारणीय है। तै० प्रा० २।२४ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने उपसंहार का अर्थ 'सन्निकृष्टता' किया है तथा इसी भाष्यकार ने २।३१ के भाष्य में उपसंहार का अर्थ 'उपश्लेषविश्लेष' भी किया है।[3] इन दोनों अर्थों के विश्लेषण से ऐसा स्पष्ट होता है कि स्वर वर्णों के उच्चारण में उच्चारणावयवों का परस्पर सान्निध्य मात्र होता है। परन्तु यह तो निर्विवाद ही है कि स्वरों के उच्चारण-प्रसंग में भी एक अंग सक्रिय होता है तथा दूसरा अंग निष्क्रिय होकर कार्य करता है। सक्रिय अंग अपने स्थान से चलकर निष्क्रिय अंग के साथ सान्निध्य प्राप्त करता है। तै० प्रा० के माहिषेय भाष्य में उपसंहार का अर्थ 'संस्पर्शनातिसंश्लेष' किया गया है।[4] ह्विटनी ने स्थान के लिये (Place of Production) एवं करण के लिये (Producing organ) शब्दों का प्रयोग किया है।[5] W. S. एलेन ने करण के लिये (Articulator) शब्द का प्रयोग किया है। च० अ० १।१८ पर भाष्य में स्थान तथा करण के सम्बन्ध में कहा गया है—'जिसका उपक्रमण किया जाता है, वह

---

१. स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत्स्थानम्।—तै० प्रा० २।३१

२. अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्।—तै० प्रा० २।३३

३. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।२४ एवं २।३१ पर त्रि० र०

४. उपसंहारो नाम संस्पर्शनातिसंश्लेषः।—तै० प्रा० २।३१ पर माहि०

५. तै० प्रा० २।३१, ३४ पर ह्विटनी व्याख्या

स्थान और जिसके द्वारा उपक्रमण किया जाता है, वह करण कहलाता है।[1] ऋ० प्रा० १।४६ के भाष्य में भाष्यकार उवट ने कहा है कि वर्णों के आधार को स्थान शब्द से कहा जाता है।[2] 'करण' शब्द का प्रयोग प्रातिशाख्यों में दो भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है—कतिपय प्रातिशाख्यों में 'आभ्यन्तर प्रयत्न' के लिये एवं कतिपय प्रातिशाख्यों में वर्णोच्चारण में प्रयुक्त होने वाले सक्रिय उच्चारणावयवों के लिये करण शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। ऋ० प्रा० एवं ऋ० तं० में करण का अर्थ आभ्यन्तर प्रयत्न है।[3] तै० प्रा० तथा वा० प्रा० में करण का अर्थ सक्रिय उच्चारणावयव है।[4] महाभाष्य में भी करण शब्द का प्रयोग आभ्यन्तर प्रयत्न के लिये किया गया है।[5] वा० प्रा० ज्योत्स्नावृत्ति के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति का साधन करण कहा जाता है।[6]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अधिकांश प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में उच्चारणावयवों के सक्रिय अंगों को करण एवं अपेक्षाकृत निष्क्रिय अंगों को स्थान कहा गया है। अर्थात् जिस अंग विशेष पर वायु को रोक कर उसे वर्ण का रूप प्रदान किया जाता है वह 'स्थान', एवं जिस अंग के द्वारा वायु रोकी जाती है वह 'करण' कहलाता है। सभी ध्वनियों के उच्चारण में 'स्थान' अपने स्थान पर निष्क्रिय रहता है तथा करण वक्ता की चेष्टा के अनुसार अपेक्षित व्यापार करके वायु के प्रवाह में बाधा उत्पन्न करता है। इसी बाधा के परिणामस्वरूप वायु विविध वर्णों के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार अन्दर से आती हुई वायु को जिस अंग विशेष पर रोक कर वर्ण का रूप दिया जाता है उस अंग विशेष को उस वर्ण का 'स्थान' कहा जाता है तथा जिस अंग के द्वारा वायु को उस अंग विशेष पर रोका जाता है वह अंग उस वर्ण का 'करण' कहलाता है। स्थान निश्चल तथा करण चलायमान होता है।

---

१. यदुपक्रम्यते तत् स्थानम्। येनोपक्रम्यते तत् करणम्।—च० अ० १।१८

२. अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते।—ऋ० प्रा० १।४६ पर उवट

३. तद्विशेषः करणम्।—ऋ० प्रा० १३।८, स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दुःपृष्टमन्तस्थानाम्।—ऋ० तं० १।३

४. येन स्पर्शयति तत्करणाम्।—तै० प्रा० २।३४, दन्त्याः जिह्वाग्रकरणाः।—वा० प्रा० १।७६

५. स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्।—पा० सू० १।१।१० पर महाभाष्य

६. करणमुत्पत्तिसाधनम्।—वा० प्रा ज्योत्स्नावृत्ति

वर्णों के श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर के कारण

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि किन कारणों से 'वायु' विविध वर्णों के रूप में परिणत होती है। प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में इस तथ्य पर अत्यन्त सूक्ष्मरूपेण विचार किया गया है। ऋ० प्रा० १३।१३ में विधान किया गया है कि जब कण्ठ्यवायु का वक्ता के चेष्टात्मक गुणों से योग होता है, तो वह एक ही कण्ठ्य वायु वर्णता को प्राप्त होती हुई, विशेष-विशेष गुणों से युक्त होकर बहुत रूपों को प्राप्त करती है।[1] अर्थात् फेफड़े से चलकर श्वासनलिका द्वारा आती हुई वायु कई कारणों से विशेष-विशेष वर्णों के रूप में परिणत हो जाती है। ऋ० प्रा० में सूत्रकार ने उन विशेष गुणों का उल्लेख नहीं किया है, जिनके कारण वर्णों के श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर हो जाता है। परन्तु भाष्यकार उवट ने इस सम्बन्ध में एक कारिका को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार अनुप्रदान (बाह्यप्रयत्न) संसर्ग, स्थान, करण और परिमाण (मात्रा, उच्चारणकाल) की भिन्नता होने से वर्णों के श्रूयमाण स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है। तै० प्रा० २३।२ में भी इसी कारिका को सूत्र रूप में उपनिबद्ध किया गया है। परन्तु उस स्थल पर 'करणविभ्रमात्' के स्थान पर 'करणविन्ययात्' पाठ प्राप्त होता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों ही कारिकायें समान हैं।[2] पाणिनि-शिक्षा में भी इस सम्बन्ध में एक कारिका प्राप्त होती है। जिसके अनुसार स्वर (उदात्त, अनुदात्तव स्वरित), काल (मात्रा), स्थान, प्रयत्न एवं अनुप्रदान की भिन्नता होने से वर्णों के श्रूयमाणस्वरूप में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है।[3] अब क्रमशः प्रातिशाख्यविहित कारणों से वर्ण विशेषोत्पत्ति को स्पष्ट किया जा रहा है—

अनुप्रदान—प्रातिशाख्यों के आधार पर श्वास, नाद एवं मध्य ये तीन अनुप्रदान कहे गये हैं। इन अनुप्रदानों की भिन्नता रहने से वर्णों के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। अर्थात् यदि किसी वर्ण के उच्चारण में उच्चारण-स्थान, करण, मात्रा तथा संसर्ग आदि समान हों परन्तु अनुप्रदान में भिन्नता हो तो वह वर्ण अन्य वर्ण का रूप ग्रहण कर लेगा। अर्थात् उसके श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर

---

१. प्रयोक्तुरीहागुणसंनिपाते वर्णीभवन्गुणविशेषयोगात्। एकः श्रुतीः कर्मणाप्नोति वह्वीः।—ऋ० प्रा० १३।१३

२. अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात्। जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्।—तै० प्रा० २३।२, ऋ० प्रा० १३।१३ पर उवट

३. स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्ण-विदः प्राहुः निपुणं तन्निबोधत।—पा० शि० ६-१०

आ जायेगा। उदाहरणार्थ—ककार एवं गकार के उच्चारण में स्थान, करण, मात्रा और संसर्ग की समानता होने पर भी बाह्यप्रयत्न (अनुप्रदान) की भिन्नता होने से श्रूयमाणस्वरूप में अन्तर आ गया है। ककार के उच्चारण में 'श्वास' अनुप्रदान है और गकार के उच्चारण में 'नाद' अनुप्रदान है। तै० प्रा० २३।२ पर त्रिभाष्यरत्न व्याख्या में कहा गया है—अकार के उच्चारण में अनुप्रदान-नाद, संसर्ग-कण्ठ में, स्थान-हनू, करणविन्यय-ओष्ठों का तथा परिमाण एक मात्रा है।[1] परन्तु यदि नाद को बदल कर श्वास अनुप्रदान से वर्ण उत्पन्न करना चाहें, तो वह ध्वनि स्वर न होकर व्यञ्जनात्मक हो जायेगी।

संसर्ग—उवट के अनुसार संसर्ग का तात्पर्य 'समीपवर्ती प्रभाव' है। ककार और खकार के उच्चारण में दोनों का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल, आभ्यन्तर प्रयत्न-स्पृष्ट, उच्चारणकाल-आधी मात्रा तथा बाह्य-प्रयत्न-विवार, श्वास, अघोष है, परन्तु खकार के उच्चारण में ऋ० प्रा० १३।१६ के अनुसार समान स्थान वाले ऊष्मवर्ण (ᳵक) के प्रभाव से सोष्मता आ गई है।[2] इस प्रकार ककार एवं खकार में इसी सोष्मता के कारण भेद हो गया है। प्रत्येक वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय वर्णों में तथा तृतीय एवं चतुर्थ वर्णों में इसी सोष्मता के कारण भेद हो जाता है। प्रत्येक वर्ग के अनुनासिक वर्ण एवं उसी वर्ग के तृतीय वर्ण के श्रूयमाण स्वरूप में केवल यही भेद है कि अनुनासिक वर्ण में ऋ०प्रा० १३।१५ के अनुसार अनुस्वार से उत्पन्न घोष है।[3] तै० प्रा० २३।२ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने अकार का संसर्ग कण्ठ में बतलाया है परन्तु संसर्ग का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। ह्विटनी ने संसर्ग का अर्थ स्पर्शन की मात्रा अथवा उपसंहार बतलाया है। तात्पर्य यह है कि ह्विटनी के अनुसार संसर्ग का अर्थ करण द्वारा स्थान को स्पर्श करने की मात्रा में होने वाला न्यूनाधिक्य ही प्रतीत होता है।[4] इस न्यूनाधिक्य से भी वर्णों के स्वरूप में भिन्नता आना स्वाभाविक है। परन्तु वैदिकाभरणकार के अनुसार संसर्ग का अर्थ वायु द्वारा उच्चारण-स्थान पर किया गया अभिघात है। यह अभिघात तीन प्रकार का होता है—(१) अयःपिण्डवत् (२) दारुपिण्डवत् एवं (३) ऊर्णपिण्डवत्। इन त्रिविध अभिघातों में किस अभिघात से किन-किन वर्णों की उत्पत्ति होती है, इस प्रसंग में वैदिकाभरणकार ने 'आपिशलि-शिक्षा' से एक कारिका को उद्धृत

१. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २३।२ पर त्रिभाष्यरत्न

२. सोष्मतां च सोष्मणामूष्मणाहुः सस्थानेन।—ऋ० प्रा० १३।१६

३. आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम्।—ऋ० प्रा० १३।१५

४. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २३।२ पर ह्विटनी

किया है। इसके अनुसार स्पर्श वर्णों और यमों को उत्पन्न करने वाली वायु अयः-पिण्ड (लोहे की गेंद) के समान स्थान को पीड़ित करती है। अर्थात् उपर्युक्त वर्णों के उच्चारण में वायु का अभिघात अत्यन्त तीव्र होता है। अन्दर से आती हुई वायु उच्चारण-स्थान पर तीव्र प्रहार करके उसी स्थल पर क्षण भर के लिए रुक जाती है, पुनः स्फोट के साथ बाहर निकलती है। अन्तस्था वर्णों को उत्पन्न करने वाली वायु दारुपिण्ड (लकड़ी की गेंद) के समान उच्चारण-स्थान को पीड़ित करती है। अन्तस्था वर्णों के उच्चारण में वायु द्वारा किया गया अभिघात स्पर्श वर्णों में होने वाले अभिघातों की अपेक्षा कुछ मन्द होता है। इसीलिये अन्तस्थ वर्णों के उच्चारण में वायु पूर्णरूप से स्थान पर रुकती नहीं है, अपितु करण और स्थान के मध्य से निकलती रहती है। स्वर वर्णों एवं ऊष्म वर्णों की उत्पत्ति में वायु द्वारा किया गया अभिघात ऊर्णपिण्ड की भाँति होता है। अर्थात् यह अभिघात अत्यन्त ही स्वल्प होता है। इसी कारण से स्वर वर्णों एवं ऊष्म वर्णों के उच्चारण में वायु निरन्तर मुख-विवर से बाहर निकलती रहती है। वायु द्वारा किये गये उपर्युक्त अभिघातों में वायु द्वारा उच्चारण-स्थान पर किये जाने वाले प्रहार की तीव्रता एवं मन्दता का ही अन्तर होता है। स्वर वर्णों एवं ऊष्म वर्णों के उच्चारण में वायु निरन्तर मुख से बाहर निकलती रहती है। अतः अभिघात अत्यन्त कम होता है। इसी प्रकार अन्तस्था वर्णों एवं स्पर्श वर्णों के उच्चारण में वायु-प्रवाह में अवरोध होने से अभिघात में अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों अभिघातों के परिवर्तन से भी वर्णों के श्रूयमाण स्वरूप में अन्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ—अकार एवं कवर्ग के उच्चारण में कतिपय अन्य उच्चारण प्रक्रियाओं में भिन्नता होने पर भी अभिघात सम्बन्धी भिन्नता है। अकार में ऊर्णपिण्ड के सदृश अभिघात होता है तथा कवर्ग में अयः-पिण्डवत् अभिघात होता है। अतः दोनों के मध्य श्रुतिगत-भेद है। अभिघातों में भेद होने के कारण वर्णों के प्रयत्नों में भेद हो जाता है।

स्थान—वर्णोच्चारण-प्रक्रिया में स्थानकृत भेद होने से वर्णों के स्वरूप में भिन्नता हो जाती है। उदाहरणार्थ अ, इ, उ, ऋ इन स्वर्ण-वर्णों का बाह्य-प्रयत्न नाद है, आभ्यन्तर-प्रयत्न अपृष्ट या विवृत है, परिमाण एक मात्रा है तथा करण जिह्वा है। इन सभी उपादानों के समान रहने पर भी उच्चारण-स्थान में भिन्नता होने के कारण इनके स्वरूप में भी भिन्नता पाई जाती है।

करण-विन्यय—ऋ० प्रा० १३-१३ पर उवट-भाष्य में 'करणविभ्रम' शब्द प्रयुक्त है। उवट के अनुसार करणविभ्रम का अर्थ-करणकृत भेद है। भाष्य-

कार उवट के अनुसार इकार, जकार और यकार में स्थान, बाह्य-प्रयत्न आदि उपादानों के समान रहने पर भी करण एवम् आभ्यन्तर-प्रयत्नगत भिन्नता होने से श्रुतिगत भेद होता है।[१] तै० प्रा० २३।२ पर वैदिकाभरण भाष्य में 'विन्यय' का अर्थ 'विविध प्रकार से किया गया स्पर्शन' दिया गया है। अर्थात् वैदिकाभरणकार ने करण द्वारा स्थान पर किये जाने वाले स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर-प्रयत्नों को करण-विन्यय स्वीकार किया है। इन आभ्यन्तरप्रयत्नों की भिन्नता से भी वर्णों में श्रुतिगत-भेद उत्पन्न हो जाता है।

परिमाण (उच्चारणकाल)—वर्णों के श्रूयमाण-स्वरूप में भेद का एक कारण उच्चारणकालगत भिन्नता भी है। ऋ० प्रा० १३।१३ के भाष्य में उवट ने यह स्पष्ट कहा है कि स्थान, प्रयत्न, अनुप्रदान आदि के समान रहने पर भी कालगत भिन्नता होने से समानाक्षरों में श्रुतिगत भेद हो जाता है। अर्थात् अकार एवं आकार के बीच तथा इकार एवम् ईकार के बीच केवल परिमाण मात्राकृत भेद है।[२] अर्थात् समानाक्षरों में ह्रस्व-दीर्घ आदि भेद कालकृत ही हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर वैदिकाभरण भाष्य में भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। परिमाणकृत भेद से केवल स्वरों में श्रुतिगत भिन्नता उत्पन्न होती है। व्यञ्जन वर्णों में इस प्रकार की भिन्नता नहीं होती।[३]

पाणिनि-शिक्षा में संसर्गकृत भेद का उल्लेख न करके स्वर (Tone, Accent) के परिवर्तन से भी वर्णों के श्रुति में भिन्नता का उल्लेख प्राप्त होता है।[४] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुप्रदानादि की समानता रहने पर भी यदि उदात्तादि स्वराघातों की भिन्नता हो जाये तो अक्षरों के श्रूयमाण स्वरूप में भेद हो जाता है। परन्तु इस भेद की सीमा भी अक्षरों तक ही है, क्योंकि स्वराघात अक्षरों पर ही होता है। परन्तु पा० सू० १।१।९ पर

---

१. तुल्यस्थानानुप्रदानानामपि इकारजकारयकाराणां करणकृतः श्रुतिविशेषः। —ऋ० प्रा० १३।१३ पर उवट

२. तुल्यस्थानप्रयत्नानुप्रदानयोरपि समानाक्षरयोः परिमाणकृतः श्रुतिविशेषः। —ऋ० प्रा० १३।१३ पर उवट

३. परिमाणस्य पृथग्वचनं स्वराख्यवर्णमात्रविषयत्वख्यापनार्थं तेन व्यञ्जनानां ङकारानुस्वारादीनां कालभेदे वर्णान्यत्वं न भवति।—तै० प्रा० २३।२ पर वैदिकाभरण

४. स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत।—पा० शि० १०

भाष्य में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उदात्तादि स्वराघातों से वर्णों की सवर्णता में भेद न होने का उल्लेख किया है।[1] यद्यपि उदात्तादि के भेद होने पर वर्णों की सवर्णता में भेद नहीं होता, परन्तु उनके श्रूयमाण-स्वरूप में भेद तो अवश्य हो जाता है।

तै० प्रा० २२।१ में स्पष्टतः कहा गया है कि सभी वर्णों की प्रकृति अर्थात् मूलकारण 'शब्द' है।[2] 'शब्द' को भाष्यकारों ने ध्वनि का पर्याय माना है। तै० प्रा० २२।२ में यह भी कहा गया है कि उस ध्वनि के रूप-परिवर्तन से वर्णों में भी परिवर्तन हो जाता है। अर्थात् यदि ध्वनि का रूप परिवर्तित हो जायेगा तो उससे उत्पन्न होने वाला वर्ण भी अपने स्वरूप में परिवर्तन कर देगा। परिणामतः अन्य वर्ण की सृष्टि हो जायेगी।[3] तै० प्रा० २।३ एवं वा० प्रा० १।१० में भी वर्णों के श्रूयमाण-स्वरूप में अन्तर के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। तै० प्रा० के अनुसार शरीरस्थ वायु के समीरण से कण्ठ और उरस् के मध्यवर्ती स्थल में उत्पन्न ध्वनि जब उरस्, कण्ठ, शिर, मुख और नासिका—इन स्थानों से सम्पर्क प्राप्त करती है, तो वह श्रवण योग्य होती है।[4] अर्थात् उपर्युक्त स्थान उस ध्वनि को श्रवणीयता प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्रवणीयता को प्राप्त करके ध्वनि विविध वर्णों के रूप को ग्रहण करती है। इन स्थानों की भिन्नता होने पर भी वर्णों के स्वरूप में भिन्नता आ जाती है। वा० प्रा० में वायु के तीन स्थान बतलाये गये हैं।[5] इसके अनुसार इन तीनों स्थानों में उत्पन्न ध्वनियों में अपेक्षाकृत उच्चता होती है। उरस् (छाती) में उत्पन्न ध्वनि धीमी होती है। कण्ठ से उत्पन्न ध्वनि उससे कुछ तेज होती है तथा सिर में उत्पन्न ध्वनि अत्यन्त तीव्र होती है। तै० प्रा० में 'शब्द' को वर्णों का प्रकृति माना गया है। शब्द से तात्पर्य है—'श्वास', नाद तथा 'हकार' रूप द्रव्य। अर्थात् वायु का वह रूप जो कण्ठ-विवर में स्वर-तन्त्रियों द्वारा श्वास, नाद तथा हकार में परिवर्तित हो जाता है। यही वायु विविध स्थानों को प्राप्त करके विविध वर्णों के रूप में परिणत हो जाती हैं।

---

१. अभेदका उदात्तादयः।—पा० सू० १।१।६ पर महाभाष्य

२. शब्दः प्रकृतिः सर्ववर्णानाम्।—तै० प्रा० २२।१

३. तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम्।—तै० प्रा० २२।२

४. तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्ति उरः कण्ठः, शिरो, मुखं, नासिके इति।—तै० प्रा० २।३

५. त्रीणि स्थानानि।—वा० प्रा० १।१०

स्वर ध्वनियों का उच्चारण

स्वरों के उच्चारण में फेफड़े से निःसृत वायु श्वासनलिका द्वारा जब स्वर-यन्त्र के पास पहुँचती है तो स्वर-तंत्रियों के दोनों परदे परस्पर समीप आ जाते हैं। परिणामस्वरूप वायु 'नादरूप' द्रव्य में परिवर्तित होकर मुख-विवर में पहुँचती है। मुख-विवर में वायु के मार्ग में न तो किसी प्रकार की रुकावट ही होती है और न तो वायु को किसी प्रकार की संकीर्णता का सामना करना पड़ता है। स्वरों के उच्चारण में वायु को जिह्वा की स्थितियों के अनुसार मुख-विवर में रुकना नहीं पड़ता। स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की विभिन्न स्थितियों द्वारा वायु को विविध स्वरों का रूप दिया जाता है। स्वरों के उच्चारण में जिह्वाग्र, जिह्वापश्च आदि ऊपर-नीचे होते हैं। ओष्ठ भी कभी तो विभिन्न अनुपात में गोलाकार हो जाते हैं और कभी अपनी स्वाभाविक स्थिति में ही रहते हैं। अनुनासिक स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरों के उच्चारण में कोमलतालु कुछ सीमा तक ऊपर उठकर नासारन्ध्रमार्ग को बन्द कर लेता है। जिसके परिणामस्वरूप वायु मुख-विवर से ही बाहर निकल जाती है। वस्तुतः सभी स्वरों के उच्चारण में वायु का प्रवाह समान ही रहता है। अन्तर केवल जिह्वा की विभिन्न स्थितियों का होता है। अब प्रातिशाख्यों के आधार पर स्वरों के उच्चारण में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के सहित प्रत्येक स्वर की उच्चारण-प्रक्रिया का विशद् विवेचन क्रमशः नीचे किया जा रहा है।

अवर्ण—स्वरों के अन्तर्गत अवर्ण ही ऐसा स्वर है, जिसके ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत तीनों रूपों में कालकृत-भेद के साथ-ही- साथ प्रयत्न-कृत भेद भी रहता है। अन्य स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, एवं प्लुत भेदों में केवल कालकृत-भेद ही होता है। अर्थात् ह्रस्व स्वर को अधिक काल में उच्चरित करने से दीर्घ स्वर की निष्पत्ति हो जाती है तथा उसी को और अधिक काल में उच्चरित करने से प्लुत स्वर की निष्पत्ति भी हो जाती है। ह्रस्व अकार का आभ्यन्तर-प्रयत्न सभी प्रातिशाख्य एवं व्याकरण-ग्रन्थों में 'संवृत' माना गया है, जबकि दीर्घ अकार एवं अकार के अन्य भेदों (प्लुत आदि) के उच्चारण में मात्राकृत भेद ही कारण है। च० अ० १।३६, वा० प्रा० १।७५, एवं पा० सू० ८-४-६८ के अनुसार अकार संवृत-प्रयत्न वाला वर्ण है।[1] ऋ० तं० १।३ में अकार को विवृततर आस्य-प्रयत्न वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।[2] वा० प्रा० १।७१ के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत

---

१. संवृतोऽकारः।—च० अ० १।३६, अकारस्य मात्रिकस्य संवृतास्यप्रयत्नस्य इतरयोश्च विवृतास्यप्रयत्नयो…।—वा० प्रा० १।७२ पर उवट

२. विवृततरमकारैकारौकाराणाम्।—ऋ० तं० १।३

अकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ है तथा कण्ठ उच्चारण-स्थान होने से वा० प्रा० १।८४ के अनुसार 'हनुमध्य' करण है।[1] अर्थात् वा० प्रा० के विधान के अनुसार अवर्ण के उच्चारण के समय वायु को कण्ठ स्थान पर विकृत होना पड़ता है, तथा इस विकार के परिणामस्वरूप हनुमध्य में कुछ क्रियाशीलता आ जाती है। तै० प्रा० २।१२ में विधान किया गया है कि अवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ और हनू न तो अत्यधिक समीप में होते हैं और न तो अत्यधिक दूर ही होते हैं।[2] अर्थात् अवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठ और दोनों हनु, परस्पर न तो अत्यधिक दूर ही रहते हैं और न अधिक समीप ही। तै० प्रा० के भाष्यकारों का कहना है कि एक ही वर्ण के उच्चारण में दोनों कार्यों का होना समुचित नहीं हो सकता। अतः इनका योग-विभाग कर लेना चाहिए। ऐसा करने पर ह्रस्व अवर्ण के उच्चारण में हनू (जबड़ों) की पारस्परिक समीपता एवं दीर्घ अवर्ण तथा प्लुत अवर्ण के उच्चारण में पृथकत्व (दूर-दूर रहने) की संगति बैठ जाती है।[3] भाष्यकारों द्वारा किया गया यह विषय-विभाग अन्य ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों को भी मान्य है, क्योंकि अकार के उच्चारण में संवृत संज्ञक आभ्यन्तर-प्रयत्न को सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अवर्ण के तीनों रूपों के उच्चारण में ओष्ठों और जबड़ों की स्थिति समान नहीं रहती है। इस तथ्य की पुष्टि सूत्रकार ने २।२१ में स्वयं कर दिया है। इस सूत्र में यह विधान किया गया है कि जिन वर्णों के उच्चारण हेतु ओष्ठों की अवस्था का निर्देश नहीं किया गया है, उनके उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति अकार के उच्चारण की भाँति होती है।[4] यदि अकार, आकार एवं आ३कार के उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति एक समान ही होती तो इस सूत्र (२।२१) में अकार का प्रयोग न करके अवर्ण का प्रयोग किया गया होता। तै० प्रा० २।१२ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने 'हनू' को स्थान एवं दोनों ओष्ठों को करण स्वीकार किया है।[5] तथा कुछ शिक्षायें अवर्ण का स्थान 'सृक्वि' (मुख का कोना) मानती हैं। ऋ० प्रा० १।३८ में अकार को कण्ठ से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया

---

१. अहविसर्जनीयाः कण्ठे, कण्ठ्या मध्येन।—वा० प्रा० १।७१, ८४

२ अवर्णे नात्युपसं हृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्।—तै० प्रा० २।१२

३. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।१२ पर वैदिकाभरण, त्रिभाष्यरत्न एवं माहिषेय भाष्य

४. अकारवदोष्ठौ।—तै० प्रा० २।२१

५. अत्रावर्णस्य हनू स्थानम्। ओष्ठौ करणम्। सृक्विस्थानमवर्णमेके।—तै० प्रा० २।१२ पर वै०

गया है।[1] च० अ० १।१९ में कठ्य वर्णों का करण अधरकण्ठ को बतलाया गया है। च० अ० के भाष्यकार के अनुसार अवर्ण कण्ठ स्थान से उच्चरित होता है। तात्पर्य यह है कि च० अ० का भाष्यकार कण्ठ के ऊपरी भाग को अवर्ण का स्थान एवं निचले भाग को अवर्ण का करण मानता है। ऋ० तं० २।२ एवं पा० शि० १७ में भी अवर्ण को कण्ठस्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है।[2] वा० प्रा० की ज्योत्स्नावृत्ति में कण्ठ्य वर्णों का करण जिह्वामध्य को बतलाया गया है।[3] पा० सू० १।१।९ पर म० भा० में ह्रस्व अकार का दीर्घ एवं प्लुत आकार के साथ होने वाली सवर्णता के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है कि अवर्ण का स्थान आस्यबहिर्भूत होने से उसकी दीर्घ एवं प्लुत के साथ सवर्णता नहीं है। अर्थात् अवर्ण का उच्चारण स्थान कण्ठ है। कण्ठ मुख से बाहर स्थित है; अतः अवर्ण की अपने सभी रूपों के साथ सवर्णता नहीं हो सकती। इस पर सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया गया है कि कतिपय आचार्य अवर्ण को सम्पूर्ण मुख-स्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण मानते हैं।[4] आ० शि० में भी अवर्ण को सम्पूर्ण मुख-प्रान्त से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।[5] इन ग्रन्थों के लेखकों का तात्पर्य यही है कि अवर्ण के उच्चारण में मुख के अन्तर्गत स्थित किसी अंगविशेष को किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती है। म० भा० में यह भी कहा गया है कि संध्यक्षरों में मिश्रित रहने वाला अवर्ण 'विवृततर' आस्य-प्रयत्न वाला होता है।[6] ऋ० प्रा० १४।६५ में यह विधान किया गया है कि अकार की करणावस्था से ही अन्य स्वरों का उच्चारण करना चाहिए।[7] वस्तुतः ऋ० प्रा० का यह कथन कि सभी स्वरों को अकार की करणावस्था से उच्चरित करना चाहिए, ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है। ऋ० प्रा० १३।१५ में आचार्य शौनक कतिपय आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सघोष व्यञ्जनों में जो घोषत्व है वह अकार के कारण है और अनुनासिक व्यञ्जनों

---

१. कण्ठ्योऽकारः।—ऋ० प्रा० १।३८
२. हाः कण्ठे। ऋ० तं० २।२, कण्ठ्यौ अहौ।—पा० शि० १७
३. द्रष्टव्य—वा० प्रा० १।८४ पर ज्योत्स्ना वृत्ति
४. बाह्यं ह्यास्यात्स्थानमवर्णस्य। सर्वमुखस्थानमवर्णस्य एक इच्छन्ति।—पा० सू० १।१।९ पर म० भा०
५. द्रष्टव्य—आ० शि० १।२
६. विवृततरावर्णावितौ।—म० भा०
७. अकारस्य करणावस्थयान्यान्स्वरान्ब्रूयात्।—ऋ० प्रा० १४।६५

में जो घोषत्व है वह अनुस्वार के कारण हैं।[1] अकार शुद्ध घोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में केवल स्वर-यन्त्र का ही उपयोग होता है। इसके उच्चारण में वायु के मुख-विवर में आ जाने पर मुख के अन्तर्गत स्थित अंगों द्वारा उसमें कोई विशेष विकार नहीं हो पाता। इसीलिए आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अकार को उदासीन (Neutral) स्वर कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अकार के उच्चारण में मुखविवर में स्थित उच्चारणावयव उदासीन रहते हैं। अकार के उच्चारण के समय किसी भी उच्चारणांग की स्थिति स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में होने वाली स्थिति से भिन्न नहीं होती। इसीलिये तै० प्रा० में कहा गया है कि सभी स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति अकार के उच्चारण के समान ही होती है। अकार को 'मिश्रित स्वर' कहा जा सकता है। यह सभी स्वरों का आधार है। स्वर-यन्त्र से प्राप्त शुद्ध घोष ध्वनि (अकार) को मूलकारण के रूप में अपनाते हुए जब हम मुख-विवर को कुछ सँकरा करके जिह्वा के अगले भाग को विभिन्न ऊँचाइयों तक उठाते हैं तो ए, ऐ, इ तथा ई वर्णों की उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर जब हम जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर की ओर विभिन्न ऊँचाइयों तक उठाते हैं तथा मुख को बन्द सा करके होठों को गोलाकार बनाते हैं तब ओ, औ, उ तथा ऊ वर्णों की उत्पत्ति होती है। अपने आधारभूत स्वर अकार की भाँति सभी स्वर सघोष होते हैं। सभी के उच्चारण के समय स्थान एवं करण का पारस्परिक स्पर्श नहीं होता है। केवल मुख के अवयवों की आकृति एवं जिह्वा की ऊँचाई में ही अन्तर आ जाता है। तै० प्रा० में स्पष्टतः कहा गया है कि जिन स्वर-वर्णों के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति का निर्देश नहीं किया गया है उनके उच्चारण में जिह्वा मुख-विवर में शान्त रूप में पड़ी रहती है। इस सूत्र को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है कि अवर्ण के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति का निर्देश नहीं किया गया है। अतः अवर्ण के उच्चारण में जिह्वा शान्त रूप में पड़ी रहती है।[2] यही जिह्वा जब विभिन्न ऊँचाइयों तक ऊपर उठती है तो अन्यान्य स्वरों की उत्पत्ति हो जाती है।

कतिपय आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि अकार के उच्चारण में जिह्वामूल ऊपर उठकर कोमलतालु के समीप चला जाता है, जिससे वायु के प्रवाह में किञ्चित् अवरोध उत्पन्न हो जाता है। वैदिक संहिताओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संहिताओं की रचना के समय अकार का उच्चा-

---

१. आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम्।—ऋ० प्रा० १३।१५

२. अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा।—तै० प्रा० २।२०

रण विवृत रूप में होता रहा होगा। कालान्तर में धीरे-धीरे यह संवृत उच्चरित होने लगा होगा। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि वैदिक ऋचाओं में 'अ' की अभिनिहित संधि जैसे—अग्ने+अत्र=अग्नेऽत्र लौकिक संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम स्थलों पर प्राप्त होती है। जहाँ होती भी है वहाँ छन्द के पाठ-विधान के अनुसार सन्धि को समाप्त करके पाठ किया जाता था। यदि संधि का आधार हमारा स्वाभाविक उच्चारण है, तो यह स्पष्ट है कि विवृत 'अ' की अपेक्षा संवृत 'अ' की अभिनिहित संधि अधिक स्वाभाविक है। महाभाष्य में आकार को विवृत उच्चरित होने का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसका प्रमुख कारण सवर्णग्राहकता को बतलाया गया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रातिशाख्यों के काल में ह्रस्व 'अ' का उच्चारण संवृत आस्य-प्रयत्न द्वारा ही होता था तथा स्थान और करण के विषय में स्पष्टतः सभी प्रातिशाख्यों में मतैक्य तो नहीं पाया जाता, परन्तु तात्विक दृष्टि से सभी के मत समान ही हैं। अकार को मात्राधिक्य के साथ उच्चरित करने से दीर्घ एवं प्लुत आकार की उपलब्धि होती है। आकार के उच्चारण के प्रसंग में च० अ० १।३५ में विधान किया गया है कि आकार का उच्चारण विवृततम आस्य-प्रयत्न द्वारा होता है। अर्थात् आकार के उच्चारण में मुखविवर अधिक खुला रहता है।[2] इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि च० अ० की रचना के समय अथर्ववेद के मन्त्रों की पाठ करने वाली प्रक्रियाओं में आकार, एकार तथा ओकार स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर की समान अवस्था रहती थी।

इवर्ण—इवर्ण के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत सभी रूपों का उच्चारण-स्थान 'तालु-प्रदेश' माना जाता है। तै० प्रा० २।२२ में जिह्वामध्य को इवर्ण के उच्चारण में सक्रिय अंग (करण) स्वीकार करते हुए कहा गया है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के समीप लाना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वा के मध्य-भाग को तालु के समीप ले जाते हैं तथा इस अवस्था को तब तक बनाये रखते हैं, जब तक इवर्ण का उच्चारण होता रहता है। इस स्थिति को नष्ट कर देने से इवर्ण का उच्चारण होना भी नष्ट हो जाता है। इस स्थिति में यदि जिह्वा को इवर्ण के उच्चारण की अवस्था से अधिक ऊपर उठायेंगे तो इवर्ण का समानस्थानी अन्तस्थ व्यञ्जन (यकार) उच्चरित हो जाएगा तथा यदि

---

१. अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः।—पा० सू० १।१।२ पर म० भा०
२. ततोऽप्याकारस्य।—च० अ० १।३५
३. तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे।—तै० प्रा० २।२२

जिह्वामध्य द्वारा तालु का स्पर्श हो जाएगा तब चवर्गीय वर्ण का उच्चारण हो जाएगा। वा० प्रा० १।६६,७९ के अनुसार तथा च० अ० १।२१ के अनुसार इवर्ण के उच्चारण में तालु 'स्थान' तथा जिह्वामध्य 'करण' है।[1] ऋ० प्रा० १।४२ तथा ऋ० तं० २।५ में तालु को इवर्ण का स्थान कहा गया है, परन्तु करण के विषय में सूत्रकार मौन हैं। परवर्ती वैयाकरण भी इवर्ण के उच्चारण-स्थान के रूप में तालु प्रदेश को ही बतलाते हैं।

वास्तव में इवर्ण तथा अन्य सभी तालव्य वर्णों को तालु (मुखछत) के कठोर प्रदेश से उच्चरित होने के कारण 'कठोर तालव्य' स्वर कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इवर्ण के उच्चारण की प्रक्रिया के प्रसंग में सभी प्रातिशाख्य एकमत हैं।

उवर्ण—सभी प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रंथों में उवर्ण के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत सभी रूपों को ओष्ठस्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। इन वर्णों के उच्चारण में नीचे का ओष्ठ सक्रिय होने से करण एवं ऊपर का ओष्ठ अचल होने से स्थान का कार्य करता है। तै० प्रा० २।२४ में स्पष्टतः कहा गया है कि उवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का परस्पर उपसंहार होता है।[2] अर्थात् दोनों ओष्ठ परस्पर समीप आ जाते हैं। इसी सूत्र पर त्रि० व्याख्या में कहा गया है कि यहाँ ओष्ठोपसंहार से तात्पर्य पूर्ववत् सन्निकृष्टतामात्र नहीं है, अपितु दोनों ओष्ठ परस्पर समीप में आकर फैल जाते हैं तथा फैलकर लम्बे हो जाते हैं। जिससे वे आगे की ओर निकल जाते हैं।[3] ध्यातव्य है कि सभी उच्चारणावयवों में जिन्हें स्थान कहा गया है—उनमें ओष्ठ ही एक ऐसा अङ्ग है जो निष्क्रिय न होकर सक्रिय रहता है। च० अ० १।२५ में ओष्ठ्य वर्णों के करण के रूप में अधरोष्ठ को स्वीकार किया गया है तथा भाष्यकार द्वारा उवर्ण को भी ओष्ठ्यवर्ण ही माना गया है।[4] वा० प्रा० १।७० तथा १।८० के अनुसार उवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ ही स्थान तथा करण दोनों होते हैं। तात्पर्य यह है कि उवर्ण के उच्चारण में ऊपर का ओष्ठ स्थान तथा नीचे का ओष्ठ करण है।[5] ऋ० प्रा० १।४७,

---

१. इचशेयास्तालौ तालुस्थानामध्येन।—वा० प्रा० १।६६ व ७९, तालव्यानां मध्यजिह्वम्।—च० अ० १।२१

२. ओष्ठोपसंहार उवर्णे।—तै० प्रा० २।२४

३. अत्र ओष्ठोपसंहार पूर्ववन्न सन्निकृष्टतामात्रं किन्तु सन्निकृष्टावोष्ठौ दीर्घौ च स्याताम्।—तै० प्रा० २।२४ पर त्रि०

४. ओष्ठ्यानामधरोष्ठम्।—चतुरध्यायिका १।१५ तथा इसी सूत्र पर भाष्य

५. उवोपोपध्मा ओष्ठे।—वा० प्रा० १।७०; समानस्थानकरणाः नासिक्यौष्ठ्याः।—वा० प्रा० १।८०

व्यास-शिक्षा २८४ तथा ऋ० तं० ९ के आधार पर भी उवर्ण का उच्चारण ओष्ठ स्थान से ही होता है।[1]

ओष्ठ्य स्वरों के उच्चारण में होने वाले ओष्ठोपसंहार के विषय में तै० प्रा० २।२५ में अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस सूत्र का तात्पर्य है कि यदि किसी शब्द में एक से अधिक ओष्ठ्य स्वर हैं, तब प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर में पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार न होकर केवल वहीं पर पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा जहाँ दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य कम-से-कम एक मात्रा का व्यवधान हो। यदि सम्बद्ध दोनों ओष्ठ्य स्वरों के मध्य आधी मात्रा का व्यवधान होगा, तो एक ही ओष्ठोपसंहार से दोनों स्वरों का उच्चारण हो जाएगा। उदाहरणार्थ—'उत्पूतशुष्पम्' शब्द में 'पू' के 'ऊ' तथा 'शु' के 'उ' के मध्य एकाधिक मात्रा का व्यवधान होने से उनका उच्चारण पृथक् किये गये ओष्ठोपसंहार द्वारा होता है तथा पदादि 'उ' एवं 'पू' के 'ऊ' के मध्य भी एक मात्रा काल का व्यवधान होने से पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा। इसी प्रकार 'बाहुवोर्बलम्' में 'हु' के 'उ' एवं 'वो' के 'ओ' के मध्य आधी मात्रा काल का व्यवधान होने से इन दोनों ओष्ठ्य स्वरों ('उ' तथा 'ओ') का उच्चारण एक ही ओष्ठोपसंहार से हो जाएगा।[2]

ऋवर्ण एवं ऌवर्ण—ऋवर्ण तथा ऌवर्ण के उच्चारण के सम्बन्ध में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। वा० प्रा० १।६५ के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत ऋकार का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है।[3] तथा वा० प्रा० १।८३ के अनुसार हनुमूल 'करण' है।[4] वा० प्रा० के विधान के अनुसार ऐसा स्पष्ट होता है कि ऋवर्ण के उच्चारण में स्थान एवं करण दोनों सक्रिय होकर कार्य करते हैं। वा० प्रा० १।६९ तथा १।७९ में विधान किया गया है कि ऌवर्ण के उच्चारण में दन्त 'स्थान' (१।६९) तथा जिह्वाग्र 'करण' (१।७९) है।[5] ऋ० प्रा० १।४१ के अनुसार ऋवर्ण एवं ऌवर्ण का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है।[6] तै० प्रा० २।१८ में यह बतलाया गया

---

१. शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्···।—ऋ० प्रा० १।४७, द्रष्टव्य व्या० शि० २८४ तथा ऋ० तं० ९

२. एकान्तरस्तु सर्वत्र प्रकृतात्।—तै० प्रा० २।२५ तथा द्रष्टव्य इसी सूत्र पर त्रि०

३. ऋ ⁀ कौ जिह्वामूले।—वा० प्रा० १।६५

४. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन।—वा० प्रा० १।८३

५. ऌलसिताः दन्ते।—वा० प्रा० १।६९, दन्त्याः जिह्वाग्रकरणाः।—वा० प्रा० १।७९

६. ऋकारऌकारौ अथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्चवर्गः। ऋ० प्रा० १।४१

है कि ऋकार, ॠकार तथा लृकार के उच्चारण में दोनों जबड़े अधिक समीप में आ जाते हैं तथा जिह्वा के अग्रभाग को वर्स्व के समीप ले जाया जाता है।[1] वैदिकाभरणकार ने वर्स्व को इन वर्णों का स्थान एवं जिह्वा और हनू को करण माना है।[2] च० अ० १।२० के अनुसार जिह्वामूलीय वर्णों का करण हनुमूल है।[3] जिह्वामूलीय वर्णों में भाष्यकार द्वारा ऋवर्ण का परिगणन किया गया है। इस प्रकार च० अ० इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वामूल और हनुमूल दोनों का योगदान मानती है। वस्तुतः जिह्वामूल तथा हनुमूल दोनों परस्पर एक दूसरे के समीप पहुँच कर स्वर-यन्त्र से आती हुई घोष-रूप वायु को विकृत करके इन वर्णों की सृष्टि करते हैं। परवर्ती वैयाकरणों ने ऋवर्ण को मूर्धन्य एवं लृवर्ण को दन्त्य ध्वनि स्वीकार किया है।[4] ऋवर्ण और लृवर्ण को सवर्ण सिद्ध करने वाला वार्तिक इन दोनों वर्णों का उच्चारण-स्थान समान स्वीकार करता है।[5]

वस्तुतः ऋवर्ण एवं लृवर्ण मिश्रित ध्वनियाँ हैं। अतः इनका उच्चारण अन्य स्वरों की अपेक्षा किञ्चित् कठिनता से हो पाता है। इसीलिए परवर्ती काल में ऋवर्ण का उच्चारण जिह्वामूल आदि स्थानों से न होकर मूर्धा स्थान से होने लगा। वैयाकरणों के अनुसार रेफ का भी उच्चारण मूर्धा से ही होता है। अतः ऋवर्ण का उच्चारण 'रि' के सदृश होने लगा। इसी प्रकार लृवर्ण का उच्चारण भी कठिन होने से परवर्ती काल में 'ल्+र्+इ' के रूप में होने लगा। ऋवर्ण एवं लृवर्ण के मिश्रित रूप के विषय में 'कतिपय वर्णों के स्वरूप' के विवेचन-प्रसंग में विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

एकार—वा० प्रा० १।६६ के अनुसार एकार का उच्चारण-स्थान तालु है तथा तालु स्थान होने से वा० प्रा० १।७९ के अनुसार एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य करण है।[6] अर्थात् अन्दर से आती हुई वायु को, जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप उठाकर विकृत करके एकार को उच्चरित किया जाता है। ऋ० प्रा०

---

१. उपसहृततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारलकारेषु वर्स्वेषूपसंहरति।—तै० प्रा० २।१८

२. एतेषां वर्स्व-स्थानं जिह्वाहनू च करणम्।—तै० प्रा० २।१८ पर वै०

३. जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्।—च० अ० १।२०

४. ऋटुरषाणां मूर्धा, लृतुलसानां दन्त्याः।—सि० कौ०

५. ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।—पा० सू० १।१।९ पर वार्तिक

६. इचशेयास्तालौ।—वा० प्रा० १।६६, तालुस्थाना मध्येन।—वा० प्रा० १।७९

१।४२ एवं ऋ० तं० ५ के अनुसार भी एकार का उच्चारण-स्थान तालु ही है।[1] च० अ० भी वा० प्रा० की भाँति एकार को तालु स्थान एवं जिह्वामध्य-करण द्वारा उत्पन्न होने वाला वर्ण मानती है।[2] तथा इस वर्ण के उच्चारण में विवृततम आभ्यन्तर प्रयत्न को स्वीकार करती है।[3] तै० प्रा० २।१५ से १७ तक तीन सूत्रों में एकार के उच्चारण के प्रसङ्ग में विशेष विवेचन किया गया है। तै० प्रा० २।१७ में स्पष्ट कहा गया है कि एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य के किनारों से ऊपर वाले जबड़े के मूल के किनारों का स्पर्श करते हैं।[4] तै० प्रा० २।१५ में यह कहा गया है कि एकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठ थोड़े से फैले हुए रहते हैं।[5] अर्थात् दोनों ओष्ठ परस्पर सन्निकृष्ट नहीं होते। उनमें परस्पर विवृतता होती है। तै० प्रा० २।१६ के अनुसार एकार के उच्चारण में दोनों जबड़े अत्यन्त समीप में स्थित होते हैं।[6] तै० प्रा० २।१७ पर वै० में विधान किया गया है कि जिह्वामध्य के किनारों का ऊपर के जबड़े के मूल के किनारों के साथ स्पर्श केवल वहाँ होता है जहाँ पर एकार के पूर्व व्यञ्जन नहीं उच्चरित होता तथा जिस एकार के पूर्व व्यञ्जन भी उच्चरित होगा, उसके उच्चारण में स्पर्श नहीं होता है।[7] तै० प्रा० २।२३ पर त्रि० के अनुसार व्यञ्जन-रहित एकार का उच्चारण-स्थान हनुमूल तथा करण जिह्वामध्यान्त है तथा व्यञ्जन-युक्त एकार का उच्चारण-स्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि व्यञ्जनयुक्त एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के समीप ले जाते हैं। यद्यपि इवर्ण के उच्चारण में भी जिह्वामध्य को तालु के समीप ले जाया जाता है, परन्तु दोनों अवस्थाओं में अन्तर है। एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के उतना समीप में नहीं ले जाया जाता, जितना कि इवर्ण के उच्चारण में, ले जाया जाता है क्योंकि एकार की

---

१. तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः।—ऋ० प्रा० १।४२, तालुनि श्च्ये।—ऋ० तं० ५

२. तालव्यानां मध्यजिह्वम्।—च० अ० १।२१

३. एकारौकारयोर्विवृततमम्।—च० अ० १।३४

४. जिह्वामध्यान्ताभ्यां चोत्तराञ्जम्भ्यान्त्स्पर्शयति।—तै० प्रा० २।१७

५. ईषत्प्रकृष्टावेकारे।—तै० प्रा० २।१५

६. उपसंहृततरे हनू।—तै० प्रा० २।१६

७. अत्र अव्यञ्जनपूर्वक एकार स्पर्शनम्। व्यञ्जनपूर्वके तु न स्पर्शनमिति विभागः। —तै० प्रा० २।१७ पर वै०

निष्पत्ति अकार और इकार के योग से होती है। इनमें से अकार के उच्चारण का जिह्वामध्य और तालु से कोई सम्बन्ध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि तै० प्रा० के अनुसार एकार के दो उच्चारण-स्थान हैं। व्यञ्जन-रहित एकार का उच्चारण-स्थान हनुमूल है एवं व्यञ्जनयुक्त एकार का उच्चारण-स्थान तालु है। इसी प्रकार उनके करण भी भिन्न-भिन्न हैं। व्यञ्जनरहित एकार का करण जिह्वामध्यान्त है एवं व्यञ्जनयुक्त एकार का करण जिह्वामध्य ही है। परन्तु वैदिकाभरणकार के अनुसार व्यञ्जन-रहित एवं व्यञ्जनयुक्त दोनों प्रकार के एकार के उच्चारण में हनुमूल 'स्थान' एवं जिह्वामध्य 'करण' है। वैयाकरणों ने एकार को कण्ठ और तालु दोनों स्थानों के योग से उत्पन्न होने वाली ध्वनि माना है। अर्थात् केवल तालु से ही एकार का उच्चारण नहीं हो सकता। वास्तव में एकार की उत्पत्ति दो मूल स्वरों (अ + इ) के योग से होती है। अकार कण्ठस्थानी एवं इकार तालु स्थानी वर्ण होने से एकार के भी उक्त दो उच्चारण-स्थान सिद्ध होते हैं। इस वर्ण के संध्यक्षरत्व के ऊपर आगे विशेष विचार किया जायेगा।

ऐकार—ऋ० प्रा० १।४२ में ऐकार को तालव्य स्वर कहा गया है।[1] च० अ० १।२१ में सूत्रकार ऐकार को मध्यजिह्वा से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करता है।[2] यद्यपि सूत्रकार ने यह नहीं बतलाया है कि कौन-कौन वर्ण तालु से उच्चरित होते हैं। परन्तु भाष्यकार ऐकार को तालु से उच्चरित होने का उल्लेख करता है। तालव्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग ऊपर उठकर तालु (कठोर तालु) का स्पर्श करता है अथवा उससे समीपता प्राप्त करता है। ऋ० तं०, वा० प्रा० एवं तै० प्रा० में ऐकार के उच्चारण के लिए किसी स्वतन्त्र उच्चारण-स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण यही है कि एकार भी सन्ध्यक्षर होने से दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने वाला वर्ण है। इन ग्रन्थों के अनुसार ऐकार का उच्चारण दो स्थानों से होता है। वे दो स्थान वही हैं जो इसके मूलभूत स्वर अकार एवं इकार अथवा एकार के उच्चारण में कार्य करते हैं।[3] वा० प्रा० १।७३ में सूत्रकार ने ऐकार के संध्यक्षरत्व का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ऐकार में पूर्ववर्तीमात्रा कण्ठ्यवर्ण (अकार) की है एवं परवर्ती मात्रा तालव्यवर्ण

---

१. तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः।—ऋ० प्रा० १।४२

२. तालव्यानां मध्यजिह्वम्।—च० अ० १।२१

३. इसका तात्पर्य है कि वा० प्रा० आदि कतिपय ग्रंथों में ऐकार में अकार तथा एकार का योग स्वीकार किया गया है।

एकार की है।[1] फलतः वा० प्रा० के अनुसार ऐकार के कण्ठ और तालु दो उच्चारण-स्थान सिद्ध होते हैं। कण्ठ और तालु स्थान होने से 'हनुमध्य' एवं 'जिह्वाग्र' करण सम्भावित हैं। वा० प्रा० के भाष्यकारों का कथन है कि ऐकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण अकार की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा तालव्यवर्ण एकार की है। अतः ऐकार के उच्चारण में जिह्वा सर्वप्रथम कण्ठ के समीप जाकर पुनः तालु की ओर अग्रसर हो जाती है। वैयाकरणों ने इसीलिए ऐकार को कण्ठ्यतालव्य ध्वनि स्वीकार किया है। तै० प्रा० में प्राप्त विधान भी वा० प्रा० में प्राप्त होने वाले विधान से पर्याप्त साम्य रखता है। तै० प्रा० २।२६ के अनुसार ऐकार के आदि में अकार की आधी मात्रा होती है। अतः ऐकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा का उच्चारण अकार के उच्चारण-स्थान एवं करण से होता है। चूंकि अकार का उच्चारण-स्थान हनू एवं करण ओष्ठ है,[2] इसलिए ऐकार की प्रारम्भिक आधी मात्रा का उच्चारण हनू एवं ओष्ठ के माध्यम से होगा। तै० प्रा० २।२८ के अनुसार ऐकार के उच्चारण का परवर्ती डेढ़ मात्रा-कालिक अंश इकार का होता है।[3] अतः ऐकार का परवर्ती शेष भाग इकार के स्थान एवं करण से उच्चरित होता है। इकार का उच्चारण-स्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य है। इस प्रकार ऐकार के उच्चारण में दो स्थान एवं दो करण कार्य करते हैं। तै० प्रा० २।२७ में यह भी उल्लेख किया गया है कि कतिपय विद्वान् यह मानते हैं कि ऐकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती अंश अर्थात् अकार का आभ्यन्तर-प्रयत्न संवृततर होता है। अर्थात् ऐकार के अंशभूत अकार के उच्चारण में मुख-विवर बन्द सा रहता है। इस कथन का तात्पर्य है कि ऐकार के प्रारम्भिक अंश 'अकार' के उच्चारण में चूंकि ओष्ठ और हनू एक दूसरे के अत्यधिक समीप आ जाते हैं, परिणामतः मुख-विवर अत्यन्त सकरा हो जाता है। वास्तव में ऐकार दो स्वर वर्णों के मिश्रित उच्चारण से युक्त होने पर भी एक वर्णवत् श्रुतिगोचर होता है।

ओकार— वा० प्रा० १।७० के अनुसार दीर्घ एवं प्लुत ओकार का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है तथा वा० प्रा० १।८० के अनुसार करण भी ओष्ठ ही है।[4] अर्थात् ओकार के उच्चारण में ऊपर का ओठ स्थान एवं नीचे का ओठ

---

१. ऐकारौकारयोः कण्ठ्यापूर्वामात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा।—वा० प्रा० १।७३
२. अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः।—तै० प्रा० २।२६ तथा द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।१२ पर वै०
३. एकारोऽध्यर्धं पूर्वस्य शेषः।—तै० प्रा० २।२८
४. उवो पोपधमा ओष्ठे।—वा० प्रा० १।७०, समानस्थानकरणाः नासिक्यौष्ठ्याः। —वा० प्रा० १।८०

करण है। ऋ० प्रा० १।४७, ऋ० तं० ६ तथा च० अ० १।२५ में भी ओकार को ओष्ठ-स्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है।[1] च० अ० में स्पष्टतः नीचे वाले ओष्ठ को करण कहा गया है। तै० प्रा० २।१३, १४ में विधान किया गया है कि ओकार के उच्चारण में जबड़े अधिक दूर नहीं होते तथा ओष्ठ परस्पर अधिक समीप में होते हैं।[2] तै० प्रा० २।१४ पर त्रि० में आचार्य वररुचि और माहिषेय के मत को उद्धृत किया गया है। वररुचि के अनुसार ओकार चाहे व्यञ्जनयुक्त हो चाहे व्यञ्जनरहित हो, उसका उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए। जबकि माहिषेय के अनुसार केवल व्यञ्जन-सहित ओकार का उच्चारण करते समय ही ओष्ठों को एक दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए।[3] इस प्रकार ओकार के उच्चारण में हनू और ऊपर का ओष्ठ स्थान एवं नीचे का ओष्ठ करण है।[4] इस प्रकार सभी प्रातिशाख्यों में ओकार को ओष्ठ्य ध्वनि माना गया है।

औकार—औकार को भी सभी प्रातिशाख्य कण्ठ्योष्ठ वर्ण स्वीकार करते हैं। वा० प्रा० १।७३ में औकार के संध्यक्षरत्व के विश्लेषण के प्रसंग में सूत्रकार ने कहा है कि औकार की पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य एवं परवर्ती मात्रा ओष्ठ्य वर्ण की है।[5] कण्ठ और ओष्ठ स्थान होने से वा० प्रा० १।८०, ८४ के अनुसार निचले ओष्ठ तथा हनुमध्य को औकार का करण कहा जा सकता है।[6] तै० प्रा० भी औकार की द्विस्थानता का विधान करता है। तै० प्रा० २।२९ में औकार की परवर्ती डेढ़ मात्रा को ओष्ठ से उच्चरित होने वाली बतलाया गया है। क्योंकि उकार का उच्चारण ओष्ठ से ही होता है। तै० प्रा० २।२६ के आधार पर औकार की पूर्ववर्ती आधी मात्रा अकार का होने से हनू तथा ओष्ठ को भी इस वर्ण का स्थान स्वीकार किया गया है।[7] ओष्ठ्य स्वरों के उच्चारण के प्रसंग में तै० प्रा० २।२५ में विशेष विधान पाया जाता है। जिसका विशद् विवेचन उवर्ण के उच्चारण-प्रसंग

---

१. शेष ओष्ठ्योऽपवाद्यनासिक्यान्।—ऋ० प्रा० १।४७, ओष्ठ्ये वो‿पू।—ऋ० तं० ६, ओष्ठ्यानामधरोष्ठम्।—च० अ० १।२५
२. ओकारे च, ओष्ठी तूपसंहृततरौ।—तै० प्रा० २।१३, १४
३. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।१४ पर त्रि०
४. ओकारस्य हनू उत्तरोष्ठश्च स्थानमधरोष्ठकरणम्।— तै० प्रा० २।१४ पर वै०
५. ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वमात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा।—वा० प्रा० १।७३
६. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः कण्ठ्याः मध्येन।—वा० प्रा० १।८०, ८४
७. ऊकारस्तूत्तरस्य, अकारार्धमैकारौकारयोरादिः।—तै० प्रा० २।२९, २६

में किया जा चुका है। यहाँ पर उसका संकेत मात्र किया जा रहा है। वैदिकाभरण के अनुसार यदि किसी शब्द में दो या दो से अधिक ओष्ठ्य स्वर हैं, परन्तु उनमें प्रथम स्वर को छोड़कर अन्य कोई ओष्ठ्य स्वर औकार है तो उनमें आधी मात्रा काल का व्यवधान होने पर भी प्रत्येक ओष्ठ्य-स्वर के लिए पृथक् ओष्ठोपसंहार करना होगा।[1]

इस प्रकार सभी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ औकार को प्राधान्यतः ओष्ठ्य वर्ण स्वीकार करते हैं तथा संध्यक्षरत्व के दृष्टिकोण से औकार की द्विस्थानता भी बतलाते हैं।

विशेष—स्वरों में ए, ओ, ऐ एवम् औ को सभी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ संध्यक्षर स्वीकार करते हैं तथा उनके उच्चारण के विषय में किञ्चित् विशेष विधान करते हैं। अतः इन सबका विशेष विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जाएगा।

स्पर्श-वर्णों का उच्चारण

पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है—कि स्पर्श-व्यञ्जनों के उच्चारण में मुख के दो अवयव (स्थान और करण) परस्पर स्पर्श करते हैं। अर्थात् स्पर्श वर्णों के उच्चारण में सक्रिय अङ्ग (करण) निष्क्रिय अङ्ग (स्थान) का पूर्णतया स्पर्श करते हैं। स्पर्श ध्वनियों की उच्चारण-प्रणाली को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१–अवरोध और २–उन्मोचन। प्रथम स्थिति में भाषणावयवों के परस्पर स्पर्श होने के कारण फेफड़े से आई हुई वायु का अवरोध हो जाता है। अर्थात् फेफड़े से चलकर स्वतंत्रियों से विकृत होकर मुख-विवर में आई हुई वायु उच्चारण-स्थानपर करण द्वारा किये गये स्पर्श से मार्गावरोध हो जाने से वहीं पर रुक जाती है। इस अवरोध के समय तक कोई भी ध्वनि श्रुतिगोचर नहीं होती है। पुनः अवरोध समाप्त होने पर अर्थात् उच्चारणाङ्गों का पारस्परिक स्पर्श समाप्त होने पर, रुकी हुई वायु एक स्फोटन के साथ बाहर निकलती है। जिस समय उच्चारणाङ्गों का पारस्परिक स्पर्श समाप्त होता है, उसी समय ध्वनि श्रुतिगोचर हो जाती है।

स्पर्श-व्यञ्जनों के उच्चारण में उन्मोचन या स्फोटन के समय वायु-प्रवाह कम भी हो सकता है और अधिक भी हो सकता है। वायु-प्रवाह के आधिक्य में स्फोटन जितना स्पष्ट होता है, उतना कम में नहीं। वायु के अधिक जोर से निकलते समय एक प्रकार की (ह्) ध्वनि सुनाई पड़ती है। कम वायु के साथ स्फोटित ध्वनि को अल्पप्राण एवं अधिक वायु के साथ स्फोटित ध्वनि को महाप्राण

---

१. औकारे त्वेकव्यञ्जनान्तरितेऽपि ओष्ठोपसंहारस्य तच्छेषमात्रगोचरत्वात् एकान्तरताऽस्तीति।—तै० प्रा० २।२५ पर वै०

ध्वनि कहते हैं। जैसा कि तै० प्रा० २।११ के वैदिकाभरण भाष्य में स्पष्ट किया गया है।[1] स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में होने वाला उन्मोचन या स्फोटन कभी पूर्ण होता है तथा कभी अपूर्ण होता है। स्फोटन के पूर्ण होने पर ध्वनि भी पूर्ण होती है एवं अपूर्ण होने पर ध्वनि अपूर्ण एवं अस्पष्ट होती है। पूर्ण उच्चारण की स्थिति तभी होती है, जब स्पर्श वर्ण अकेले उच्चरित हो रहा हो या किसी स्वर के पूर्व उच्चरित हो रहा हो। परन्तु जब स्पर्श वर्ण के बाद कोई दूसरा स्पर्श वर्ण होगा तो पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण अपूर्ण ही होगा। यह अपूर्ण उच्चारण दो स्थितियों में होता है। प्रथम वह स्थिति है जब उन्मोचन या स्फोटन के पूर्व ही उच्चारणावयवों को किसी अन्य ध्वनि के उच्चारण के लिए तैयार होना पड़ता है। ऐसा संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण में होता है। इस स्थिति में सर्व प्रथम स्पर्श के उच्चारण के लिए वायु उच्चारण-स्थान पर आती है पुनः उसके स्फोटन होने के पूर्व ही उच्चारणाङ्ग (करण) अग्रिम स्पर्श के उच्चारण के लिए दूसरे स्थान का आश्रय ले लेता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वायु का स्फोटन पूर्णरूप से नहीं हो पाता। फलस्वरूप पूर्ववर्ती स्पर्श अस्पष्ट ही रह जाता है। द्वितीय स्थिति है—शब्द के अन्त में आने वाले अल्पप्राण स्पर्श वर्णों की। अर्थात् शब्द के अन्त में आने वाले अल्पप्राण स्पर्श भी अस्फोटित ही रहते हैं। फलतः ध्वनि अपूर्ण ही श्रुतिगोचर होती है। 'रक्त' शब्द में 'क्' का उच्चारण अपूर्ण स्पर्श का उदाहरण है। इस शब्द के उच्चारण में 'क्' के लिए मुखरन्ध्र में जो वायु का अवरोध होता है, उसके समाप्त होने के पहले ही 'त्' के उच्चारण के लिए एक दूसरा अवरोध बन जाता है परिणामतः 'क्' के उन्मोचन के लिए कोई अवसर नहीं मिलता। इस स्थल पर 'क्' और 'त्' के उच्चारण के लिए दो स्फोटन होने के स्थान पर एक ही स्फोटन हो पाता है। फलतः 'क्' ध्वनि अपूर्ण ही सुनी जाती है।

प्रस्तुत स्थल पर स्पर्श वर्णों के प्रत्येक वर्ग की उच्चारण-प्रक्रिया तथा उच्चारण में स्थान-करण आदि का विशद विवेचन किया जा रहा है—

कवर्ग—सभी प्रातिशाख्यों में कवर्ग का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल को बतलाया गया है।[2] च० अ० १।२० तथा वा० प्रा० १।८३ के अनुसार जिह्वामूल-

---

१. तदुक्तं शिक्षायां-महति वायौ महाप्राणाः अल्पे वायौ अल्पप्राणाः।—तै० प्रा० २।११ पर वैदिकाभरण भाष्य

२. ऋक्कौ जिह्वामूले—वा० प्रा० १।६५, ऋकारल्कारावथषष्ठऊष्माजिह्वामूलीयाः प्रथमश्चवर्गः।—ऋ० प्रा० १।४१, जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्।—च० अ० १।२०, जिह्वामूले ✕ कृ।—ऋ० तं० ४

स्थानीय वर्णों का करण हनुमूल है।[1] अर्थात् कवर्ग के उच्चारण में हनुमूल द्वारा जिह्वामूल का स्पर्श किया जाता है। परन्तु तै० प्रा० २।३५ के विधान के आधार पर कवर्ग के उच्चारण में जिह्वामूल के द्वारा हनुमूल पर स्पर्श किया जाता है।[2] तै० प्रा० का मत अन्य प्रातिशाख्यों के मतों के विपरीत है। जिह्वामूलीय वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया के विषय में तै० प्रा० का अन्य प्रातिशाख्यों के साथ मतभेद है। प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी ने तै० प्रा० के मत को अपेक्षाकृत अधिक समीचीन माना है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी तै० प्रा० के मत से ही अधिक सहमत हैं और इन वर्णों को कोमलतालव्य कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। जिह्वामूल सक्रिय अङ्ग है, अतः वही उठकर हनुमूल और कोमलतालु आदि अङ्गों का स्पर्श करता है। वास्तव में सभी उच्चारणाङ्गों में जिह्वा ही सबसे अधिक क्रियाशील अङ्ग है। अतः वर्णोत्पत्ति-प्रक्रिया में उसका योगदान करण के रूप में अधिक उचित प्रतीत होता है। यद्यपि कोमलतालु तथा हनुमूल भी कुछ-न-कुछ क्रियाशीलता अवश्य प्रदर्शित करते हैं परन्तु उन्हें करण स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध ध्वनि-वैज्ञानिक 'डब्ल्यू सिडनी एलेन' ने भी जिह्वामूल को ही करण स्वीकार किया है। हनुमूल का तात्पर्य ऊपरी जबड़े के मूलभाग से है।[3] 'चन्द्रगोमी-वर्णसूत्र' एवं 'सिद्धान्त कौमुदी' कवर्ग को कण्ठ स्थानीय वर्ण स्वीकार किये हैं।[4] सि० कौ० के सूत्र पर टिप्पणी करते हुए नागेश ने ल० श० शे० में कहा है कि यहाँ कण्ठ पद का अर्थ—कण्ठ-स्थान एवं उसके समीपस्थित जिह्वामूल दोनों हैं, साथ ही नागेश कवर्ग को इन्हीं स्थानों से उच्चरित होने वाली ध्वनि मानते हैं।[5] उपर्युक्त सभी मतों में तै० प्रा० का मत अधिक समीचीन है।

चवर्ग—सभी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में चवर्ग का उच्चारण-स्थान तालु बतलाया गया है।[6] च० अ० १।२१ तथा वा० प्रा० १।७९ में 'जिह्वामध्य' को चवर्ग का करण बतलाया गया है। अर्थात् इन ग्रन्थों के अनुसार चवर्ग के

---

१. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन।—वा० प्रा० १।८३
२. हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति।—तै० प्रा० २।३५
३. द्रष्टव्य—Phonetics in Ancient India Page 5
४. कण्ठः अकुहविसर्जनीयानाम्।—च० व० सू० ३, अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। —सि० कौ०
५. अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम्। तेन कण्ठ्या वह्नी जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः इति शिक्षया न विरोधः।—ल० श० शे० पृष्ठ २८
६. द्रष्टव्य—इचशेयास्तालौ—वा० प्रा० १।६६, तालव्यावेकारचकावर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः।—ऋ० प्रा० १।४२, पा० शि० १७

उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग ऊपर उठकर तालु का स्पर्श करता है।[1] तै० प्रा० २।३६ में विधान किया गया है, कि चवर्ग के उच्चारण के लिये जिह्वामध्य से तालु पर स्पर्श किया जाता है।[2]

टवर्ग—सभी प्रातिशाख्य, शिक्षाग्रन्थ एवं वैयाकरण टवर्ग को मूर्धास्थानीय ध्वनि स्वीकार करते हैं तथा तै० प्रा० २।६७, च० अ० १।२२ एवं वा० प्रा० १।७८ के अनुसार टवर्ग का करण जिह्वाग्र है।[3] च० अ० में विधान किया गया है कि मूर्धन्य वर्णों के उच्चारण में ऊपर की ओर मुड़ा हुआ जिह्वाग्र करण का कार्य करता है। तै० प्रा० २।३७ में तो स्पष्टतः यह कहा गया है कि टवर्ग के उच्चारण में जिह्वाग्र को ऊपर की ओर मोड़कर मूर्धा पर स्पर्श किया जाता है। प्रसिद्ध ध्वनि-वैज्ञानिक 'डेनियल जोन्स' ने भी उपर्युक्त तथ्य को ही स्वीकार किया है।[4] अनेक आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक टवर्ग को प्रतिवेष्टित ध्वनि कहना अधिक ठीक समझते हैं।

तवर्ग—तवर्ग के उच्चारण-स्थान के विषय में सभी प्रातिशाख्यों के विधानों में समानता नहीं है। वा० प्रा० १।६६ तथा च० अ० १।२४ में तवर्ग को दन्त-स्थानीय वर्ण कहा गया है,[5] परन्तु ऋ० प्रा० १।४४ एवं तै० प्रा० २।३८ में दन्तमूल प्रदेश को तवर्ग का उच्चारण-स्थान बतलाया गया है।[6] च० अ० के अनुसार प्रस्तीर्ण (फैले हुए) जिह्वाग्र से दन्त-प्रदेश पर स्पर्श करके तवर्ग

---

१. तालव्यानां मध्यजिह्वम्।—च० अ० १।२१, तालुस्थानामध्येन—वा० प्रा० १।७९

२. तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे।—तै० प्रा० २।३६

३. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे।—तै० प्रा० २।३७, मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम्।—च० अ० १।२२, मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्।—वा० प्रा० १।७८, षटौ मूर्धनि।—वा० प्रा० १।६७, मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ। —ऋ० प्रा० १।४३

४. जिह्वाग्रे प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे।—तै० प्रा० २।३७
द्रष्टव्य—Daniel Johns-An Outline of English Phonetics P. 119

५. लृलसिताः दन्ते।—वा० प्रा० १।६९, दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्।—च० अ० १।२४

६. दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः।—ऋ० प्रा० १।४४, जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। —तै० प्रा० २।३८

का उच्चारण किया जाता है। तै० प्रा० तवर्ग के उच्चारण के लिए फैले हुए जिह्वाग्र से दन्तमूल-प्रदेश पर स्पर्श करने का विधान करता है। सिद्धान्त कौमुदी, ऋ० तं० एवं पाणिनि-शिक्षा भी दन्त-प्रदेश को ही तवर्ग का स्थान बतलाते हैं। सिद्धान्त-कौमुदी पर टिप्पणी करते हुए ल० श० शे० के रचयिता नागेश का कहना है कि दाँत से तात्पर्य दाँतों से संयुक्त प्रदेश से भी है। इसीलिए भग्नदन्त व्यक्ति भी तवर्गीय वर्णों का उच्चारण कर लेता है।[1] नागेश की यह व्याख्या समीचीन है, क्योंकि यदि दाँतों पर स्पर्श करने से ही दन्त-स्थानीय वर्णों का उच्चारण सम्भव होता, तब ऐसी स्थिति में भग्नदन्त व्यक्ति इन वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकता है। परन्तु भग्नदन्त व्यक्तियों को भी तवर्ग तथा अन्य दन्त-स्थानीय ध्वनियों का उच्चारण करते देखा गया है। इस प्रसंग में दन्तमूल को स्थान स्वीकार करना अधिक वैज्ञानिक है।

पवर्ग—प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं वैयाकरणों के अनुसार पवर्ग का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है।[2] च० अ० के अनुसार ओष्ठ्य वर्णों के उच्चारण में नीचे का ओष्ठ करण कहलाता है। तै० प्रा० २।३९ में सूत्रकार ने ओष्ठ शब्द में द्विवचन का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है कि पवर्ग के उच्चारण में दोनों ओष्ठ सक्रिय होते हैं। त्रि० में यह भी कहा गया है कि दोनों ओष्ठों से परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करना चाहिए।[3] वैदिकाभरण के अनुसार नीचे वाला ओष्ठ अधिक क्रियाशील होता है एवं ऊपर वाला ओष्ठ अपेक्षाकृत कम क्रियाशील होकर कार्य करता है।[4] इस प्रकार तै० प्रा० का मत अधिक समीचीन एवं वैज्ञानिक है।

अन्तस्था वर्णों का उच्चारण

अन्तस्था वर्णों के उच्चारण में जिह्वा संवृत स्थान से विवृत स्थान की ओर चलती है। इसीलिये अन्तस्था वर्णों को अर्द्धस्वर भी कहा जाता है। अन्तस्था

---

१. दन्ता इति दन्तसंयुक्तदेशाः इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव। —ल० श० शे० पृ० २८

२. ओष्ठाभ्यां पवर्गे।—तै० प्रा० २।३९, शेष ओष्ठ्योऽपवाद्यनासिक्यान्।—ऋ० प्रा० १।४७, उवोपोपध्मा ओष्ठे।—वा० प्रा० १।७०, ओष्ठ्यानामधरोष्ठम्। —च० अ० १।२५, उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।—सि० कौ०

३. पवर्गे कार्ये ओष्ठाभ्यां अन्योन्यं स्पर्शयेत्।—तै० प्रा० २।२९ पर त्रि०

४. तत्राधरेण तु विचाल्यतरेण उत्तरं स्पर्शयति।—तै० प्रा० २।२९ पर वैदिकाभरण

वर्णों के उच्चारण में फेफड़े से चली हुई वायु स्वरतंत्रियों के दोनों परदों के माध्यम से सघोष हो जाती है। इसलिए इन अन्तस्था वर्णों का वाह्यप्रयत्न संवार, नाद एवं घोष है। आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है। क्योंकि इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा अपने कुछ भाग द्वारा तालु इत्यादि स्थानों का स्पर्श करती है, जिससे सम्पूर्ण वायु मुखविवर में न रुककर, कुछ मात्रा में निरन्तर बाहर निकलती रहती है। इन वर्णों के उच्चारण में वायु-प्रवाह की गति कुछ शिथिल रहती है। इन ध्वनियों के उच्चारण में 'करण' प्रथमतः स्वर के उच्चारण की स्थिति में रहता है, तत्पश्चात् इन वर्णों के निर्धारित स्थान को किञ्चित् स्पर्श करता है। करण की प्रथम अवस्था अत्यल्प काल तक रहती है। इन वर्णों को अन्तस्था कहने का भी कारण यही है कि इनके उच्चारण में न तो स्वरों के उच्चारण की भाँति करण उच्चारण-स्थान से पर्याप्त दूर ही रहता है और न तो स्पर्श वर्णों के उच्चारण की भाँति स्थान का पूर्णतया स्पर्श ही करता है। अब क्रमशः अन्तस्था वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया का विवेचन किया जा रहा है—

यकार—सभी प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं वैयाकरणों के अनुसार यकार तालु-स्थान से उच्चरित होता है।[1] तै० प्रा० के अनुसार यकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्यभाग के दोनों किनारों द्वारा 'तालु-स्थान' पर स्पर्श करना चाहिए। वा० प्रा० एवं च० अ० भी जिह्वामध्य को ही तालुस्थानीय वर्णों का करण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को उठाकर तालु पर स्पर्श किया जाता है। परन्तु यह स्पर्श इस प्रकार का होता है, जिससे मुख-विवर में वायु एक भी क्षण के लिए पूर्णरूप से अवरुद्ध नहीं होती। तै० प्रा० के विधान के अनुसार जब जिह्वामध्य के दोनों किनारे उठकर तालुप्रदेश का स्पर्श करते हैं, तब जिह्वामध्य के बीच वाले भाग से वायु निरन्तर बाहर निकलती रहती है। अर्थात् वायु-मार्ग का अवरोध पूर्णरूपेण न होने से वायु अतिशिथिल वेग से बाहर निकलती रहती है। इस प्रकार यकार के उच्चारण में होने वाला आभ्यन्तर-प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट कहलाता है। आधुनिक युग में यकार को सभी ध्वनि-वैज्ञानिक विद्वान् तालव्य ध्वनि नहीं मानते। कतिपय विद्वान् 'वर्त्स स्थान' से यकार का उच्चारण होना स्वीकार करते हैं।

रेफ—रेफ के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में लग-भग समान विचार प्राप्त होते हैं। वा० प्रा० १।५८, तै० प्रा० २।४१, च०

---

१. इचशेयास्तालौ।—वा० प्रा० १।६६, तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। —तै० प्रा० २।४०, तालुस्थाना मध्येन।—वा० प्रा० १।७९, तालव्यानां मध्यजिह्वम्।—च० अ १।२१

अ० १।२८ एवं ऋ० प्रा० १।४५ के अनुसार रेफ का उच्चारण दन्तमूल प्रदेश पर होता है।[1] ऋ० तं० ८ में रेफ को दन्तप्रदेश अथवा दन्तमूल-प्रदेश से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।[2] ऋ० प्रा० १।४६ में कहा गया है कि कतिपय आचार्य रेफ को 'वर्स्व्य' से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करते हैं।[3]

तै० प्रा० के अनुसार रेफ के उच्चारण में जिह्वाग्र के मध्यभाग से दन्तमूल के ऊपर वाले भाग के अन्दर की ओर स्पर्श करना चाहिए। दन्तमूल का सामान्य अर्थ है—दाँतों की जड़। यह वह स्थान है जहाँ दाँत और मसूड़ा परस्पर जुड़े होते हैं। परन्तु ध्वनि-उत्पत्ति में दन्तमूल से तात्पर्य है—अन्दर की ओर का वह स्थान जहाँ दाँत और मसूड़े जुड़े रहते हैं। तै० प्रा० में 'प्रत्यक्' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रत्यक् का अर्थ भाष्यकारों ने 'अन्दर स्थित उपरिभाग' किया है।[4] इस प्रकार तै० प्रा० के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि रेफ का उच्चारण 'वर्स्व' ही है, क्योंकि अन्य प्रातिशाख्यों में वर्त्स से तात्पर्य है—दन्तमूल से ऊपर का भाग। वा० प्रा० १।७७ के अनुसार जिह्वाग्र को ही रेफ का करण स्वीकार किया गया है।[5] रेफ के उच्चारण में अन्दर से आती हुई वायु को जिह्वाग्र के द्वारा दन्तमूल प्रदेश पर रोक दिया जाता है। फलस्वरूप वायु के आघात से जिह्वाग्र में कम्पन होता है। इसी कम्पन के परिणामस्वरूप रेफ ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है। तै० प्रा० १।१९ पर वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है कि रेफ के उच्चारण में वस्त्रादि को फाड़ने जैसी आवाज होती है। अतः इसे रेफ कहा जाता है।[6] इस कथन का तात्पर्य है कि रेफ के उच्चारण में जब जिह्वाग्र वर्त्स का स्पर्श करता है, तब उसमें एक प्रकार का कम्पन होता है। इसी कम्पन के फलस्वरूप रेफ का

---

१. रो दन्तमूले।—वा० प्रा० १।५८, रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। —तै०प्रा० २।४१, रेफस्य दन्तमूलानि।—च० अ० १।२८, सकाररेफलकाराश्च।—वा० प्रा० १।४५

२. रेफोमूले वा।—ऋ० तं० ८

३. रेफो वर्स्व्यमेके।—ऋ० प्रा० १।४६

४. प्रत्यग् इति आभ्यन्तरमुपरिभाग इत्यर्थः।—तै० प्रा० २।४०

५. रश्च।—वा० प्रा० १।७७

६. रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चार्यते इति रेफः।—तै० प्रा० २।४० पर वै०

उच्चारण होता है। परवर्ती वैयाकरणों ने रेफ को मूर्धन्य वर्ण माना है।[1] च० अ० १।२८ पर ह्विटनी ने च० अ० के किसी अज्ञातनामा भाष्यकार द्वारा लिखे गए भाष्य से कुछ कारिकाएँ उद्धृत की है, जिनमें कहा गया है कि दूसरे आचार्य कहते हैं कि रेफ का उच्चारण हनुमूल पर अथवा दन्तमूल पर होता है, तथा कतिपय अन्य आचार्य कहते हैं कि दन्तमूल के ऊपर स्थित प्रदेश पर अथवा मूर्धा स्थान पर रेफ का उच्चारण होता है। इसी सूत्र की व्याख्या में ह्विटनी ने तै० प्रा० के जिह्वाग्रमध्य का अर्थ—जिह्वा का अग्रभाग तथा मध्यभाग किया है।[2] अर्थात् रेफ के उच्चारण में जिह्वा का अग्र और मध्य दोनों भाग दन्तमूल का एक ही समय में स्पर्श करते हैं।

लकार—ऋ० प्रा० १।४५ तथा तै० प्रा० २।४२ के अनुसार लकार का उच्चारणस्थान दन्तमूल है।[3] वा० प्रा० १।६९, च० अ० १।२४ के अनुसार लकार का उच्चारण स्थान दन्त है। च० अ० प्रस्तीर्ण अर्थात् फैले हुए जिह्वाग्र को दन्त्य वर्णों का करण स्वीकार करती है। अर्थात् लकार के उच्चारण के लिये जिह्वा के अग्रभाग को फैलाकर मुखविवर में ऊपर की दन्त-पंक्ति में सामने वाले दाँतों का स्पर्श किया जाता है।[4] तै० प्रा० के अनुसार लकार के उच्चारण में जिह्वाग्रमध्य से दाँतों के मूल प्रदेश पर अन्दर की ओर स्पर्श करना चाहिए। तै० प्रा० के अनुसार रेफ और लकार के उच्चारण-स्थान की भिन्नता को स्पष्टतः समझ लेना उचित होगा। इस ग्रन्थ में रेफ का उच्चारण-स्थान दन्तमूल प्रदेश को बतलाया गया है। जिस स्थान पर दाँत मसूड़े से जुड़े हुए रहते हैं उसे दन्तमूल कहा जाता है तथा दन्तमूल से थोड़ा ऊपर वाले प्रदेश को प्रत्यग्दन्तमूल कहा जाता है। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि लकार ध्वनि को थोड़ा और ऊपर वाले भाग

---

१. ऋटुरषाणां मूर्धा।—सि० कौ०, स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः।—पा० शि० १७

२. अपरे आह-हनुमूलेषु रेफस्य दन्तमूलेषु वा पुनः। प्रत्यक् वा दन्तमूलेभ्यो मूर्धन्य इति चापरे।—च० अ० १।२८ का भाष्य द्रष्टव्य—ह्विटनीकृत अंग्रेजी व्याख्या

३. सकाररेफलकाराश्च।—ऋ० प्रा० १।४५, दन्तमूलेषु च लकारे।—तै० प्रा० २।४२

४. लृलसिताः दन्ते।—वा० प्रा० १।६९, दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्।—च० अ० १।२४, ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्।—ऋ० प्रा० १।४७, उवोपोपध्मा ओष्ठे।—वा० प्रा० १।७०, ओष्ठ्यानामधरोष्ठम्।—च० अ० १।२५, ओष्ठ्ये वो ⌣ पू।—ऋ० तं० ९

से उच्चरित करने का प्रयत्न किये जाने पर रेफ ध्वनि उच्चरित हो सकती है। सम्भवत: पाणिनि सम्प्रदाय के वैयाकरणों ने इसीलिए रेफ एवं लकार में निकटतम सम्बन्ध माना है तथा दोनों वर्णों में सावर्ण्य भी स्वीकार किया है।

वकार—सभी प्रातिशाख्यों में वकार का उच्चारणस्थान ओष्ठ बतलाया गया है। वा० प्रा० १।८१ में दन्ताग्र को वकार का करण बतलाया गया है।[1] अत: वा० प्रा० के अनुसार नीचे की पंक्ति में स्थित सामने वाले दाँतों द्वारा ऊपर के ओठ पर स्पर्श करके वकार का उच्चारण करते हैं। इसका कारण यह है कि ऊपर के दाँतों को निष्क्रिय एवं निश्चल होने से करण नहीं कहा जा सकता एवं नीचे के ओष्ठ को अधिक सक्रिय तथा चलायमान होने से स्थान नहीं कहा जा सकता। च० अ० १।२५ में भी स्पष्टत: नीचे के ओष्ठ को ही करण कहा गया है, परन्तु तै० प्रा० में वकार के उच्चारण के विषय में अन्य प्रातिशाख्यों से किञ्चित् भिन्न विधान प्राप्त होता है। तै० प्रा० २।४३ के अनुसार ओष्ठ के किनारों से दाँतों पर स्पर्श करके वकार का उच्चारण करना चाहिए।[2] तै० प्रा० के इस विधान पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि नीचे के ओष्ठ के दोनों किनारों द्वारा ऊपर के दाँतों का स्पर्श करके वकार का उच्चारण किया जाता है। इस सूत्र पर वैदिकाभरण में कहा गया है कि ओष्ठ के बाह्य और आभ्यन्तर भागों के भिन्न होने से 'ओष्ठान्ताभ्याम्', पद में द्विवचन का प्रयोग किया गया है। इस पद में द्विवचन का प्रयोग होने के कारण यह संदेह हो सकता है कि एक ही साथ ओठ के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों किनारों का स्पर्श दाँतों के साथ होना कैसे सिद्ध होगा? इस संदेह का निराकरण स्वयं भाष्यकार ने प्रस्तुत कर दिया हैं। भाष्यकार का मन्तव्य है कि वकार का उच्चारण स्वभावत: निचले ओष्ठ के अन्दर वाले भाग के किनारे से होता है और कभी-कभी निचले ओष्ठ के बाहर वाले भाग के किनारे से भी हो जाता है। जब वकार दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में उच्चरित होता है, तब इसका उच्चारण निचले ओष्ठ के बाह्य भाग के किनारे से होता है तथा अन्य अवस्थाओं में वकार का उच्चारण निचले ओष्ठ के अन्दर वाले किनारे से होता है।[3] तै० प्रा० के इसी सूत्र पर

---

१. वो दन्ताग्रै: ।—वा० प्रा० १।८१

२. ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे ।—तै० प्रा० २।४३

३. वकारोत्पतौ स्वभावतोऽधरोष्ठस्याभ्यन्तरेऽन्त: करणं भवति। यत्र त्वसौ ओठ्योपसंहारयोरोष्ठ्यस्वरयोर्मध्यवर्ती भवति, तत्र सामर्थ्याद्बाह्योऽन्त: करणम् ।—तै० प्रा० २।४३ पर वै०

अपनी अंग्रेजी व्याख्या में ह्विटनी ने 'ओष्ठान्ताभ्याम्' के स्थान पर 'अधरोष्ठान्ते' पाठ अधिक समीचीन मानता है तथा 'दन्तैः' पद के प्रयोग के आधार पर ऊपर के दाँतों को करण एवं अधरोष्ठ को स्थान कहना सार्थक समझता है।[१] वैयाकरणों ने भी वकार को दन्तोष्ठ्य ध्वनि स्वीकार किया है।[२]

अन्तस्था वर्णों के उच्चारण के विषय में विशेष

प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रन्थों तथा व्याकरणग्रन्थों में य, र, ल, व—इन चारों वर्णों को अन्तस्था कहा गया है। परन्तु आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक रेफ एवं लकार को अन्तस्थ मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि रेफ एवं लकार का उच्चारण प्राचीन काल में जिस प्रकार से होता था, उस प्रकार से आज के युग में नहीं होता है। सम्प्रति रेफ का उच्चारण लुण्ठित ध्वनि की भाँति किया जाता है तथा लकार का उच्चारण पार्श्विक ध्वनि के रूप में किया जाता है। यकार तथा वकार का उच्चारण आज भी उसी प्रकार से किया जाता है, जिस प्रकार से प्राचीन काल में होता था। रेफ और लकार को अन्तस्था वर्ण न मानने का कारण यह भी है कि, जिस प्रकार यकार तथा वकार के उच्चारण में जिह्वा को क्रमशः इकार एवं उकार के उच्चारण की स्थिति से होकर आगे जाना पड़ता है, उस प्रकार रेफ और लकार की उच्चारणावस्था में जिह्वा नहीं कार्य करती। अर्थात् रेफ के उच्चारण में जिह्वा को 'ऋ' के उच्चारण की अवस्था से होकर गुजरना चाहिए तथा लकार के उच्चारण में जिह्वा को 'ऌ' के उच्चारण की अवस्था से होकर गुजरना चाहिए। परन्तु आज इन वर्णों का उच्चारण उपर्युक्त रीति से नहीं होता है। यकार एवं इवर्ण के उच्चारण में भेद यही है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग तालु के साथ सन्निकर्ष प्राप्त करता है तथा यकार के उच्चारण में जिह्वामध्य के दोनों किनारे तालु का स्पर्श करते हैं। यह स्पर्श अत्यल्प एवं अपूर्ण होता है। रेफ के उच्चारण में जिह्वाग्र के मध्य भाग से दन्तमूल के ऊपरी भाग पर स्पर्श किया जाता है। जबकि ऋवर्ण के उच्चारण में जिह्वाग्र को वर्स्व के समीप ले जाया जाता है। लकार के उच्चारण में जिह्वाग्र-मध्य के द्वारा दन्तमूल प्रदेश पर स्पर्श किया जाता है परन्तु ऌवर्ण के उच्चारण में दन्तमूल पर स्पर्श न करके जिह्वाग्र को वर्स्व के समीप ले जाते हैं। इसी प्रकार उवर्ण के उच्चारण में दाँतों के द्वारा नीचे के ओष्ठ के किनारे को स्पर्श किया

---

१. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।४३ पर ह्विटनीकृत अंग्रेजी व्याख्या

२. वकारस्य दन्तोष्ठम्।—पा० सू० १।१।९ पर सि० कौ०

जाता है एवं उवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठ परस्पर समीप आ जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यकार तथा इवर्ण की उच्चारण-प्रक्रिया में अत्यधिक साम्य है तथा वकार एवं उवर्ण की उच्चारण-प्रक्रिया में भी पर्याप्त साम्य है, क्योंकि वकार के उच्चारण में ऊपर के दाँतों द्वारा किये गए स्पर्श के साथ ही ऊपर का ओष्ठ भी नीचे के ओष्ठ से सन्निकर्ष प्राप्त कर लेता है। रेफ और लकार की उच्चारण-प्रक्रिया क्रमशः ऋवर्ण एवं लृवर्ण के उच्चारण के साथ उस सीमा तक समानता नहीं रखती, जिस सीमा तक यकार एवं वकार की उच्चारण-प्रकिया परस्पर समानता रखती है। इसका कारण यह है कि लकार एवं रेफ के उच्चारण में ऋकार एवं लृकार के साथ स्थान एवं करण दोनों की पूर्णतः समानता नहीं रहती। इसीलिए परवर्ती काल में रेफ और ऋवर्ण तथा लकार एवं लृवर्ण के मध्य उच्चारण-सम्बन्धी समानता नहीं रह गई। परवर्ती काल में उच्चारण-सौकर्य के कारण ऋवर्ण का उच्चारण स्वर के रूप में न होकर 'रि' 'री' आदि व्यञ्जन-मिश्रित स्वर की भाँति होने लगा तथा लृवर्ण का उच्चारण भी 'लि' 'ली' की भाँति होने लगा। वस्तुतः आधुनिक काल में ऋवर्ण एवं लृवर्ण अपने स्वरात्मक रूप को छोड़कर व्यञ्जन के समान उच्चरित होने लगे हैं। इसीलिए रेफ और लकार भी अपना अन्तस्थ रूप छोड़कर पूर्णतः स्पर्श वर्ण का रूप ग्रहण कर लिये हैं। डॉ० रामगोपाल के अनुसार प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा विदेशी भाषा में लिखे गये संस्कृत-शब्दों के उच्चारण से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में 'ऋ' का उच्चारण अंशतः 'रि' के सदृश होता था। इस सम्बन्ध में विशद विवेचन ऋवर्ण के स्वरूप के प्रसंग में किया जाएगा।

ऊष्म-वर्णों का उच्चारण

ऊष्म-वर्णों[1] के उच्चारण में फेफड़े से आती हुई 'निः श्वास' वायु स्वर-तंत्रियों के दोनों परदों के परस्पर दूर रहने के फलस्वरूप कण्ठ-विवर में श्वास नामक द्रव्य का रूप ग्रहण करके मुख-विवर में जाती है। मुख-विवर में वायु को न तो स्पर्श वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया की भाँति पूर्णतः रोक दिया जाता है और न ही स्वर वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया की भाँति वायु को अबाधरूप से बाहर ही निकल जाने दिया जाता है, अपितु संघर्षी व्यञ्जनों के उच्चारण में उच्चारणावयवों को परस्पर समीप करके वायु-मार्ग को संकीर्ण कर देने से वायु उच्चारणाङ्गों (करण और स्थान) के बीच से रगड़ खाकर निकलती रहती है। जिस

---

१. उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः, अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः।—ऋ० प्रा० १।१०, ११

प्रकार स्वर-ध्वनियों को श्वास के अन्त तक निरन्तर उच्चरित किया जा सकता है, उसी प्रकार ऊष्म-वर्णों का उच्चारण भी श्वास के अन्त तक किया जा सकता है। इसलिए प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक 'ब्लूम फील्ड' ने इस प्रकार के व्यञ्जनों को निरन्तर ध्वनि कहा है।[1] इस श्रेणी की ध्वनियों के उच्चारण में वायु को घर्षण करते हुए निकलने के कारण कतिपय ग्रन्थों में इन ध्वनियों को 'संघर्षी' नाम भी प्रदान किया गया है। च० अ० १।३१ में ऊष्म-वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट और विवृत को माना गया है। अर्थात् ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में विवृतता के साथ ईषत्स्पृष्टता भी रहती है। इन वर्णों के उच्चारण में करण द्वारा स्थान का अत्यल्प रूपेण स्पर्श करते हुए मुख-विवर को सँकरा बना दिया जाता है। जिससे वायु घर्षण करती हुई मुख-विवर से बाहर निकलती है।[2] तै० प्रा० २।४४ में ऊष्म-वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया को बतलाते हुए कहा गया है कि ऊष्मवर्ण क्रम से स्पर्श वर्णों के स्थानों में उच्चरित होते हैं। इसी सूत्र पर माहिषेय भाष्य में सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है। जिसके अनुसार जिह्वामूलीय कवर्ग-स्थान से उच्चरित होता है। शकार चवर्ग-स्थान से उच्चरित होता है। उपध्मानीय पवर्गस्थान से उच्चरित होता है। त्रिभाष्यरत्न में षकार एवं सकार को क्रमशः टवर्गस्थान एवं तवर्गस्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।[3] इस सूत्र का तात्पर्य है कि इन ऊष्म-वर्णों का स्थान एवं करण दोनों वे ही हैं, जो उनसे सम्बन्धित स्पर्श-वर्गों के उच्चारण-स्थान एवं करण हैं। तै० प्रा० २।४५ में यह भी विधान किया गया है कि ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में करण का मध्य भाग खुला रहता है।[4] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्पर्श-वर्णों के उच्चारण में करण का उच्चारण-स्थान के साथ पूर्णतः स्पर्श होने से उनके बीच का भाग खुला नहीं रहता है, उस प्रकार की स्थिति उष्म-वर्णों के उच्चारण में नहीं होती। ऊष्म वर्णों के उच्चारण के समय सक्रिय उच्चारणावयव (करण) निष्क्रिय उच्चारणावयव (स्थान) का आंशिक स्पर्श करते हैं। सक्रिय उच्चारणावयवों के मध्य भागों का उच्चारण-

---

१. द्रष्टव्य—ब्लूमफील्डकृत 'लैंग्वेज़', पृ० ९७

२. ऊष्मणां विवृतं च।—च० अ० १।३१

३. स्पर्शस्थानेषूष्माणः आनुपूर्व्येण।—तै० प्रा० २।४४,……यथा जिह्वामूलीयः कवर्गस्थानो भवति, शकारः चवर्गस्थानो भवति, उपध्मानीयः पवर्गस्थानो भवति।—तै० प्रा० २।४४ पर माहिषेय भाष्य,……षकारः टवर्गस्थाने… सकारः तवर्गस्थाने……।—तै० प्रा० २।४४ पर त्रि०

४. करणमध्यं तु विवृतम्।—तै० प्रा० २।४५

स्थानों के साथ स्पर्श नहीं होता है। इससे वायु का मार्ग पूर्णरूप से अवरुद्ध न होकर थोड़ा सा खुला रहता है। जिसके फलस्वरूप वायु घर्षण करती हुई शीत्कार ध्वनि के साथ इस सँकरे मार्ग से निरन्तर बाहर निकलती रहती है।

'ऊष्मन्' का शाब्दिक अर्थ है 'गर्मवायु' या 'वाष्प'। ऋ० प्रा० १।१ के भाष्य में उवट ने स्पष्ट कहा है कि ऊष्मा का अर्थ है वायु तथा वायु-प्रधान वर्णों को 'ऊष्मवर्ण' कहा जाता है।[1] तै० प्रा० १।६ पर वैदिकाभरण में कहा गया है— ऊष्मा नामक बाह्य-प्रयत्न के योग से उच्चरित होने के कारण ये वर्ण ऊष्मन् कहे जाते हैं। अर्थात् ऊष्म वर्णों के उच्चारण में मुख से निःसृत वायु वाष्प की भाँति गर्म होती है।[2]

शकार—सभी प्रातिशाख्य शकार के उच्चारण-स्थान एवं करण के विषय में एकमत हैं। प्रातिशाख्यों में शकार का उच्चारणस्थान तालु एवं करण जिह्वा-मध्य बतलाया गया है।[3] अर्थात् शकार के उच्चारण में जिह्वामध्य द्वारा तालु पर स्पर्श कराया जाता है, परन्तु यह स्पर्श इस प्रकार होता है, जिसमें जिह्वा के दोनों तरफ कुछ भाग खुला रह जाता है। परिणामतः मुख की वायु स्थान एवं करण के बीच से घर्षण करती हुई एक शीत्कार ध्वनि के साथ बाहर निकल जाती है। वैयाकरण भी तालु-प्रदेश को ही शकार का उच्चारण-स्थान स्वीकार करते हैं।

षकार—सभी प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में षकार को मूर्धा से उच्चरित होने वाला वर्ण माना गया है तथा प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र को इस वर्ण का करण माना गया है।[4] च० अ० १।२३ में विधान किया गया है कि षकार के उच्चारण में प्रतिवेष्टित (मुड़े हुए) जिह्वाग्र को द्रोणिका (नाद अथवा नौका) के आकार का बनाकर मूर्धा-प्रदेश पर स्पर्श किया जाता है।[5] अर्थात् जिह्वाग्र को ऊपर की ओर मोड़कर उसे नौका के आकार की बनाकर मूर्धा-प्रदेश का स्पर्श किया जाता

---

१. ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः।—ऋ० प्रा० १।१० पर उवट

२. ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या।—तै० प्रा० १।६ पर वै०

३. इचेशेयास्तालौ।—वा० प्रा० १।६६, तालुस्थाना मध्येन।—वा० प्रा० १।७६, तालव्यानां मध्यजिह्वम्।—च० अ० १।२१, तालव्यावेकारचकारवर्गौ एकारोकारौ यकारः शकारः।—ऋ० प्रा० १।४२

४. मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ।—ऋ० प्रा० १।४३, षटौ मूर्धनि।—वा० प्रा० १।६७, मूर्धनि षटौ।—ऋ० तं० ६, मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्।—वा० प्रा० १।७६

५. षकारस्य द्रोणिका।—च० अ० १।२३

है। अन्य प्रातिशाख्यों में टवर्ग और षकार की उच्चारण-प्रक्रिया में करण एवं स्थान की अवस्थाओं में कोई विभेद नहीं माना गया है। तै० प्रा० में यह विधान अवश्य किया गया है कि स्पर्श वर्णों और ऊष्म वर्णों के उच्चारण में भेद यही है कि ऊष्म वर्णों के उच्चारण में स्थान और करण के बीच की स्थिति विवृत होती है।[1] स्पर्श वर्णों के उच्चारण में वायु क्षण भर के लिये स्थान पर रुक जाती है, जबकि ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में वह निरन्तर किञ्चित् घर्षण के साथ मुख-विवर से निकलती रहती है। च० अ० के विधान पर विचार करने से ऐसा स्पष्ट होता है कि जिह्वा के आकार को द्रोणिका की भाँति हो जाने से एवं उसके तथा मूर्धा के मध्य कुछ अवकाश मिल जाने से वायु को निरन्तर बाहर निकलने के लिए मार्ग मिलता रहता है। अतः सभी प्रातिशाख्यों के मत से षकार का उच्चारण मूर्धा-स्थान से होता है।

सकार—सकार के उच्चारण के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्यों में ऐकमत्य नहीं है। अधिकतर प्रातिशाख्यकार लकार और सकार का उच्चारण-स्थान समान मानते हैं। अतः सकार के उच्चारण के सम्बन्ध में भी प्रायः उसी प्रकार का मतभेद पाया जाता है, जिस प्रकार का मतभेद लकार के उच्चारण के सम्बन्ध में पाया जाता है। ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० के अनुसार सकार का उच्चारण दन्तमूल प्रदेश से होता है।[2] अन्य प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में इस वर्ण को दन्तस्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण माना गया है।[3] सकार के उच्चारण में जिह्वाग्र को करण माना गया है।[4] तात्पर्य यह है कि सकार के उच्चारण में जिह्वाग्र द्वारा दाँतों पर अथवा दन्तमूल पर स्पर्श किया जाता है। च० अ० दन्त्य वर्णों के उच्चारण में फैले हुए जिह्वाग्र को करण स्वीकार करती है।

हकार और विसर्जनीय—आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने हकार के दो रूपों को स्वीकार किया है—प्रथम-'अघोष' तथा द्वितीय-'सघोष'। अघोष हकार को विसर्जनीय एवं सघोष हकार को हकार कहा जाता है। अधिकतर प्रातिशाख्यों में इन वर्णों को कण्ठस्थानीय वर्ण माना गया है किन्तु कतिपय प्रातिशाख्य इनकी

---

१. करणमध्यं तु विवृतम्।—तै० प्रा० २।४५

२. सकाररेफलकाराश्च।—ऋ० प्रा० १।४५

३. लृलसिताः दन्ते।—वा० प्रा० १।६९, दन्ते त्स्लाः।—ऋ तं० ७

४. दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्।—च० अ० १।२४, दन्त्याः जिह्वाग्रकरणाः। वा० प्रा० १।७६

उच्चारण-प्रक्रिया में कुछ विशेष तथ्यों का संकेत करते हैं। ऋ० प्रा० १।३९ में स्पष्टतः कहा गया है कि ऊष्म वर्णों में प्रथम एवं पञ्चम वर्ण (हकार और विसर्जनीय) कण्ठ-स्थान से उच्चरित होते हैं।[1] परन्तु ऋ० प्रा० १।४० में यह भी कहा गया है कि कतिपय आचार्य इन वर्णों को उरस् (छाती) से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करते हैं।[2] इन आचार्यों के अनुसार हकार और विसर्जनीय के उच्चारण में मुख के उच्चारणावयवों का कोई उपयोग नहीं होता। इन आचार्यों के विचारों की प्रशंसा करते हुए ह्विटनी का कहना है कि जिस विद्वान् ने इन वर्णों को उरस्य (छाती) से उत्पन्न कहा है, वह अपने सूक्ष्म निरीक्षण के लिए प्रशंसनीय है, क्योंकि यह भी कहा जा सकता है कि इन ध्वनियों के उच्चारण में कण्ठ का कोई योगदान नहीं होता है। मुख की भाँति यह कण्ठ केवल मार्ग है। जिसमें होकर छाती से फेंकी हुई वायु बाहर निकलती है।[3] तै० प्रा० २।४६ में हकार और विसर्जनीय को कण्ठस्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। इसी सूत्र पर वै० में एक कारिका को उद्धृत करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि हकार का उच्चारण किस स्थिति में कण्ठस्थान से होता है एवं किस स्थिति में उरस् (छाती) से होता है। इस कारिका के अनुसार वर्गों के पञ्चम वर्णों एवं अन्तस्था वर्णों से संयुक्त हकार को उरस् से उत्पन्न होने वाली ध्वनि जानना चाहिए, तथा इन वर्णों से असंयुक्त हकार को कण्ठ से उच्चरित होने वाला वर्ण जानना जाहिए।[4] तात्पर्य यह है कि यदि हकार के बाद स्पर्श वर्गों के पञ्चम वर्ण अथवा कोई अन्तस्थ वर्ण उच्चरित होता है, तो हकार का उच्चारण 'उरस्' से होता है, अन्यथा हकार कण्ठ स्थानीय वर्ण है। तै० प्रा० में हकार के उच्चारण के सम्बन्ध में करण का निर्देश नहीं किया गया है। तै० प्रा० २।४६ पर भाष्य में सभी भाष्यकार हकार और विसर्जनीय के उच्चारण में करण का अभाव बतलाते हैं।[5] परन्तु तै० प्रा० २।४६ पर वैदिकाभरण में कहा गया है कि करण के अनुक्त होने पर स्थान को ही करण जानना चाहिए। आपिशलि-शिक्षा में भी कहा गया है—शेष अर्थात् जिनके उच्चारण में करण का निर्देश नहीं किया गया

---

१. प्रथमपञ्चमौ च द्वौ ऊष्मणाम्।—ऋ० प्रा० १।३९

२. केचिदेता उरस्यौ।—ऋ० प्रा० १।४०

३. द्रष्टव्य—च० अ० १।१९ पर ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या

४. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्चसंयुतम् उरस्यं तं विजानीयात् कंठ्यमाहुरसंयुतम्।—तै० प्रा० २।४६ पर वै०

५. ......अनयोः करणाभावः।—तै० प्रा० २।४६ पर त्रि०

है, उनके उच्चारण में स्थान को ही करण जानना चाहिए।[1] तै० प्रा० २।४७, ४८ में क्रमशः हकार और विसर्जनीय के उच्चारण के सम्बन्ध में कतिपय अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत किया गया है। जिनके अनुसार हकार अपने परवर्ती स्वर के आदि भाग के समान-स्थान से उच्चरित होता है तथा विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती स्वर के अन्त वाले भाग के समान उच्चारण-स्थान से उच्चरित होता है।[2] त्रिभाष्यरत्न के अनुसार प्रस्तुत विधान केवल संध्यक्षरों के पश्चात् आए हुए विसर्जनीय एवं संध्यक्षरों के पूर्व आए हुए हकार के विषय में ही संगत है। परन्तु वैदिकाभरण के अनुसार किसी भी स्वर के पश्चात् आने वाला विसर्जनीय उसी स्वर के स्थान से उच्चरित होता है एवं किसी भी स्वर से पूर्व आने वाला हकार उसी स्वर के स्थान से उच्चरित होता है। इस प्रकार 'हिरण्यपाणिः' पद में हकार का उच्चारण तालु-स्थान से होगा तथा 'हुङ्कुत्' पद के हकार को ओष्ठ-स्थान से उच्चरित किया जायेगा। इसी प्रकार 'अदेवीः' पद में विसर्जनीय का उच्चारण तालुस्थान से तथा 'दीर्घमायुः' पद में ओष्ठ स्थान से होगा।[3] आधुनिक विद्वान् भी विसर्जनीय को अपने पूर्ववर्ती स्वर के समान उच्चारण-स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनि स्वीकार करते हैं तथा हकार को अपने उत्तरवर्ती स्वर के समान स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनि स्वीकार करते हैं। परन्तु ऋ० प्रा० १४।३० में दीर्घस्वर से बाद में स्थित विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के स्थान से करना 'निरस्त संज्ञक' दोष कहा गया है।[4] इस सूत्र के भाष्य में उवट ने कहा है कि सूत्रकार ने दीर्घ स्वर के बाद में स्थित विसर्जनीय के उच्चारण में ही इस प्रकार के दोष को स्वीकार किया है।[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि ह्रस्व स्वर के बाद स्थित विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के समान उच्चारण-स्थान से होता था। इसी प्रसंग में उवट ने कतिपय अन्य आचार्यों के मतों का

---

१. करणानुक्तौ स्थानमेव करणं च वेदितव्यम्। शेष स्थानकरणाः इत्यापिशलि-शिक्षावचनात्।—तै० प्रा० २।४६ पर वै०

२. उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम्। पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः।— तै० प्रा० २।४७, ४८

३. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।४७, ४८ पर त्रि० एवं वै०

४. स्वरात्परं पूर्वसस्थानमाहुर्दीर्घान्निरस्तं तु विसर्जनीयम्।—ऋ० प्रा० १४।३०

५. अन्य स्थाने दीर्घात्स्वरात्परो विसर्जनीयो देवैरपि न शक्य उच्चारयितुमिति विधिं वर्णयन्ति। दीर्घात्स्वरात् परं पूर्वसस्थानमाहुः आचार्या इच्छन्ति इत्यर्थः।—ऋ० प्रा० १४।३० पर उवट

भी उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि दीर्घ स्वर से बाद में स्थित विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण-स्थान के अतिरिक्त स्थान से देवता भी नहीं कर सकते। अतः यह विधान है, दोष नहीं। इसी स्थल पर उवट ने तै० प्रा० के उपर्युक्त तीनों सूत्रों को उद्धृत करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के स्थान और करण द्वारा करने की प्रवृत्ति प्राचीन आचार्यों में अवश्य विद्यमान थी। ऋ० तं० में हकार को कण्ठ-स्थानीय ध्वनि माना गया है परन्तु विसर्जनीय के उच्चारण-स्थान के विषय में वैकल्पिक विधान प्राप्त होता है। अर्थात् विसर्जनीय कण्ठ से अथवा उरस् से उच्चरित होता है।[1] वा० प्रा० १।७१ के अनुसार हकार एवं विसर्जनीय का उच्चारण-स्थान कण्ठ है तथा वा० प्रा० १।८४ के अनुसार इन वर्णों का करण जिह्वामध्य है।[2] इसी प्रकार शिक्षाग्रन्थों एवं वैयाकरणों के अनुसार भी विसर्जनीय एवं हकार या तो कण्ठ स्थानीय वर्ण हैं, अथवा कुछ आचार्यों के अनुसार उरस् स्थानीय वर्ण हैं। गम्भीरता से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विसर्जनीय का उच्चारण नाद-रहित श्वास से होता था, क्योंकि इसके उच्चारण में उरस् का प्रबल योगदान होना यह सिद्ध करता है कि फेफड़े से निःसृत वायु झटके से मुख-विवर से बाहर निकल जाती है। उस समय मुख-विवर पूर्णतः उन्मुक्त रहता है। ध्वनि को स्फोटित होने के लिए वायु को स्वरतन्त्रियों के अतिरिक्त मुख-विवर में भी किसी स्थान पर किसी अङ्ग द्वारा न्यूनाधिक रुकावट का सामना करना आवश्यक हो जाता है। जब रुकावट नहीं होगी, तब ध्वनि भी स्फुटित नहीं होगी। परन्तु विसर्जनीय के उच्चारण में वायु को किसी भी स्थान पर रोककर विकृत नहीं किया जाता है। वायु जिस रूप में भीतर से आती है, ठीक उसी रूप में बाहर भी निकल जाती है। यद्यपि प्रातिशाख्यों का प्रमुख मत है कि इसका भी उच्चारण किसी-न-किसी स्थान एवं करण द्वारा ही होता है, परन्तु इसे उरस् स्थान से उच्चरित करना भी प्रातिशाख्यों के काल में सम्भवतः प्रचलित हो गया था। ऋ० प्रा० में विसर्जनीय को ऊष्मन् ध्वनि माना गया है, जो सभी प्रकार की श्वासयुक्त ध्वनियों के लिए एक सामान्य संज्ञा है। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि विसर्ग का उच्चारण प्रातिशाख्यों के काल में दो प्रकार से होता था। वस्तुतः विसर्जनीय ऐसी ध्वनि है, जो कुछ परिस्थितियों में परवर्ती व्यञ्जन के उच्चारण-स्थान एवं करण से भी उच्चरित हो जाती है।

---

१. हाः कण्ठे, उरसि विसर्जनीयो वा।—ऋ० तं० २, ३

२. अहविसर्जनीयाः कण्ठे, कण्ठ्या मध्येन।—वा० प्रा० १।७१, ८४

जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय—ये दोनों ध्वनियाँ विसर्जनीय की विकृत ध्वनियाँ हैं। जब कवर्ग के प्रथम दो अघोष स्पर्श (क, ख) के पूर्व विसर्जनीय का उच्चारण किया जाता है तो विसर्जनीय जिह्वामूलीय हो जाता है। अर्थात् इसका उच्चारण जिह्वामूल से हो जाता है। इसी प्रकार जब पवर्ग के प्रथम दो स्पर्श (प, फ) से पूर्व विसर्जनीय का उच्चारण होता है, तब विसर्जनीय उपध्मानीय में परिर्वातित हो जाता है। इन वर्णों के उच्चारण के विषय में प्रातिशाख्यों में पर्याप्त विधान किया गया है। ऋ० प्रा० १।४७ के अनुसार उपध्मानीय का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है तथा इसका करण भी ओष्ठ है।[1] ऋ० तं० ४ में जिह्वामूलीय ध्वनि को जिह्वामूल से एवं ऋ० तं० ६ में उपध्मानीय ध्वनि को ओष्ठस्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण माना गया है।[2] वा० प्रा० १।६५ में जिह्वामूलीय वर्णों का स्थान जिह्वामूल एवं १।८३ के अनुसार करण हनुमूल को माना गया है।[3] तै० प्रा० २।४४ के अनुसार जिह्वामूलीय वर्ण भी कवर्ग-स्थानीय है[4], तथा २।३५ के अनुसार जिह्वामूल के द्वारा हनुमूल में स्पर्श करके इस वर्ण का उच्चारण करना चाहिए।[5] ध्यातव्य है कि तै० प्रा० २।४५ में ऊष्मवर्णों के उच्चारण में करण के मध्य में मुखविवर की विवृत अवस्था का निर्देश किया गया है। च० अ० में भी जिह्वामूल को स्थान एवं हनुमूल को जिह्वामूलीय वर्ण का करण स्वीकार किया गया है। च० अ० १।२५ के भाष्य में उपध्मानीय के उच्चारण में ऊपरी ओष्ठ स्थान तथा निचला ओष्ठ करण बतलाया गया है।[6]

वस्तुतः उपध्मानीय शब्द का अर्थ है 'फूंक मारने योग्य'। तै० प्रा० १।१८ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने कहा है कि उपध्मान से उत्पन्न होने के कारण यह वर्ण उपध्मानीय कहलाता है।[7] इस वर्ण के उच्चारण में वैसा ही प्रयत्न होता है जैसा प्रयत्न दीपक को फूंक मार कर बुझाने में होता है।

---

१. शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य नासिक्यान्।—ऋ० प्रा० १।४७

२. जिह्वामूले ⌣ क्।ऋ० तं० ४, ओष्ठ्ये ⌣ पू।—ऋ० तं० ६

३. ऋक्कौ जिह्वामूले।—वा० प्रा० १।६५, जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। —वा० प्रा० १।८३

४. स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण।—तै० प्रा० २।४४

५. हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति।—तै० प्रा० २।३५

६. सन्ध्यक्षरेषु वर्णेषु वर्णान्तम् ओष्ठ्यमुच्यते। उपध्मानीयमुकारो वः पवर्गः तथा मतः।—च० अ० १।२५ पर भाष्य

७. उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात्।—तै० प्रा० २।१८ पर वै०

अनुस्वार—अनुस्वार का उच्चारण नासिका स्थान से होता है। वा० प्रा० १।७४ में नासिका को अनुस्वार का स्थान एवं १।८३ में हनुमूल को करण बतलाया गया है।[१] तै० प्रा० २।३० में कहा गया है—अनुस्वार और वर्गों के अन्तिम वर्ण अनुनासिक हैं; तथा तै० प्रा० २।५२ में यह भी कहा गया है कि अनुनासिक वर्णों का स्थान नासिका-विवर है।[२] तै० प्रा० २।५२ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार का कथन है कि जो वर्ण अनुनासिक हैं, उनका उच्चारण नासारन्ध्र के विस्तार से होता है, जबकि नासिक्य वर्णों के उच्चारण में नासिका-विवर संवृत ही रहता है।[३] तै० प्रा० २।१६ में यह भी कहा गया है कि कतिपय आचार्यों के मत से अनुस्वार और स्वरभक्ति में भी दोनों जबड़े अधिक पास-पास आ जाते हैं तथा जिह्वाग्र को मसूड़ों के समीप में लाया जाता है।[४] ऋ० प्रा० १।४८ में अनुस्वार का उच्चारण-स्थान नासिका को बतलाया गया है।[५] अनुस्वार का उच्चारण करते समय सम्पूर्ण वायु नासिका-रन्ध्र से ही बाहर निकल जाती है। इसीलिये अनुस्वार को शुद्ध नासिक्य ध्वनि कहा जाता है। सि० कौ० में भी अनुस्वार को शुद्ध नासिक्य ध्वनि कहा गया है।[६]

अनुनासिक—अनुनासिक का शाब्दिक अर्थ है—मुख और नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण। ऋ० प्रा० १।१४ पर भाष्यकार उवट ने कहा है कि जो वर्ण अपने स्थान के साथ-साथ नासिका से भी उच्चरित होते हैं, उन दो स्थानों से उच्चरित होने वाले वर्णों को अनुनासिक कहा जाता है।[७] अर्थात् अनुनासिक

---

१. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके।—वा० प्रा० १।७४, जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन।—वा० प्रा० १।८३

२. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः।—तै० प्रा० २।३०, नासिका विवरणादानुनासिक्यम्, नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्।—तै० प्रा० २।५२

३. अनुनासिका ये वर्णा अनुस्वारोत्तमादयस्तेषामानुनासिक्यं नासारन्ध्रस्य विस्तरणाद् भवति। नासिक्येषु नासिका संवृतैव भवति।—तै० प्रा० २।५२ पर वै०

४. एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च।—तै० प्रा० २।१६

५. नासिक्ययमानुस्वारान्।—ऋ० प्रा० १।४८

६. नासिकानुस्वारस्य।—सि० कौ०

७. नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानो अनुनासिक इत्युच्यते।—ऋ० प्रा० १।१४ पर उवट

वर्णों के उच्चारण में मुख और नासिका दोनों स्थानों की सहायता लेनी पड़ती है। ऋ० प्रा० में इस ध्वनि के लिए 'रक्त' संज्ञा का प्रयोग भी प्राप्त होता है। तथा रक्त-ध्वनि को मुख और नासिका दोनों से उच्चरित होने वाली ध्वनि कहा गया है।[1] तै० प्रा० २।३०, च० अ० १।११, ऋ० प्रा० १।१४, एवम् ऋ० तं० १७ में प्रत्येक वर्ग के अन्तिम स्पर्श को अनुनासिक कहा गया है।[2] इनके उच्चारण में मुख-विवरगत अङ्गों के साथ-साथ नासिका का भी योगदान आवश्यक है। इनके उच्चारण में फेफड़े से निःसृत वायु स्वर-तन्त्रियों में प्रथम विकार को प्राप्त करके नासिका-विवर तथा मुख-विवर दोनों मार्गों से होकर दोनों मार्गों द्वारा बाहर निकलती है। यदि नासिका-विवर को पूर्णतः बन्द रखा जाय तो अनुनासिक ध्वनि कभी भी उच्चरित नहीं हो सकती। अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण के समय कोमलतालु नीचे दबकर वायु को नासिका-विवर से बाहर निकल जाने के लिए मार्ग प्रदान करता है। इस प्रकार इस ध्वनि के उच्चारण में कोमलतालु का भी सक्रिय योगदान है।

नासिक्य और यम—नासिक्य वर्ण और यम नासिका-स्थान से उच्चरित होने वाले वर्ण हैं अथवा मुख और नासिका दोनों के योग से उच्चरित होते हैं।[3] वैदिकाभरणकार का कथन है कि स्पर्श वर्णों के बाद में विद्यमान प्रथम इत्यादि नाम वाले नासिक्य (यम) मुख और नासिका स्थान वाले हैं। हकार से परवर्ती नासिक्य तो केवल नासिकास्थान वाला है।[4] ऋ० प्रा० १।४८, वा० प्रा० १।७४ में भी यम का उच्चारण-स्थान नासिका बतलाया गया है। तथा करण को वा० प्रा० १।८२ में नासिकामूल बतलाया है।[5] तै० प्रा० २।५१ में विधान किया गया है कि इन नासिक्यों (यमों) के उच्चारण में वर्गस्थ के समान करण होता

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः।—ऋ० प्रा० १।३६, रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्। —ऋ० प्रा० १३।२०

२. द्रष्टव्य—तै० प्रा० २।३०, च० अ० १।११, ऋ० प्रा० १।१४, ऋ० तं० १७

३. नासिक्याः नासिकास्थानाः।—तै० प्रा० २।४९, मुखनासिक्याः वा।—तै० प्रा० २।५०

४. स्पर्शेभ्यः परे प्रथमादिव्यपदेशभाजो मुखनासिक्याः। हकारात्परस्तु नासिकामात्रस्थान इति।—तै० प्रा० २।५० पर वै०

५. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके।—वा० प्रा० १।७४, नासिकामूलेन यमाः। —वा० प्रा० १।८२

है।[1] अर्थात् जिस वर्ग के समान नासिक्य होगा, उसी वर्ग के समान उसका करण भी होगा। जैसे कवर्गीय वर्ण से परवर्ती नासिक्य का करण जिह्वामूल होता है क्योंकि कवर्ग का करण जिह्वामूल है। वैदिकाभरण के अनुसार उन नासिक्यों में वर्गों के स्पर्श-वर्णों के समान-स्थान का योग होता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती सूत्र में प्रयुक्त मुख शब्द से यहाँ पाँचो वर्गों के स्थानों का संग्रह किया गया है। उनमें से कवर्गीय वर्ण से परवर्ती नासिक्य वर्ण का 'हनुमूल' दूसरा स्थान होता है। चवर्गीय वर्ण से परवर्ती नासिक्य वर्ण का 'तालु' दूसरा स्थान है। इसी प्रकार वर्ग के वर्णों से परवर्ती नासिक्य वर्ण का उस-उस वर्ग का स्थान ही द्वितीय स्थान होता है।[2] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपर्युक्त वर्णों का प्रथम स्थान तो नासिका ही होता है।

ळकार तथा ळ्हकार—ये दोनों ध्वनियाँ मूर्धन्य हैं। ऋ० प्रा० १।५१ में आचार्य वेदमित्र के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि दो स्वरों के मध्य में आये हुए 'डकार' के स्थान पर ळकार एवं ड् + ह् = ढकार के स्थान पर ळ्हकार हो जाता है।[3] उल्लेखनीय है कि आचार्य वेदमित्र डकार को जिह्वामूल और तालु-स्थानीय ध्वनि स्वीकार करते हैं।[4] अर्थात् जब जिह्वामूल और तालु के मिश्रित सहयोग से उत्पन्न होने वाला वर्ण डकार दो स्वरों के मध्य में उच्चरित होगा, तब वह ळकार में परिवर्तित हो जाएगा तथा जब वही डकार ऊष्मा के साथ संपृक्त होकर ळ्हकार रूप को प्राप्त होता हुआ ढकार के रूप में परिणत होकर दो स्वरों के मध्य उच्चरित होगा, तो इसका रूप ळ्ह हो जायगा। उदाहरण-इळा, साळ्हा इत्यादि।

इन वर्णों के स्वरूप एवं उच्चारण के विषय में कहा गया है—'दुः स्पृष्टं तु विज्ञेयं ळळ्हयोः स्वरमध्ययोः' अर्थात् स्वरों के मध्य में उच्चरित होने वाले डकार

---

१. वर्गवच्चैषु।—तै० प्रा० २।५१

२. तेषु वर्गवत्स्थानयोगो भवति। एतदुक्तं भवति मुखशब्दे नात्र पञ्चापि वर्ग-स्थानानि संगृहीतानि। तत्र कवर्गीयात्परस्य नासिक्यस्य हनुमूलं तावद्द्वितीयं स्थानं भवति। चवर्गीयात्परस्य तालु। एवं तत्तद् वर्गीयात्परस्य तत्तद्वर्गस्थानं द्वितीयस्थानमित्यवगन्तव्यम् इति।—तै० प्रा० २।५० पर वै०

३. द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः। ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः।—ऋ० प्रा० १।५२

४. जिह्वामूलं तालु चाचार्य आह स्थानं डकारस्य तु वेदमित्रः।—ऋ० प्रा० १।५०

एवं ढकार के उच्चारण में करण द्वारा स्थान का स्पर्श अत्यन्त कठिनता से हो पाता है। परिणामतः डकार एवं ढकार ध्वनि का उच्चारण किञ्चित् अन्य रूप में हो जाता है, तथा साथ ही इन ध्वनियों की श्रवणीयता में भी अन्तर आ जाता है। इस स्थिति में जिह्वा मूर्धा के समीप पहुँच तो जाती है, परन्तु जिह्वा द्वारा मूर्धा स्थान का स्पर्श उचित रूप से नहीं हो पाता है, क्योंकि स्पर्श के बाद शीघ्र ही जिह्वा को अग्रिम स्वरोच्चारण के लिए विवृत स्थिति में जाना पड़ता है। इस स्थिति में जिह्वा का अग्रभाग उलट कर द्रोणिका का आकार ग्रहण करके झटके के साथ, मानों किसी चीज को फेंकता हुआ वापस लौटता है। इसीलिए इन ध्वनियों को 'उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ध्वनि' (flapped retroflex) कहा है।[1] पार्श्विक का तात्पर्य है, वह ध्वनि जिसके उच्चारण में मुखरन्ध्र के ऊपरी भाग की मध्य रेखा (मूर्धा) के किसी भाग पर जिह्वा द्वारा स्पर्श करके वायु-प्रवाह को रोककर जिह्वा के दोनों पार्श्वों से बाहर निकाला जाता है। वा० प्रा० में भी अपृक्त स्वर से बाद में आने वाले डकार को ळकार में परिवर्तित हो जाने का विधान प्राप्त होता है। हिन्दी तथा अन्य बाद की भाषाओं में प्राप्त 'ड़' तथा 'ढ़' ध्वनियाँ क्रमशः वैदिक ळकार एवं ळ्हकार के प्रतिनिधि हैं। अर्थात् दो स्वरों के मध्य में डकार आने पर हिन्दी भाषा में ड़कार में परिवर्तित हो गया है, इसी प्रकार दो स्वरों के मध्य में आने पर ढकार 'ढ़कार' में परिवर्तित हो जाता है।

ध्यातव्य है कि कतिपय उत्तरवर्ती संहिताओं के अध्येताओं में ळकार ध्वनि के स्थान पर लकार के उच्चारण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। अतः कतिपय विद्वान् यह भी कहते हुए पाये जाते हैं, कि ळकार एवं ळ्हकार ध्वनियाँ लकार की मूर्धन्य ध्वनि हैं, परन्तु मेरे विचार से यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि लकार ध्वनि को मूर्धन्य बनाकर उच्चरित करने का उल्लेख शिक्षाग्रंथों एवं प्रातिशाख्यों में नहीं पाया जाता।

कतिपय वर्णों के उच्चारण के विषय में विशेष

शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा के अध्येताओं में यकार, वकार एवं षकार के उच्चारण में वेदों की अन्य शाखाओं के उच्चारण से कुछ विभिन्नता पाई जाती है। यह विभिन्नता परिस्थिति-विशेष में ही प्राप्त होती है। क्रमशः इन वर्णों के उच्चारण सम्बन्धी विशिष्टताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जा रहा है।

---

१. द्रष्टव्य—विशेष विवरण के लिये—The Sanskrit Language, by T. Barow. Page 104

यकार तथा वकार—इन वर्णों की उच्चारण-सम्बन्धी विशिष्टताएँ कुछ शिक्षाग्रंथों में स्पष्टतया विहित हैं। लघु अमोघानन्दिनी-शिक्षा के अनुसार पादादि (पाद के आदि में आए हुए) पदादि (किसी पद के आदि में आए हुए), व्यञ्जन-संयोग में आए हुए तथा अवग्रह बाद में होने पर यकार का उच्चारण 'जकार' की भाँति होता था। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर (अन्य परिस्थितियों में) आये हुए यकार को यकार ही उच्चरित किया जाता था।[1] लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा के अनुसार प्रथम प्रकार की स्थिति में अर्थात् जब रेफ या हकार के संयोग में यकार आवे तो इसका उच्चारण 'ज' के रूप में होता था। अतः 'बाह्य' का उच्चारण 'बाह्‌ज', तथा 'सूर्य' का 'सूर्ज' होता था। लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा एवं केशवी शिक्षा के अनुसार रेफ तथा हकार की ही भाँति ऋकार के योग में यदि ऋकार बाद में हो तो पूर्ववर्ती यकार का उच्चारण सर्वत्न 'ज' ही होता था।[2] पदादि यकार के उच्चारण-सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य के अपवाद-स्वरूप यह भी विधान किया गया है, कि यदि उपसर्ग के बाद पदादि यकार रहे तो वह यकार के रूप में ही उच्चरित होगा यथा—'विद्युत्।' प्रस्तुत उदाहरण में 'द्युत्' शब्द में यद्यपि आद्यक्षर का यकार है परन्तु उसके पूर्व उपसर्ग होने से उस यकार को जकार के रूप में उच्चरित नहीं करते। उसे ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न द्वारा ही उच्चरित करने का विधान किया गया है।[3] जब किसी वाक्य में यकार का एकाधिक बार प्रयोग होता हो, तब भी यकार का उच्चारण विकल्प से यकार ही होता था। ठीक यही बात 'न' शब्द के बाद आने वाले यकार के विषय में भी चरितार्थ होती है।[4] अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त एकाधिक बार के यकार को तथा 'न' शब्द के बाद प्रयुक्त यकार को विकल्प से जकार के रूप में उच्चरित किया जाता था।

---

१. पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च। जः शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः। — ल० अ० न० शि०

२. पदान्तमध्यऋहरेफयुग्यस्य यश्च।—केशवी शि० २. यकारर्कारयुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत्।—ल० अ० न० शि० तथा तुलनीय-सिद्धेश्वर वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians

३. उपसर्गपरो यस्तु पदादिरपि दृश्यते। ईषत् स्पृष्टो यथा विद्युत् पदच्छेतात्परं भवेत्।—के० शि०

४. विभाषया यकारश्च नित्यमाम्रेडितेऽपि च। यत्न ययेति मा यज्ञं तथा येति पदादपि।—लघु अमो० शि० ६, अथात उत्तरो यः स्यात्तथा नेति पदात्परः। —लघु अमो० शि० ७

सोपसर्ग यकार के अपवाद स्वरूप केशवी शिक्षा (शि० सं० पृ० १३८) का मत उद्धृत कर देना प्रासङ्गिक होगा। इस शिक्षा के अनुसार 'सम्' उपसर्ग के बाद आने वाले 'य' एवं 'व' का उच्चारण गुरु (भारी) होता था। उदाहरणार्थ 'संवपामि' का उच्चारण संव्वपामि एवं संयौमि का उच्चारण संय्यौमि होता था। 'प्रातिशाख्य प्रदीप' शिक्षा के अनुसार यकार से शब्दारम्भ नहीं होने पर उसका (यकार का) उच्चारण जकार नहीं होता था। अतः अयजन्त का उच्चारण अजजन्त नहीं होता। केशवी शिक्षा का कथन है कि प्रारम्भिक एवं इसी कारण जो गुरु यकार एवं वकार है, उनका उच्चारण द्वित्व के रूप में होता था। उदाहरणार्थ 'वायवस्थ' का उच्चारण 'व्वायवस्थ', 'वसो पवित्रमसि' का उच्चारण 'व्वसो पवित्रमसि' एवं 'यजमानस्य' का उच्चारण 'य्यजमानस्य' किया जाना चाहिए। वही शिक्षा दूसरे सूत्र में विधान करती है कि इस 'गुरु' 'य्' का उच्चारण 'ज्' होना चाहिए।[1] वः, 'वाम्' इन सर्वनामों तथा 'वा' 'वै', 'वि', 'वौ' इत्यादि अव्ययों तथा उपसर्ग के बाद एवं विकल्प के निर्देशक इसी प्रकार के अन्य शब्दों में वकार का उच्चारण विकल्प से 'ईषत्-स्पृष्ट' प्रयत्न द्वारा किया जाता था।[2] अर्थात् 'व' के ही रूप में किया जाता था। इसी प्रकार 'अथ', 'मा', 'स', एवं 'न' शब्दों के बाद आए हुये यकार एवं वकार का उच्चारण विकल्प से अंतस्थों की भाँति ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न द्वारा किया जाना चाहिये। वकार एवं यकार को तीन प्रकार का कहा गया है। (i) गुरु—मुख-विवर के अधिक अवरोध के साथ उच्चरित। (ii) लघु—अंतस्थ की भाँति उच्चरित एवं (iii) अति लघु अर्थात्—अंतस्थ की अपेक्षा कम अवरोध द्वारा उच्चरित। वकार का गुरु उच्चारण करने की प्रथा केवल शब्दादि में आए हुए वकार के ही सम्बन्ध में प्रचलित थी। इसी प्रकार अतिलघु उच्चारण शब्दान्त में आए हुए वकार के साथ लागू होता था। यही बात यकार के विषय में भी है। अर्थात् पदादि में आये हुए यकार का उच्चारण अधिक अवरोध के साथ तथा पदान्त में आए हुए यकार को किञ्चत् कम अवरोध के साथ उच्चरित करना चाहिए। ध्यातव्य है कि जब मुख-विवर में वायु का अवरोध अधिक तीव्र होता है, तभी उच्चारण द्वित्व रूप में होता है।

---

१. द्रष्टव्य—Critical Studies in the Phonetics Observation of Indian Grammarians by S. Varma, Chap VI

२. वो वां वा वै वि वौ पाठे उपसर्गात्परो लघुः। अथ मा स न शब्देभ्यो विभाषाम्रेडिते यवौ ॥—श्लोक ९, आदेशाश्च विकल्पार्था ईषत्स्पृष्टाश्च ते स्मृताः।—श्लोक सं० ११

द्वित्वीकृत अंतस्थों का उच्चारण अंतस्थों की भाँति न होकर स्पर्श वर्णों की भाँति हो जाता है। एक ही शब्द में जब यकार एवं वकार किसी नासिक्य वर्ण के बाद आ रहा हो तो, इनका उच्चारण गुरु होता था, जबकि संधिज यकार एवं वकार लघु उच्चरित होते थे। इसी प्रकार उपसर्ग के बाद आने वाले यकार एवं वकार का उच्चारण लघु होता था।[१] अर्थात् उपसर्ग के बाद अंतस्थों की भाँति ही उच्चारण होता था। परन्तु इस विषय में केशवी शिक्षा (शि० संग्रह, पृष्ठ १३८) में एक अपवाद का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार सम् उपसर्ग के बाद 'य' एवं 'व' का उच्चारण गुरु होता था। तात्पर्य यह है कि सम् उपसर्ग के बाद आने वाले यकार एवं वकार क्रमशः जकार एवं 'बकार' के रूप में उच्चरित होते थे। प्रातिशाख्य-प्रदीप शिक्षा का कथन है कि जब 'य' से पद का आरम्भ नहीं हो रहा हो तब इसका उच्चारण ज् नहीं होगा, अतः 'अजयन्त' का उच्चारण 'अजजन्त' नहीं होगा। जब 'य' का किसी अन्य व्यञ्जन से संयोग हुआ हो, तब भी यह उच्चारण नहीं होता था। यथा—'अस्मिन्यज्ञे' पद में यकार का उच्चारण यकार ही होता है। किन्तु पदान्त में भी जब 'य्' का द्वित्व हो तो ऐसा उच्चारण अर्थात् जकार का उच्चारण होता था। जैसे—'नृपाय्य, धाय्या', 'जराय्यु' का उच्चारण क्रमशः नृपाज्ज, धाज्जा एवं 'जराज्जु' होता था। पाणिनि ने अपने युग में पदान्त यकार एवं वकार का उच्चारण लघु-प्रयत्न से होने का उल्लेख किया है। पाणिनि का कथन है कि शाकटायन के अनुसार वकार एवं यकार का उच्चारण लघु-प्रयत्न से होता है, यदि वे पदान्त हों।[२] च० अ० २।२४ में भी शाकटायन के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वकार एवं यकार का उच्चारण लेशवृत्ति द्वारा किया जाता था। इस सूत्र के पूरक रूप में च० अ० २।२१ में कहा गया है कि पदान्तीय यकार एवं वकार का लोप हो जाता है, स्वर बाद में होने पर। अर्थात् यदि स्वर के पूर्व पदान्त यकार और वकार आ जायें, तो उनका लोप हो जाता है।[३] लोप होने का तात्पर्य उसका लघुतम वृत्ति से उच्चरित होना ही प्रतीत होता है। अर्थात् उसका उच्चारण इस प्रकार

---

१. गुरुर्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत्। पदान्ते वै लघुतरस्तव व्वायवृतस्पते। उपसर्ग परो यस्तु सवकारो लघुर्मतः।—शि० सं० पृष्ठ १३८, उद्धृत—सि० वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians.

२. व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य।—पा० सू० ८।३।१४

३. लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनस्य। स्वराद्यवयोः पदान्तयोः॥—च० अ० २।२४, २।२१

होता है, जिसमें मुख-विवर में वायु का अवरोध बहुत कम होता है। फलतः ध्वनि अत्यन्त धीमी सुनाई पड़ती है। इस प्रकार की श्रवणीयता को लुप्त होने के ही समान समझना चाहिए। जैसा कि च० अ० २।२४ के भाष्य में बतलाया गया है।[1] शिक्षाग्रंथों में शब्द के मध्य में आये हुए यकार एवं वकार को भी लघु-प्रयत्न से उच्चरित होने का विधान प्राप्त होता है, जैसा कि पूर्वविवेचित है। अर्थात् पदादि में वे (यकार, वकार) गुरु तथा पदान्त में लघुतर उच्चरित होते थे। इससे यह भी अर्थ निकलता है कि पदादि यकार तथा वकार को पद के मध्य में आने पर लघु उच्चरित होना चाहिए। पाराशरी शिक्षा के अनुसार 'औ' तथा 'अ' की संधि से उत्पन्न वकार का उच्चारण भी लघुतर होता था। यथा-'अग्नावग्नि' वाक्यांश में आया हुआ वकार लघुतर उच्चरित होता था। इसी प्रकार मन्त्रगत दो ह्रस्व स्वरों के मध्य आये हुए वकार का उच्चारण भी लघुतर होता है। अर्थात् इस स्थिति में वकार अत्यन्त लघु प्रयत्न द्वारा उच्चरित होता था।[2] प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी अपने 'प्राकृत व्याकरण' में 'यकार' के अतिलघु प्रयत्न से उच्चारण करने की बात को स्पष्ट रूप से कहा है, उसके अनुसार यदि 'अ'या 'आ' से बाद एवं 'अ' या 'आ' से पूर्व व्यञ्जन-लोप से प्राप्त यकार हो तो इस प्रकार के यकार का उच्चारण लघु-प्रयत्न से होगा। अर्थात् उस यकार के दोनों ओर 'अ' अथवा 'आ' का होना आवश्यक है। जैसे—नयण एवं दयालु इत्यादि शब्दों में।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उपरिविवेचित परिस्थितियों में यकार एवं वकार का उच्चारण क्रमशः जकार एवं बकार के रूप में हो जाता था, जिसका मूलकारण उच्चारण में आलस्य की प्रवृत्ति को ही कहा जा सकता है। परन्तु यह उच्चारण यजुर्वेद की माध्यन्दिन-शाखा तक ही सीमित था। यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार का उच्चारण भी भौगोलिक स्थितियों पर निर्भर था। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार इस प्रकार का उच्चारण केवल प्रयाग के पश्चिम के उत्तर भारत के भाग में ही होता था, जिसे मध्यदेश के नाम से पुकारते थे। डॉ० वर्मा को यकार के जकार रूप में उच्चरित होने का तथ्य

---

१. लेशः लुप्तवदुच्चारणम् ।—च० अ० २।२४, द्रष्टव्य—च० अ० पर ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या

२. आकारान्ते पदे पूर्वे अकारे परतः स्थिते। लघूतरं विजानीयात् अग्नावग्नि-श्चेति निदर्शनम् ।—पाराशरीशिक्षा ६५ तथा अमोघानन्दिनी शिक्षा २६, आद्यन्तह्रस्वयोर्मन्त्रे वकारो यत्र दृश्यते स तु ह्रस्व इति प्रोक्तोऽभियुध्येति निदर्शनम् ।—पाराशरी शि०

३. अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति ।—हेमचन्द्रकृत प्रा० व्या० १।१८०

मागधी-भाषा में नहीं मिला, जिसका क्षेत्र पूर्वी भाग तक ही सीमित था। इनके अनुसार—"यह ध्यान देने की बात है कि मागधी में जिसका क्षेत्र देश के पूर्वी भाग तक ही सीमित था, पदादि 'य' का 'ज' में परिवर्तन नहीं हुआ है। वैयाकरणों के अनुसार मागधी में केवल संस्कृत-भाषा का आदि 'य्' अपरिवर्तित रहता है। यथा-यदि, एवं यथा शब्दों में। कतिपय स्थलों पर यकार का परिवर्तन हो भी गया है अर्थात् संस्कृत का आदि 'ज्' य् हो गया है"।[1] उदाहरणार्थ मागधी में 'जानाति' का उच्चारण 'यानाति के रूप में होता है। अन्त में निष्कर्षरूपेण यह कहा जा सकता है कि यजुर्वेदियों के मध्य कुछ विशेष परिस्थितियों में यकार को 'य्यकार' तथा वकार को 'व्वकार' के रूप में उच्चरित करने की प्रवृत्ति वर्तमान थी। शुक्ल यजुर्वेदी लोग आज भी पदादि 'व' का उच्चारण दन्तोष्ठ्य रूप में (व्व) करते हैं। इसी उच्चारण को गुरु भी कहा जाता है। यकार के भी गुरु उच्चारण का तात्पर्य है 'य्य' रूप में उच्चरित करना; और यही 'य्य' जकार रूप में उच्चरित हो जाता है। तथा 'व्व' को बकार के रूप में उच्चरित किया जाता है। इस प्रकार के उच्चारण का मूलकारण उच्चारण-सौकर्य ही है।

षकार—कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों में षकार को 'खकार' के रूप में उच्चारण करने का विधान प्राप्त होता है। शिक्षा-ग्रन्थों के अनुसार टवर्गीय स्पर्शों के अतिरिक्त कोई भी अन्य वर्ण (स्वर या व्यञ्जन) बाद में होने पर षकार का उच्चारण 'खकार' किया जाता था।[2] केशवी शिक्षा ३ के भाष्य में (सूत्र में नहीं) पदान्तमध्य में स्थित षकार के खकार के रूप में उच्चारण का विधान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पदादि में आये हुए षकार को खकार के रूप में उच्चरित करने का विधान शिक्षाकार को मान्य नहीं है।[3] पद्यात्मिका शिक्षा १४ में ककार बाद में होने पर भी षकार के खकार उच्चारण का निषेध किया गया है।[4] इसी प्रकार कतिपय अन्य शिक्षा-ग्रन्थों में भी षकार को खकार के रूप में उच्चरित होने का विधान पाया जाता है। विस्तार के भय से उन सभी शिक्षा-ग्रन्थों के सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत स्थल पर नहीं की जा रही है।

---

१. डॉ० सि० वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians, Chap. VI

२. षकारस्य खकारः स्यात् टुक्योगे तु नो भवेत्।—द्वितीया लघु मा० शि०, शि० सं०, पृ० ११४

३. षः खष्टुमृते च।—केशवी शिक्षा सू० ३

४. टुमृने संयुक्तस्यापि कस्य योगे ष एव हि।—पद्यात्मिका शि० १४

उपर्युक्त केशवी शिक्षा के भाष्य में पादादि षकार के खकार उच्चारण का विधान न होने से ऐसा प्रतीत होता है, कि उस समय अर्थात् जब केशवी शिक्षा पर उक्त भाष्य लिखा गया, तब पादादि में आये हुए षकार का खकार के रूप में उच्चारण होने की परम्परा लुप्त हो गई थी। क्योंकि अन्य किसी भी शिक्षा में पदादि षकार के खकार उच्चारण का निषेध नहीं किया गया है। आधुनिक युग में तो पदादि षकार को भी खकार के रूप में उच्चरित करने की परम्परा लोक में देखी जाती है। इस प्रकार 'षष्ठ' का उच्चारण लोक में 'खष्ठ' होते सुना जाता है। 'केशवी शिक्षा' के भाष्यकार की बात इस तथ्य को ध्यान में रखकर सोचा जाय तो अधिक उचित ठहरती है। वास्तविकता यह है कि किसी भी शिक्षा-सूत्रकार एवं भाष्यकार ने एक भी उदाहरण ऐसा नहीं प्रस्तुत किया है, जिसमें पदादि षकार का भी उच्चारण खकार के रूप में होता रहा हो। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पदान्त और पद के मध्य में आया हुआ षकार टवर्ग एवं ककार के अतिरिक्त अन्य कोई भी वर्ण बाद में होने पर खकार के रूप में उच्चरित होता था। अर्थात् टवर्ग एवं ककार के पूर्व स्थित अपदादि षकार खकार के रूप में उच्चरित होता था।

कतिपय स्वरवर्णों के स्वरूप के विषय में विशेष

ऋवर्ण एवं ऌवर्ण का स्वरूप—प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में ऋवर्ण एवं ऌवर्ण के स्वरूप के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं। ये वर्ण क्रमशः रेफ और लकार की स्वरीभूत ध्वनियाँ हैं। इसीलिये प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में इन ध्वनियों के मध्य क्रमशः रेफ एवं लकार का अंश स्वीकार किया गया है। वा० प्रा० ४।१४७ में कहा गया है कि ऋवर्ण एवं ऌवर्ण में क्रमशः रेफ और लकार संश्लिष्ट (मिले हुए) हैं, तथा रेफ और लकार का संश्लेष होने पर भी ये दोनों वर्ण एकश्रुति हैं एवं एक वर्ण हैं।[1] इसी सूत्र पर भाष्य में उवट का कथन है कि इन स्वरों के मध्य रेफ और लकार अर्द्धमात्रिक होते हैं। उवट का तात्पर्य है कि इन वर्णों में अणुमात्रिक कण्ठ्य ध्वनि के मध्य क्रमशः अर्द्धमात्रिक रेफ एवं लकार मिले हुए होते हैं।[2] अर्थात् ऋवर्ण = कण्ठ्य ध्वनि $\frac{1}{4}$ मात्रा + रेफ $\frac{1}{2}$

---

१. ऋऌवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ।— वा० प्रा० ४।१४७

२. ऋकारे ऌकारे च यथासंख्यं रेफलकारौ कण्ठ्याणुमात्रयोर्मध्येऽर्धमात्रिकौ संश्लिष्टावेकीभूतौ-एकश्रुतिभूतौ भवतः।—वा० प्रा० ४।१४७ पर उवट

माता + कण्ठ्य ध्वनि ¼ माता। लृवर्ण = कण्ठ्य ध्वनि ¼ माता + लकार ½ माता + कण्ठ्य ध्वनि ¼ माता। प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक सिडनी एलेन ने 'अश्रुतिधरौ' का अर्थ 'अकारश्रुति सहित' किया है। ऋ० प्रा० १३।३४ के अनुसार ह्रस्व ऋकार एवं दीर्घ ऋकार दोनों में रेफ होता है, परन्तु दीर्घ ऋकार के पूर्वार्द्ध में रेफ होता है तथा ह्रस्व ऋकार के मध्य में रेफ होता है। दीर्घ ऋकार का रेफ या तो ह्रस्व ऋकार के रेफ से अल्प होता है, या उसके समान ही होता है।[1] ऋ० प्रा० का यह मत ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि ह्रस्व-ऋकार एवं दीर्घ ऋकार के मध्य भेद यही है कि ह्रस्व ऋकार को अधिक देर तक उच्चरित करने से दीर्घ ऋकार की निष्पत्ति हो जाती है। यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो ह्रस्व ऋकार की वह दीर्घता जिससे ध्वनि दीर्घ-ऋकार के रूप में परिणत हो जाती है, केवल स्वरात्मक होती है, व्यञ्जनात्मक नहीं। अतः दीर्घ ऋकार के अंतिम भाग में रेफ का अंश नहीं रहता है। लृकार के विषय में ऋ० प्रा० में केवल यही कहा गया है कि, उसी रेफ के लकार हो जाने पर 'क्लृप्' धातु में लृकार 'स्वर' हो जाता है।[2] ऋवर्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में 'सर्व-सम्मत शिक्षा' १६ में स्पष्ट विधान है—कि ऋकार का स्वरूप यदि चार पादों से युक्त माना जाय तो, उन पादों में आदि का एक पाद एवं अन्त का एक पाद स्वरात्मक होता है तथा मध्य में दो पाद अर्थात् दो अणु माता रेफ व्यञ्जन की होती है।[3] च० अ० १।३७ में कहा गया है कि ऋवर्ण में रेफ संस्पृष्ट है।[4] च० अ० के इसी सूत्र के भाष्य में उवट ने यह बतलाने का प्रयास भी किया है, कि ऋवर्ण में संस्पृष्ट रेफ की स्थिति किस प्रकार की होती है। भाष्य में कहा गया है कि ऋवर्ण में जो स्वर की माता है उसके बीच में अर्द्ध मात्रिक रेफ संस्पृष्ट है। रेफ का स्वर के साथ यह संश्लेष उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार अंगुलियों के साथ नख संश्लिष्ट रहता है, अथवा जिस प्रकार सूत्र में मोती (मणि) संश्लिष्ट

---

१. रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्धे पूर्वे ह्रसीयांस्तु न वेतरस्मात्। मध्ये सः।
—ऋ० प्रा० १३।३४

२. तस्यैव लकारभावे धातौ स्वरः कल्पयताव्लृकारः।—ऋ० प्रा० १३।३५

३. ऋकारस्य स्वरूपं हि श्लिष्टं पादचतुष्टयम्। पादेषु तेषु विज्ञेयो आदावन्ते स्वरात्मकौ। अणूरेफस्य मध्ये तु विज्ञेयौ व्यञ्जनात्मकौ।—सर्वसम्मत शि० १६

४. संस्पृष्टरेफमृवर्णम्।—च० अ० १।३७

रहती है। कुछ आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार तृण में कृमि संश्लिष्ट रहती है, उसी प्रकार ऋवर्ण में स्वरात्मक तत्त्व के बीच में रेफ संश्लिष्ट रहता है।[1] च० अ० १।३८ में ऋ० प्रा० के समान ही विधान प्राप्त होता है। जिसके अनुसार दीर्घ एवं प्लुत ऋवर्ण के पूर्ववर्ती मात्रा में रेफ संश्लिष्ट होता है।[2] वा० प्रा० ४।१४५ की व्याख्या में प्रो० वबर का मत है कि ऋकार के आदि और अन्त में विद्यमान स्वरों की मात्रा रेफ की मात्रा से दुगुनी है।[3] अर्थात् ऋकार=४ अ+२ रेफ+४ अ। वेबर का उपर्युक्त मत अन्य प्रातिशाख्यों के मतों से भिन्न है। इसी प्रकार च० अ० १।३९ में लृवर्ण के मध्य लकार के संश्लिष्ट होने का विधान भी किया गया है।[4] लृवर्ण में भी लकार उसी परिमाण में संश्लिष्ट है, जिस परिमाण में ऋवर्ण में रेफ का संश्लेष होता है। च० अ० १।३९ के भाष्य में एक कारिका उद्धृत की गई है, जिसके अनुसार जब ऋवर्ण में अथवा ॠवर्ण में रेफ के स्थान पर लकार का संश्लेष हो जाय, तो विद्वान् लोग परिणामस्वरूप 'लृ' एवं 'ॡ' को उच्चरित होना स्वीकार करते हैं।[5] उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि ऋवर्ण एवं लृवर्ण ध्वनियाँ रेफ और लकार की अक्षर संघटनाकारी ध्वनियाँ हैं।

प्रश्न हो सकता है कि जब ऋवर्ण एवं लृवर्ण में क्रमशः रेफ और लकार का संश्लेष है, तब इनका उच्चारण भी स्वर की भाँति न होकर इनके अवयवों के क्रमानुसार रूप में होना चाहिए। अर्थात् प्रारम्भ में स्वरात्मक पुनः व्यञ्जनात्मक तथा बाद में फिर स्वरात्मक रूप से इनका उच्चारण होना चाहिए। वा० प्रा० एवं ऋ० प्रा० में मूलस्वरों के अन्तर्गत इनकी गणना की गई है। इनको मूलस्वर कहने का तात्पर्य यही है कि इनकी उत्पत्ति किन्ही दो स्वरों के संयोग से, उनकी संधि होने पर नहीं होती। ऋ० प्रा० तो ऋकार को समानाक्षर भी मानता है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि यदि समानाक्षर से तात्पर्य ऐसी ध्वनि से हो,

---

१. ऋवर्णे स्वरमात्रायाः तस्याः मध्येऽर्धमात्रायाः रेफो भवति संस्पृष्टो यथ- अङ्गुल्यां नखं तथा सूत्रे मणिः इवेत्येके तृणे कृमि इव इति च.........। —च० अ० १।३७ भाष्य।

२. दीर्घप्लुतयोः पूर्वा मात्रा।—च० अ० १।३८

३. द्रष्टव्य—वा० प्रा० ४।१४५ पर वेबर

४. सलकारम् लृवर्णम्।—च० अ० १।३९

५. ऋ वर्णे च ॠवर्णे च लः प्रश्लिष्टो यदा भवेत्। लृ ॡ इति तद् इच्छन्ति प्रयोगं तद्विदो जनः।—च० अ० १।३९ भाष्य

जिसका उच्चारण सर्वांश में समान रूप से होता हो तथा जिसके उच्चारण में करण को एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ चलना न पड़े, तो ये वर्ण (ऋ, लृ) समानाक्षर नहीं प्रतीत होते। जैसा कि वै० प्रा० ने स्वीकार भी किया है। ऋकार एवं लृकार में स्वर-तत्त्व एवं व्यञ्जनतत्त्व इस प्रकार मिले हुये होते हैं, जैसे दुग्ध और जल परस्पर सम्पृक्त होकर एक रूपता को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये इन ध्वनियों में रेफ और लकार की पृथक् श्रुति नहीं होती और ये वर्ण एक वर्णवत् होकर उच्चरित होते हैं। म० भा० १।१।१ पर कैयट इन वर्णों को स्वर मानने के पक्ष में नहीं हैं।[1] इसका कारण कैयट ने यह दिखलाया है कि इनके उच्चारण में 'ईषत्-स्पृष्ट' आभ्यन्तर-प्रयत्न होता है जबकि स्वरों का आभ्यन्तर-प्रयत्न 'विवृत' है।

अवेस्ता की भाषा में भी ऋकार में स्वर तथा व्यञ्जन का संयोग माना जाता है और वह स्वरात्मक अंश एकार की भाँति उच्चरित होता है। आधुनिक युग में उच्चारण-सौकर्य को ध्यान में रखकर अधिकांश भारतीय विद्वान् 'ऋ' का उच्चारण 'रि' की भाँति करने लगे हैं। दक्षिण भारतीय अनेक विद्वान् 'ऋ' का उच्चारण 'रु' की भाँति करते हैं। सम्भवतः इसी बात को दृष्टि में रखकर ऋ० प्रा० १४।३८ में ऋकार को रेफ सहित उकार के रूप में उच्चारण करने को दोष बतलाया गया है।[2] वास्तव में दक्षिण भारत के कतिपय शिलालेखों में ऋकार के स्थान पर 'रु' मिलता है। अनेक संस्कृत-पाण्डुलिपियों तथा विदेशी भाषाओं में लिखे गये संस्कृत-शब्दों को देखने से यह प्रतीत होता है, कि अति प्राचीन-काल में भी ऋकार का उच्चारण 'रि' के रूप में होना प्रारम्भ हो गया था। कतिपय वैदिक शाखाओं में 'ऋ' का उच्चारण 'रे' की भाँति भी होने लगा था। इसी प्रकार आजकल 'लृ' का उच्चारण 'लृ' की भाँति किया जा रहा है, परन्तु यह दोषपूर्ण उच्चारण है।

सन्ध्यक्षरों का स्वरूप

प्रातिशाख्यों एवं प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिक अन्यान्य ग्रन्थों में ए, ओ, ऐ तथा औ को सन्ध्यक्षर कहा गया है। इन वर्णों को संध्यक्षर कहने का तात्पर्य है कि ये वर्ण दो भिन्न-भिन्न स्वरों के मेल के फलस्वरूप निष्पन्न होते हैं। ऋ० प्रा० १।२ पर उवट ने कहा है कि अकार की इकार के साथ, उकार के साथ, एकार के साथ तथा

---

१. द्रष्टव्य—महाभाष्य १।१।१ पर कैयट

२. स्वरौ कुर्वन्त्योष्ठ्यनिभौ सरेफौ तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्यन्नॄभिर्नॄन्।—ऋ० प्रा० १४।३८

ओकार के साथ संधि होने पर क्रमशः एकार, ओकार ऐकार तथा औकार वर्णों की निष्पत्ति होती है और इन्हें संध्यक्षर कहा जाता है।[1] यद्यपि सूत्रकार ने १।४२ तथा १।४७ में एकार तथा ऐकार को तालु-स्थानीय वर्ण और ओकार तथा औकार को ओष्ठ-स्थानीय वर्ण माना है[2], किन्तु सूत्रकार ने १३।३८ में बतलाया है कि कतिपय आचार्य इन संध्यक्षरों को संधि से उत्पन्न बतलाते हैं। इस प्रकार इन दोनों में अर्थात् कण्ठतालु स्थानीय (ए, ऐ) तथा कण्ठोष्ठ्य स्थानीय (ओ, औ) में द्विस्थानता है अर्थात् इन सभी स्वरों का उच्चारण दो-दो स्थानों से होता है।[3] इस सूत्र के भाष्य में उवट ने यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार अन्य अक्षर (समानाक्षर) स्वयं उच्चरित होते हैं अर्थात् एक समान श्रुति से एवम् एक ही उच्चारण-स्थान से उच्चरित होते हैं, उस प्रकार ये संध्यक्षर उच्चरित नहीं हो पाते। अर्थात् इन संध्यक्षरों के उच्चारण में समानाक्षरों के उच्चारण की भांति उच्चारणावयवों की स्थिति सर्वांश में एक जैसी नहीं रहती, अपितु उच्चारणावयवों को एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर चलना पड़ता है। उवट ने इसी तथ्य को पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के रूप में इस प्रकार समझाया है—ए और ऐ तथा ओ और औ में दो-दो उच्चारण-स्थानों—क्रमशः कण्ठ और तालु तथा कण्ठ और ओठ से उच्चरित होने का गुण परिलक्षित होता है।[4] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समानाक्षरों का उच्चारण एक ही स्थान से एक ही प्रयत्न द्वारा हो जाता है उस प्रकार संध्यक्षरों का उच्चारण नहीं हो पाता। इनके उच्चारण के लिये वक्ता दो-दो प्रयत्नों का सहारा लेता है। इस प्रकार संध्यक्षर 'चल वर्ण' कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण के लिए वक्ता एक स्थान पर एक प्रकार का उच्चारण करते हुए दूसरे स्थान की ओर चलता है। ऐसा करने से दोनों स्वरों के मिश्रित रूप का उच्चारण हो जाता है।

---

१. अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण सह सन्धौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते।—ऋ० प्रा० १।२ पर उवट

२. तालव्यावेकारचकारवर्गाविकारैकारौ यकारः शकारः, शेष ओष्ठ्योऽपवाद्य-नासिक्यान्।—ऋ० प्रा० १।४२, ४७

३. संध्यानि संध्यक्षराण्याहुरेके द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु।—ऋ० प्रा० १३।३८

४. यथान्यान्यक्षराणि स्वयमुत्पन्नानि न तथेमानि। कथमेतदध्यवसीयते ? द्विस्थानता कण्ठतालुस्थानताकण्ठोष्ठस्थानता च, तथा लक्ष्यत उभयेषु संध्यक्षरेषु कण्ठ्यतालव्ययोः कण्ठ्योष्ठ्योश्च।—ऋ० प्रा० १३।३८ पर उवट

अब एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब ये संध्यक्षर संधि के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होते हैं तो इनके उच्चारण में किन दो-दो वर्णों की संधि होती है तथा उन मिश्रित वर्णों की मात्रा कितनी रहती हैं। इस प्रश्न के उत्तर में ऋ० प्रा० १३।३९ में आचार्य शाकटायन के मत को प्रस्तुत किया गया है—'ए' तथा 'ऐ' में अकार पूर्ववर्ती आधा भाग होता है और इकार परवर्ती आधा भाग होता है, ओ तथा औ में अकार पूर्ववर्ती आधा होता है तथा उकार परवर्ती आधा भाग होता है।[1] इस सूत्र पर भाष्य में उवट ने इन वर्णों में संधि को प्राप्त होने वाले वर्णों के स्वरूप को इस प्रकार बतलाया है—अ+इ=ए, अ+उ=ओ, अ+ई=ऐ एवं अ+ऊ=औ।

प्रश्न यह होता है कि जब ये चारो वर्ण संध्यक्षर हैं, तब इनके श्रूयमाण स्वरूप में भेद क्यों है? इन्हें उसी प्रकार श्रुतिगोचर होना चाहिए जिस रूप में इनके अवयवभूत वर्णों का श्रवण होता है। इस प्रश्न का उत्तर ऋ० प्रा० १३।४० में दिया गया है।[2] इस सूत्र की व्याख्या उवट ने दो प्रकार से की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार सूत्र का अर्थ है—'अ' और 'इ' तथा अ और उ की मात्राओं के परस्पर मिल जाने से इनका (अ तथा इ एवं उ का) पृथक्-पृथक् श्रवण नहीं होता। उवट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है, कि इन संध्यक्षरों में पूर्ववाले दो अक्षरों (ए, ओ) में अकार+इकार तथा अकार+उकार के दुग्ध और जल की भाँति मिल जाने से यह ज्ञात नहीं हो पाता कि अवर्ण की मात्रा किस अंश में है तथा इवर्ण एवं उवर्ण की मात्रा किस अंश में है।[3] इसीलिये ये दोनों अक्षर एकश्रुति वाले हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्ववाले दो संध्यक्षर (ए, ओ) में उनके अवयवभूत दोनों स्वरों की मात्रा सर्वांश में समान परिमाण में होती है। अतः ये दोनों संध्यक्षर एकश्रुति वाले हैं। इसके विपरीत 'ऐ' तथा 'औ' में अकार की एक मात्रा के साथ क्रमशः दो मात्रिक इकार एवं दो मात्रिक उकार का सम्मिश्रण है। अतः उवट के अनुसार इनमें दोनों अवयवों का मेल दुग्ध और जल की भाँति

---

१. संध्येष्वकारोऽर्धमिकार उत्तरं युजोरुवार इति शाकटायनः।—ऋ० प्रा० १३।३९

२. मात्रा संसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती।—ऋ० प्रा० १३।४०

३. अवरे पूर्वे ए ओ इत्येते मात्रासंसर्गात् मात्रयोः समयोः क्षीरोदकवत् संसर्गात्। न ज्ञायते क्वावर्णमात्रा क्व वेवर्णयोरिति। तस्मात् ते अक्षरे अपृथक्श्रुती भवतः।—ऋ० प्रा० १३।४० पर उवट

नहीं होने से ये वर्ण एकश्रुति वाले नहीं हैं। एकार में 'अ' की एक माला के साथ 'इ' की एक माला सम्मिलित है, जबकि ऐकार में 'अ' की एक माला के साथ 'ई' की दो माला का मेल है। इसी प्रकार ओकार में 'अ' की एक माला के साथ 'उ' की एक माला सम्मिलित है, जबकि औकार में 'अ' की एक माला के साथ 'ऊ' की दो माला का मेल है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि संध्यक्षरों में पूर्व वाले दो (ए, ओ) वर्णों में दोनों अवयवों की माला समान होती है। इस शंका का निवारण उवट ने द्वितीय व्याख्या में कर दिया है। द्वितीय व्याख्या के अनुसार ए और ओ में अकार के साथ क्रमशः इकार तथा उकार की मालाओं के दुग्ध और जल के समान मिल जाने से इन दोनों अक्षरों (ए, ओ) की ऐकार तथा औकार के साथ पृथक् श्रुति होती है अर्थात् ऐकार तथा औकार की श्रवणीयता एवं एकार तथा ओकार की श्रवणीयता में तात्त्विक भेद दृष्टिगोचर होता है। वा० प्रा० १।४५ में ए, ओ, ऐ तथा औ को संध्यक्षर तो कहा गया है परन्तु इनमें से एकार तथा ओकार के स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया गया है।[१] वा० प्रा० १।७३ में ऐकार तथा औकार के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि ऐकार और औकार में आदि माला कण्ठ्य (अकार) वर्ण की एवं उत्तर माला क्रमशः तालु वर्ण एवं ओष्ठ्य वर्ण की है।[२] भाष्यकार उवट एवं अनन्त भट्ट का मत ऋ० प्रा० में दिये गये आचार्य शाकटायन के मत से कुछ अंशों में भिन्न है। इनके अनुसार ऐकार में पूर्ववर्ती अर्द्धमालाकालिक अंश कण्ठ्यवर्ण अकार का है एवं परवर्ती डेढ़ मालाकालिक अंश ओष्ठ्यवर्ण ओकार का है।[३] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अ + ओ के संयोग से औकार तथा अ + ए के संयोग से ऐकार की निष्पत्ति होती है। इनमें मिश्रित वर्णों की माला का अनुपात इस प्रकार होता है—$\frac{१}{२}$ अ + १$\frac{१}{२}$ ए = ऐ एवं $\frac{१}{२}$ अ + १$\frac{१}{२}$ ओ = औ। उवट के इस कथन से यही स्पष्ट होता है कि ऐकार तथा औकार में एकार तथा ओकार के साथ सम्पृक्त होने वाले अकार की माला का मेल दुग्ध और जल के समान नहीं होता। अतः ये वर्ण एक वर्ण की भाँति श्रुतिगोचर नहीं हो सकते। वा० प्रा० ४।१४३ में ऐकार तथा औकार की द्विवर्णता में 'मुखसंधारण' रूप विशेषता से एकवर्णता का विधान किया गया है।[४] भाष्यकारों का कथन है कि ऐकार तथा औकार के श्रूयमाण स्वरूप में

---

१. सन्ध्यक्षरं परम्।—वा० प्रा० १।४५

२. ऐकारौकारयोः कण्ठ्यापूर्वामाला तालवोष्ठ्योरुत्तरा।—वा० प्रा० १।७३

३. अकारस्यार्द्धमाला एकारस्याध्यर्द्धा ऐकारे, अकारस्यार्द्धमाला ओकारस्याध्यर्द्धा औकारे इति।—वा० प्रा० १।७३ पर उवट एवं अनन्त भट्ट

४. ऐकारौकारौ च।—वा० प्रा० ४।१४३

द्विवर्णता होने पर भी मुख के संधारण के कारण ये वर्ण एक वर्ण की भांति उच्चरित होते हैं।[1] इनके उच्चारण में मुख-विवर की एक प्रकार की ही स्थिति बनाये रखने से एवं एक ही बार आभ्यन्तर प्रयत्न के किये जाने से इनका उच्चारण एक वर्ण की भांति हो जाता है। तै० प्रा० २।२६-२६ में भी ऐकार तथा औकार के स्वरूप के विषय में पर्याप्त विचार किया गया है। इसके अनुसार ऐकार एवं औकार के आदि में अकार की आधी मात्रा होती है। ऐकार में परवर्ती डेढ़ मात्रा इकार की होती है। इसी प्रकार औकार में परवर्ती डेढ़ मात्रा उकार की होती है। इन दोनों वर्णों में सम्पृक्त अकार को कतिपय आचार्य संवृततर करण वाला स्वीकार करते हैं।[2] तै० प्रा० २।२६ पर वै० में यह संकेत किया गया है कि 'ए' तथा 'ओ' में अकार के साथ क्रमशः इकार एवं उकार की मात्रा प्रश्लिष्ट होती है। फलस्वरूप उनके उच्चारण में द्विवर्णता की सत्ता नहीं मानी जा सकती, परन्तु ऐकार तथा औकार के उच्चारण में इनकी मात्रा प्रश्लिष्ट नहीं होती। अतः ऐकार तथा औकार में द्विवर्णता परिलक्षित होती है। इसी तथ्य को ऋ० प्रा० १३।४१ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—ऐकार और औकार ह्रस्व स्वर वर्ण और अनुस्वार के मेल के समान हैं।[3] इसी सूत्र के भाष्य में उवट ने स्पष्टतः कहा है कि जिस प्रकार ह्रस्व स्वर वर्ण और अनुस्वार के संयोग में अनुस्वार पाद मात्रा अधिक होता है तथा उपधाभूत स्वर उससे कम मात्रा वाला होता है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए। ऐकार तथा औकार में इवर्ण एवं उवर्ण की मात्रा अधिक होती है तथा अवर्ण की मात्रा कम होती है। इसलिये इन वर्णों में दोनों मात्राओं की असमानता होने से अवर्ण और इवर्ण की पृथक्-पृथक् श्रुति होती है।[4] पा० शि० में इन संध्यक्षरों के स्वरूप के सम्बन्ध में एक

---

१. ऐकार औकारश्च द्विवर्णौ सन्तौ एकवर्णवद्धारणादेकवर्णौ भवतः।—एक प्रयत्ननिर्वर्त्यौ भवतः।—वा० प्रा० ४।१४३ पर उवट

२. अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः।—तै० प्रा० २।२६, संवृततरकरणमेकेषाम्। —तै० प्रा० २।२७, इकारोऽध्यर्द्ध पूर्वस्य शेषः।—तै० प्रा० २।२८

३. ह्रस्वानुस्वारव्यतिसंगवत्परे।—ऋ० प्रा० १३।४१

४. यथा तत्र अनुस्वारः पादमात्राधिक उपधा च तावता न्यूना एवमिहापि द्रष्टव्यम्। इवर्णोवर्णयोर्भूयसी मात्रा, अल्पीयस्यावर्णस्य। तस्मात्तयोर्वैषम्यान्न क्षीरोदकवत् संसर्गो भवति। तस्मात्तयोरवर्णस्य चेवर्णोवर्णयोश्च पृथक् श्रवणं भवति।—ऋ० प्रा० १३।४१ पर उवट

कारिका दी गई है। जिसके अनुसार एकार तथा ओकार में कण्ठ्यवर्ण अकार की आधी मात्रा है तथा ऐकार और औकार में कण्ठ्य वर्ण की एक मात्रा है तथा शेष मात्रा 'ए', ओ में इकार की एवं 'ऐ', औ में उकार की होनी चाहिये।[1] इस कारिका का अंतिम पद (तयोर्विवृतसंवृतम्) के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु प्रस्तुत विधान के सम्बन्ध में तै० प्रा० २।२७ पर विचार करने से इसका समाधान प्राप्त हो जाता है। तै० प्रा० के अनुसार कतिपय आचार्य ऐकार तथा औकार के उच्चारण में करणावस्था को संवृततर मानते हैं। पा० शि० की इस कारिका का भी शब्दों के क्रमानुसार यही अर्थ उचित जान पड़ता है कि ए, ओ के उच्चारण में करण की विवृत-अवस्था तथा ऐ, औ के उच्चारण में करण की संवृत-अवस्था होनी चाहिए। परन्तु 'सिडनी एलेन' ने अपने ग्रन्थ में इसकी व्याख्या दूसरे ढंग से प्रस्तुत की है। उसके अनुसार ऐ तथा औ का प्रथम अवयव (अ) विवृत-प्रयत्न वाला हो सकता है, तथा 'ए' और 'ओ' का प्रथम अवयव (अ) संवृत-प्रयत्न वाला हो सकता है।[2] च० अ० १।४० में विधान किया गया है कि संध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) संस्पृष्ट (दो स्वरों के मेल से उत्पन्न) वर्ण हैं तथा उनका व्यवहार एक वर्ण की भाँति होता है।[3] परन्तु च० अ० १।४१ में यह भी स्पष्टतः कहा गया है कि उच्चारण-स्थान के विधान की दृष्टि से ऐकार तथा औकार एक वर्ण की भाँति व्यवहृत नहीं किये जाते हैं। अर्थात् ऐकार और औकार का उच्चारण एकार तथा ओकार के उच्चारण से भिन्न रूप से होता है।[4] इसी सूत्र के भाष्य में एक कारिका को उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि ऐकार तथा औकार में जो पूर्व की मात्रा है तथा जो परवर्ती मात्रा है उनके मध्य में आधी मात्रा संस्पृष्ट होती है।[5] इस कारिका का अर्थ अस्पष्ट सा है। ह्विटनी ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि ऐकार के आदि एवं अन्त में क्रमशः अकार तथा इकार हैं, तथा इन ध्वनियों के मध्य में एक मात्रा

---

१. अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्। ऐकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृत-संवृतम्।—पा० शि० १३

२. द्रष्टव्य—Phonetics in Ancient India, Page 63

३. संध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः।—च० अ० १।४०

४. नैकारौकारयोः स्थानविधौ।—च० अ० १।४१

५. ऐकारौकारयोश्चापि पूर्वामात्रा परा च या। अर्द्धमात्रा तयोर्मध्ये संस्पृष्टा इति स्मृतः।—च० अ० १।४१

परिमाण वाली ऐसी ध्वनि है, जिसमें अकार तथा इकार का संश्लेष होता है।[1] प्रातिशाख्यों के उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्यों के रचनाकाल में ये चारो वर्ण सन्ध्यक्षर माने जाते रहे हैं, परन्तु उनमें से एकार तथा ओकार का उच्चारण एक वर्ण की भाँति हो जाता था। जबकि ऐकार तथा औकार एक वर्ण की भाँति उच्चरित नहीं होते थे। वा० प्रा० 'मुख-संधारण' रूप उच्चारण-प्रक्रिया के माध्यम से इन वर्णों के उच्चारण में भी एकवर्णता का विधान किया गया है। उच्चारण की दृष्टि से एकार तथा ओकार को समानाक्षर के सदृश कहा जा सकता है। इस विषय में यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि मूलतः ये चारों वर्ण सन्ध्यक्षर थे। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि मूल भारोपीय भाषा में ए, ओ, ऐ तथा औ का उच्चारण क्रमशः 'अइ', 'अउ', 'आइ' तथा 'आउ' के रूप में होता था। बाद में चलकर 'अइ' तथा 'अउ' का उच्चारण क्रमशः 'ए' तथा 'ओ' होने लगा। 'ए' तथा 'ओ' इन दोनों सन्ध्यक्षरों ने अपने संध्यक्षर-स्वरूप को नष्ट कर दिया और समानाक्षर के सदृश उच्चरित होने लगे। साथ ही साथ 'आइ' तथा 'आउ' के उच्चारण में भी परिवर्तन हो गया। ये क्रमशः ऐ तथा औ के रूप में उच्चरित होने लगे। ऐ तथा औ का वास्तविक उच्चारण 'अइ' तथा 'अउ' है। इस प्रकार ऐकार तथा औकार ने तो अपने सन्ध्यक्षर-स्वरूप को सुरक्षित रखा, परन्तु ए तथा ओ का उच्चारण समानाक्षर के समान होने लगा। संधि के नियमानुसार ए, ओ, ऐ तथा औ के बाद यदि कोई स्वर आ जाय तो ये चारो स्वर क्रमशः अय्, अव्, आय् तथा आव् हो जाते हैं। इससे भी यही तथ्य सामने आता है कि प्रातिशाख्यों के काल में ऐ, औ का उच्चारण संध्यक्षर की भाँति अवश्य होता था। इन दो वर्णों के संध्यक्षर-स्वरूप की रक्षा का एक कारण और भी हो सकता है, वह यह कि इन दो वर्णों में संधि को प्राप्त होने वाले वर्णों की मात्रा में असमानता थी। जिसके कारण इनका उच्चारण एक वर्ण के समान नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें अवयवभूत वर्णों का मिश्रण दुग्ध और जल की भाँति नहीं हो पाता है। जबकि एकार तथा ओकार में अवयवभूत दोनों तत्त्व दुग्ध और जल की भाँति मिल जाते हैं। परिणाम-स्वरूप इनका उच्चारण सर्वांश में समानरूपेण हो जाता है। इन चारो सन्ध्यक्षरों के उच्चारण में वक्ता एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर

---

१. द्रष्टव्य— चतुरध्यायिका १।४०, ४१ पर ह्विटनीकृत अंग्रेजी व्याख्या

अपने उच्चारणाङ्गों को उन्मुख करता है। यह क्रिया इतनी शीघ्रता से हो जाती है, कि श्वास के एक ही झटके से इनका उच्चारण हो जाता है और वे एक वर्णवत् श्रवणीयता को प्राप्त कर लेते हैं। ऐकार तथा औकार की श्रवणीयता के प्रसंग में यही कहा जा सकता है कि उनमें मात्रा की असमानता होने से एक वर्णता उस सीमा तक नहीं आ पाती। जिससे इनका उच्चारण एकवर्ण की भाँति नहीं हो पाता है। संध्यक्षरों को संयुक्त स्वर भी कहा गया है। संयुक्त स्वरों से अभिप्राय उन स्वरों से है, जिनके उच्चारण में दो स्वर संयुक्त हों। परन्तु ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से संयुक्त स्वर वे हैं, जो दो स्वरों के मेल से उत्पन्न तो हैं, परन्तु उनका उच्चारण एक अक्षर के रूप में हो जाता है। अर्थात् उनके उच्चारण में ध्वनि श्वास के एक ही आघात से बाहर निकल जाती हैं। दो मूलस्वरों के उच्चारण में जहाँ दो श्वासाघातों की आवश्यकता पड़ती हैं, वहाँ संयुक्त स्वर एक ही श्वासाघात से उच्चरित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में संयुक्त स्वर दो स्वरों का ऐसा मिश्रित रूप है, जिसके उच्चारण में दोनों स्वर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को खोकर एकाकार हो जाते हैं और श्वास के एक ही झटके से उच्चरित हो जाते हैं। दोनों मिलकर एक अक्षर का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

कतिपय विशेष प्रकार के याज्ञिक पाठों में अर्द्ध ओकार के उच्चारण का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु वैदिक भाषा में इस प्रकार के अर्द्ध ओकार का संकेत नहीं प्राप्त होता। आ० श्रौ० सू० ७।११ में 'न्यूङ्ख' के उच्चारण में अर्द्ध ओकार के उच्चारण का विधान पाया जाता है।[1] महाभाष्य में सामवेद के राणायनीय एवं सात्यमुग्रि शाखा में अर्द्ध एकार तथा अर्द्ध ओकार के उच्चारण का उल्लेख है। उस शाखा में उद्‌गाता नामक ऋत्विक् जब सामवेद का गान करता है तो, गान के प्रवाह में पड़कर तोड़-मरोड़ कर अर्द्ध एकार एवं अर्द्ध ओकार का उच्चारण करता है। उसका इस प्रकार का उच्चारण, गान के प्रवाह के कारण ही सम्भव है। आधा एकार तथा आधा ओकार कभी भी स्वतंत्र वर्ण नहीं हो सकता। म० भा० १।१।२ में स्पष्टतः कहा गया है कि यह कृति (अर्द्ध ए तथा अर्द्ध ओ का उच्चारण) केवल प्रातिशाख्यों में है, न तो लोक में और न वेद की किसी अन्य शाखा में ही इस प्रकार के उच्चारण की संभावना की जा सकती है। इसी प्रकार सामवेद के गानों में ही स्वरों को अनेक मात्राकाल तक उच्चरित करने का उल्लेख भी प्रातिशाख्यों में प्राप्त होता है। सामगानों में तो एक-एक स्वर

---

१. तस्य तस्य चोपरिष्टादपरिमितान्पञ्चवाऽर्धौकाराननुदात्तान्।—आ० श्रौ० सू० ७।११

को काफी देर तक उच्चरित करते हैं।[1] आ० श्रौ० सू० १।२।१४ के अनुसार अवसान में आने वाले प्रणव (ओ३म्) को चार मात्राओं में उच्चरित करने का विधान किया गया है। आधुनिक युग के कतिपय भाषा-वैज्ञानिक भी संध्यक्षरों के ह्रस्व रूप को स्वीकार करते हैं।

वृत्ति-निरूपण

प्रातिशाख्यों में वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल के आधार पर स्वरों को ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत इन तीन श्रेणियों में रखा गया है, जिनका विवेचन 'उच्चारणकाल' नामक स्वतंत्र अध्याय में किया जायगा। प्रस्तुत स्थल पर यह विचार कर लेना प्रासंगिक होगा कि क्या वर्णों का उच्चारण सदैव निर्धारित मात्रा में एक समान ही होता है अथवा निर्धारित मात्रा से शीघ्र भी हो सकता है तथा किन्हीं विशेष अवस्थाओं में निर्धारित काल से अधिक काल में भी हो सकता है ?

इस प्रसंग में प्रातिशाख्यों में कतिपय महत्त्वपूर्ण विधान प्राप्त होते हैं। ऋ० प्रा० १३।४६ में यह कहा गया है कि आचार्य लोग वाणी (वाक्य) की तीन वृत्तियों का उपदेश करते हैं— विलम्बित (Slow), मध्यम (Intermediate) और द्रुत (quick)।[2] वृत्ति का अर्थ है 'उच्चारण की गति'। अर्थात् वक्ता कभी तो धीरे-धीरे (मन्द गति से) बोलता है, कभी तीव्र गति से बोलता है तथा कभी मध्यम (स्वाभाविक) गति से बोलता है। मध्यम गति बोलने की स्वाभाविक अवस्था होती है।[3] इससे तीव्रगति से बोलने में वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल की मात्रा में न्यूनता आ जाती है तथा मन्द गति से बोलने में मात्रा का आधिक्य हो जाता है, क्योंकि प्रातिशाख्यों एवं अन्यान्य ग्रन्थों में उच्चारण में लगने वाले काल का जो निरूपण प्राप्त होता है, वह मध्यम वृत्ति में लगने वाले काल की मात्रा है। सामान्यतः सभी लोग मध्यम वृत्ति में उच्चारण

---

१. ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते ···सुजाते एश्वसूनृते। पारिषदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति।—म० भा० १।१।२

२. तिस्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च।—ऋ० प्रा० १३।४६

३. मध्यमेन स वाक्प्रयोगः।—तै० प्रा० २३।१८

करते हैं। 'कालनिर्णय' शिक्षा में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि वर्णों के उच्चारण के लिये जो काल का विधान किया जाता है, उसका आधार मध्यम वृत्ति है।[1]

वृत्तियों के आधार पर उच्चारण-काल में भेद

ऋ० प्रा० १३।४८ में विधान किया गया है कि प्रत्येक परवर्ती वृत्ति में मात्रा का आधिक्य होता है।[2] परन्तु सूत्र में यह नहीं बतलाया गया है कि उस आधिक्य का परिमाण क्या है? इस सम्बन्ध में भाष्यकार उवट का कथन है कि द्रुत वृत्ति में जो वर्ण उच्चरित होते हैं, वे मध्यम वृत्ति में उच्चरित होने पर तिहाई भाग मात्राकाल से अधिक हो जाते हैं, इसी प्रकार मध्यम वृत्ति में जो वर्ण उच्चरित होते हैं, वे विलम्बित वृत्ति में उच्चरित होने पर तिहाई भाग मात्राकाल से अधिक हो जाते हैं। अर्थात् इन वृत्तियों में ९:१२:१६ का अनुपात होगा। तात्पर्य यह है कि मध्यम वृत्ति में उच्चरित होने पर यदि किसी मन्त्र में १२ मुहूर्त का समय लगता है तो उसी को द्रुतवृत्ति में उच्चरित करने पर ९ मुहूर्त का समय लगेगा, तथा यदि विलम्बितवृत्ति में उच्चरित किया जायेगा तो १६ मुहूर्त का समय लग जायेगा। उवट ने यह भी कहा है कि कतिपय आचार्य इस अंतर को चौथाई भाग से अधिक बतलाते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार उपर्युक्त अनुपात १६:२०:२५ का हो जायेगा।[3] पा० सू० १।१।७० के महाभाष्य पर वृत्ति में कैयट ने भी इन वृत्तियों में लगने वाले काल की मात्रा का अनुपात ९:१२:१६ ही स्वीकार किया है। कैयट ने इस अनुपात के प्रत्यक्षीकरण का सम्बन्ध मनो-शारीरिक प्रक्रिया से जोड़ा है। उसके अनुसार ९:१२:१६ के अनुपात का अभिप्राय है—जब वक्ता द्रुत वृत्ति में किसी ऋचा अथवा श्लोक का उच्चारण करता है, तो श्रोता की सुषुम्ना नाड़ी से 'तन्त्रिका द्रव' के नौ बिन्दु प्रवाहित होते हैं, मध्यमा वृत्ति में बारह बिन्दु प्रवाहित होते हैं।.........इसी प्रकार विलम्बित

---

१. स्वरवर्णविरामाणां भिन्नवाग्वृत्तिवर्तिनाम्। एकरूप्येण कालस्य कथनं नोपपद्यते ॥ मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य मया चेयं कृतिः कृता। प्रातिशाख्ये निषिध्यान्ये यस्मात् सैव बोध्यते ॥—कालनिर्णय शिक्षा श्लोक ३,४

२. मात्रा विशेषः प्रतिवृत्त्युपैति।—ऋ० प्रा० १३।४८

३. द्रुतायां वृत्तौ ये वर्णास्ते मध्यमायां त्रिभागाधिका भवन्ति। चतुर्भागाधिका भवन्तीत्येक इति।—ऋ० प्रा० १३।४८ पर उवट

वृत्ति में सोलह विन्दु प्रवाहित होते हैं ।[1] कतिपय अन्य ग्रन्थों में इन अनुपातों में भिन्नता पायी जाती है । ऋ० प्रा० पर उवट की व्याख्या में उल्लिखित १६ : २० : २५ के अनुपात को कुछ ही आचार्य स्वीकार करते हैं । ऋ० तं० ३१-३३ में इस अनुपात को ३ : ४ : ५ बतलाया गया है । ऋ० तं० के आधार पर यह स्पष्ट है कि यदि किसी ऋचा अथवा श्लोक के उच्चारण की मध्यमवृत्ति में ४ मात्रा का समय लगेगा तो उसे द्रुतवृत्ति में उच्चरित करने पर ३ मात्रा समय लगेगा । इसी प्रकार बिलम्बित वृत्ति में उच्चरित करने पर ५ मात्रा का समय लग जायेगा ।[2] माण्डूकी शिक्षा के अनुसार यह अनुपात १ : २ : ३ है ।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से ऐसा स्पष्ट होता है कि इन वृत्तियों के ठीक-ठीक काल-निर्धारण के विषय में प्रातिशाख्यों में मतभेद है । इस प्रसंग में उपलब्ध होने वाले विविध सिद्धान्तों से यही समझ में आता है कि वेदों की विभिन्न शाखाओं में मन्त्रों के उच्चारण से सम्बन्धित विशेष-विशेष प्रक्रियायें थीं तथा उच्चारण में लगने वाले काल भी भिन्न-भिन्न थे । इसके विषय में यह भी कहा जा सकता है कि उच्चारण तो प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग हो सकता है तथा कोई व्यक्ति किसी वाक्य को अपने अनुसार उच्चरित करता है । अतः अधिकतम या न्यूनतम गति का निर्धारण करना कठिन है । डॉ० सि० वर्मा के अनुसार "मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि सामान्य वाग्व्यवहार में वाक् की अनुपातिक गति प्रतिमिनट १४० के लगभग होती है । व्याख्याताओं में १२० से लेकर २०० तक का अन्तर होता है । यहाँ द्वितीय गति 'द्रुत' वाक् के लिए ही है ।" डॉ० वर्मा के अनुसार इसका अनुपात २ : ३ तक पहुँच जाता है ।[4]

वृत्तियों का विभिन्न कार्यों में प्रयोग

प्रातिशाख्यों में इन तीनों वृत्तियों के प्रयोग के प्रसंग में भी स्पष्ट विधान किया गया है । ऋ० प्रा० १३।४९ के अनुसार वेद-मन्त्रों का अभ्यास करते समय

---

१. द्रुतं श्लोकं ऋचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्याः नव पलानि स्रवन्ति तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादश पलानि स्रवन्ति ।......विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडशपलानि स्रवन्ति ।—पा० सू० १।१।७० के महाभाष्य पर कैयट

२. द्रुतायां तिस्रः मात्रा, चतुष्कला मध्यमायां, पञ्चकला विलम्बितायाम् ।—ऋ० तं० ३१-३३

३. द्रष्टव्य—माण्डूकी शिक्षा, शि० सं० पृ० ४६३

४. द्रष्टव्य—डॉ० सि० कृतवर्मा A Critical Studies in Phonetics Observations of Indian Grammarians, P. 172

उन्हें द्रुतवृत्ति में उच्चरित करना चाहिये। किसी अनुष्ठान रूप कर्म में मंत्रों को मध्यमवृत्ति में उच्चरित करना चाहिए। इसी प्रकार शिष्यों को उपदेश देते समय मन्त्र विलम्बित वृत्ति में उच्चरित किये जाने चाहिए।[1] वास्तव में यदि किसी को उपदिष्ट करना है तो मध्यमवृत्ति में ही उच्चारण करना चाहिये क्योंकि द्रुतवाक् में ध्वनियां स्पष्ट श्रुतिगोचर नहीं हो पातीं, जबकि विलम्बितवृत्ति में दोषों का पता अत्यन्त सरलता से लग जाता है। परन्तु ध्वनिशास्त्र से सुशिक्षित तथा सुकण्ठयुक्त अध्यापक उपर्युक्त तीनों वृत्तियों में से किसी भी वृत्ति का प्रयोग कर सकता है। ऋ० प्रा० १३।४७ में कहा गया है कि आचार्य लोग भिन्न-भिन्न वृत्तियों में भिन्न-भिन्न 'सवनों' (यागों) का विधान करते हैं—विलम्बित वृत्ति में प्रातः-सवन होता है, मध्यमावृत्ति में माध्यन्दिन-सवन होता है तथा द्रुतवृत्ति में तृतीय अर्थात् सायं-सवन होता है।[2]

मन्त्रोच्चारण के प्रकार

तै० प्रा० के तेईसवें अध्याय में मन्त्रों के उच्चारण के सम्बन्ध में कतिपय विशेष बातें बतलाई गई हैं। तै० प्रा० २३।४ में कहा गया है कि वाक् (वाणी) के सात स्थान होते हैं। स्थान का अर्थ है—उच्चारण सम्बन्धी विधि। तात्पर्य यह है कि मन्त्रों को सात रूपों में उच्चरित किया जा सकता है। ये स्थान श्रवणीयता एवं स्पष्टता को दृष्टि में रखकर बतलाये गये हैं। तै० प्रा० २३।५ में इन सातों स्थानों का नामतः उल्लेख कर दिया गया है। ये स्थान—उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्, मन्द्र, मध्यम और तार संज्ञक हैं।[3] इन स्थानों का सम्बन्ध ध्वनि की उच्चता तथा निम्नता, स्पष्टता तथा अस्पष्टता से है। इनमें अन्तिम तीन अर्थात् मन्द्र, मध्यम और तार में ध्वनि का स्पष्ट उच्चारण होता है, परन्तु ध्वनि की उच्चता में आपेक्षिक न्यूनता अथवा अधिकता होती है। अब क्रमशः इन स्थानों में होने वाली उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताओं का निरूपण किया जा रहा है—

---

१. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशाय कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् ॥—ऋ० प्रा० १३।४९

२. वृत्यन्तरे कर्मविशेषमाहुः।—ऋ० प्रा० १३।४७, विलम्बितायां प्रातः सवनम् भवति। मध्यमायां माध्यन्दिनं सवनम्। द्रुतायां तृतीयं सवनमिति।—ऋ० प्रा० १३।४७ तथा इसी सूत्र पर उवट

३. उपांशुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमताराणि।—तै० प्रा० २३।५

१—उपांशु—इस अवस्था में उच्चारण-स्थानों तथा करणों की चेष्टा तो होती है, परन्तु ध्वनि नहीं होती। अथवा यह कहा जाय कि अत्यल्प ध्वनि होती हैं। इस अवस्था में इस प्रकार का उच्चारण होता है जिससे श्रोता इसे सुन सकने में समर्थ नहीं हो पाया। यहाँ तक कि वक्ता भी स्वयं इस अवस्था में उत्पन्न हुई ध्वनि को नहीं सुन पाता। इसीलिये तै० प्रा० २३।६ में इसके लक्षण में 'अमनः प्रयोगम्' पद दिया गया है। यद्यपि करण-व्यापार तो होता है, परन्तु वायु के संसर्ग का अभाव रहने से इस उच्चारण में ध्वनि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि उच्चारण की इस अवस्था में सम्बद्ध स्थान एवं प्रयत्न से बिना शब्द किये, मन ही मन मन्त्रों को उच्चरित किया जाता है। इस अवस्था में स्वर तथा व्यञ्जन इत्यादि का श्रवण किसी अन्य व्यक्ति को नहीं हो पाता। इस अवस्था का प्रयोग जप में किया जाता है।[1]

२—ध्वान—उच्चारण की इस द्वितीय अवस्था में करण एवं स्थान का अपेक्षित व्यापार भी होता है, मन का सक्रिय योगदान भी रहता है तथा ध्वनि भी होती है। परन्तु उस ध्वनि में स्वर एवं व्यञ्जन की पहचान नहीं हो पाती। अर्थात् श्रोता इतना तो 'समझता है कि कुछ कहा जा रहा है, परन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि क्या कहा जा रहा है? उपांशु और ध्वान में यही भेद है कि ध्वान में ध्वनि को श्रोता स्पष्टरूपेण सुन तो लेता है परन्तु स्वर एवं व्यञ्जन को पहचान नहीं पाता।[2] जबकि उपांशु में सुन भी नहीं पाता।

३—निमद—वाणी की निमद नामक तृतीय अवस्था में ध्वनि कुछ और ऊँची हो जाती है, तथा उसमें स्वरों और व्यञ्जनों का भेद स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है। अर्थात् श्रोता इस अवस्था में उच्चरित ध्वनि को थोड़ा प्रयास करने पर स्वरों एवं व्यञ्जनों के भेद-ज्ञान के साथ सुन लेता है।[3]

४—उपब्दिमत्—इस अवस्था में ध्वनि इतनी उच्च होती है, जिसको श्रोता बिना प्रयास के सुन लेता है तथा साथ ही स्वरों एवं व्यञ्जनों की भी उचित पहचान कर लेता है।[4]

---

१. करणवदशब्दममनः प्रयोगमुपांशुः।—तै० प्रा० २३।६

२. अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः।—तै० प्रा० २३।७

३. उपलब्धिर्निमदः।—तै० प्रा० २३।८

४. सशब्दमुपब्दिमत्।—तै० प्रा० २३।९

५—मन्द्र—उच्चारण की इस पञ्चम अवस्था में ध्वनि हृदय-स्थान से उच्चरित होती है। इस ध्वनि को व्याघ्र की ध्वनि के समान कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार व्याघ्र गम्भीर ध्वनि करता है, उसी प्रकार इस अवस्था में उत्पन्न ध्वनि में एक विशेष प्रकार की गम्भीरता होती है।

६—मध्यम—इस अवस्था में चक्रवाक के कूंजने के समान ध्वनि होती है। उच्चारण की अत्यन्त स्वाभाविक अवस्था यही है। इसीलिये इसका उच्चारण कण्ठ से बतलाया गया है। प्रायः वेदपाठियों द्वारा उच्चारण की सामान्य अवस्था में इसी प्रकार की ध्वनि होती है। इनमें उच्चरित ध्वनि न अधिक तीव्र होती है तथा न अधिक मन्द। यह ध्वनि सुनने में भी अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक प्रिय मालूम पड़ती है।

७—तार—इस अवस्था में उच्चरित ध्वनि अतितीव्र होती है। इसे मूर्धा या शिर से उच्चरित होने वाली ध्वनि कहा गया है।

वाणी की इन सात अवस्थाओं में प्रथम चार का प्रयोग यज्ञादि धार्मिक कृत्यों में जप इत्यादि के प्रसंग में किया जाता है। परन्तु अन्तिम तीन का प्रयोग सामान्य वेद-पाठ में किया जाता है। वा० प्रा० १।१० तथा ऋ० प्रा० १३।४२ में भी इन तीनों स्थानों का उल्लेख किया गया है तथा उन स्थलों पर भी इनको क्रमशः उरः (हृदय, छाती), कण्ठ तथा शिर या मूर्धा से उच्चरित होने का विधान किया गया है। तै० प्रा० २३।१० में भी इन तीनों को क्रमशः उरः, कण्ठ तथा शिर से ही उच्चरित करने का विधान है।[1] इनके उच्चारण में होने वाली ध्वनियों का तै० प्रा० २३।१० के त्रि० में क्रमशः व्याघ्र, चक्रवाक तथा मयूर, हंस अथवा कोकिल की ध्वनि से साम्य दिखलाया गया है। अर्थात् मन्द्र अवस्था में उच्चरित ध्वनि व्याघ्र की गर्जना की भाँति गम्भीर होती है। मध्यम अवस्था में उच्चरित ध्वनि चक्रवाक पक्षी के कूंजने के समान होती है। इसी प्रकार तार अवस्था में उच्चरित ध्वनि मयूर, हंस अथवा कोकिल के बोलने के समान होती है, तथा इनमें से अन्तिम तीन अवस्थाओं का प्रयोग क्रमशः प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन या तृतीय सवन में किया जाता है।[2] वास्तव में इन

---

१. त्रीणि स्थानानि।—वा० प्रा० १।१०, त्रीणि-मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्त यमानि वाचः।—ऋ० प्रा० १३।४२, उरसि मन्द्रं कण्ठे मध्यमं शिरसि तारम्।—तै० प्रा० २३।१०

२. प्रातः पथेन नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन। मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राः वसं कूजितसन्निभेन। तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्। मयूरहंसान्यभृतस्वनानां तुल्येन नादेन शिरस्थितेन।।—तै० प्रा० २३।१० पर त्रि०

अवस्थाओं का सम्बन्ध ध्वनियों की उच्चता से है। इनमें प्रथम चार (उपांशु, ध्वान, निमद, उपब्दिमत्) अवस्थायें न तो स्वराघात वहन कर सकती हैं और न ही संगीतात्मक स्वरों को ही वहन कर सकती हैं। अन्तिम तीन (मन्द्र, मध्यम, तार) अवस्थायें स्वराघात तथा संगीतात्मक स्वरों (Musical Tones) को वहन करने में समर्थ होती हैं। तै० प्रा० २३।११ में यह स्पष्ट कहा गया है कि इन्हीं मन्द्रादि तीनों स्थानों (अवस्थाओं) में प्रत्येक में सात-सात यम (Tones) होते हैं, अर्थात् इन्हीं तीनों अवस्थाओं में सातो यमों का प्रयोग किया जाता है।[1] तै० प्रा० २३।११ पर त्रि० में इन स्वरों को उदात्तादि स्वराघात कहा गया है। परन्तु वैदिकाभरणकार ने इन स्वरों को सामवेद में प्रसिद्ध स्वर कहा है।[2] ऋ० प्रा० १३।४३ में बतलाया गया है कि यम (Musical Tones) को स्थान से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता है। अर्थात् यदि यह प्रयत्न किया जाय कि किसी वाक्य को किसी यम विशेष में उच्चरित करें परन्तु उसका उच्चारण उपर्युक्त तीनों स्थानों-मन्द्र, मध्यम, तार में से किसी भी स्थान में न किया जा सके, तो ऐसा असम्भव है।[3] इसी प्रकार ऋ० प्रा० १३।४४ में सूत्रकार ने यह भी कहा है कि जो संगीत-शास्त्र में सात स्वर कहे गये हैं, वे ही इस स्थल पर यम शब्द से वाच्य हैं। इसी सूत्र पर उवट ने गह स्पष्ट कर दिया है कि गान्धर्व-वेद में प्रसिद्ध जो षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद संज्ञक सात स्वर हैं, वे ही यहाँ पर यम शब्द से कहे गये हैं।[4] उवट ने यह भी कहा है कि ये गान्धर्ववेदीय सातो स्वर सामवेद में क्रुष्टादि सात नामों से प्रसिद्ध हैं। ऋ० प्रा० १३।४५ में सूत्रकार ने यह भी कहा है कि अथवा ये यम स्वरों से पृथक् हैं।[5] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय आचार्य इन यमों को गान्धर्व-वेदीय सातो स्वरों से पृथक् भी मानते थे।

---

१. मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्त सप्त यमाः।—तै० प्रा० २३।११

२. यमाः स्वराः उदात्तादय इति यावत्।—तै० प्रा० २३।११ पर त्रि०, सामवेदे प्रसिद्धान् सप्तस्वरांस्तावदाह।—तै० प्रा० २३।११ पर वै०

३. अनन्तरश्चात्र यमो विशेषः।—ऋ० प्रा० १३।४३

४. ये ते सप्त स्वराः····षड्जऋषभगान्धार···निषादाः स्वराः इति गान्धर्ववेदे समाम्नाताः। तथा सामसु क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्रातिस्वार्याः इति ते यमाः नाम वेदितव्याः।—ऋ० प्रा० १३।४४ पर उवट

५. पृथग्वा।—ऋ० प्रा० १३।४५

जो कुछ भी हो, परन्तु यह तो सिद्ध तथ्य है कि उपर्युक्त सातो स्थानों में से अन्तिम तीन स्थान ही ऐसे हैं, जिनमें उदात्तादि स्वराघातों[1] एवं षड्जादि गान्धर्ववेदीय स्वरों अथवा क्रुष्टादि सामवेदीय स्वरों को उच्चरित किया जा सकता है। तै० प्रा० २३।१२ में इन सातों यमों (Musical Tones) के नाम-क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्य ही बतलाये गये हैं। इन यमों के उच्चारण-प्रकार का विवेचन 'स्वराघात' नामक अध्याय में किया जाएगा।

••

---

१. मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि भवन्ति।—तै० प्रा० २२।११

तृतीय अध्याय

अङ्गाङ्गिभाव

वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है—उसकी स्वर-प्रक्रिया। वेदों के प्रत्येक मन्त्र स्वरयुक्त उच्चरित होते हैं। बिना स्वरों के उच्चरित होने पर वे अनिष्टकर हो जाते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि ये स्वर केवल स्वर वर्णों के गुण हैं अथवा स्वर और व्यञ्जन दोनों प्रकार की ध्वनियों के गुण हैं। इसके समाधान रूप में या० शि० में एक कारिका प्राप्त होती है, जिसके अनुसार स्वर-ध्वनियाँ ही उच्च (उदात्त) होती हैं, स्वर ध्वनियाँ ही नीच (अनुदात्त) होती हैं तथा स्वर ध्वनियाँ ही स्वरित होती हैं। ये जो उदात्तादि त्रैस्वर्य (तीन स्वर) हैं, वे स्वर-प्रधान हैं। अर्थात् प्रमुख रूप से ये उदात्तादि 'स्वर ध्वनियों' पर ही रहते हैं तथा व्यञ्जन ध्वनियाँ स्वर-ध्वनियों के उदात्तादि स्वरों से ही सस्वर होती हैं।[1] तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन-ध्वनियाँ अपने समीपवर्ती स्वर-ध्वनियों के स्वराघातों से सस्वर होती हैं, अर्थात् उसी स्वराघात से युक्त होकर उच्चरित होती हैं। इसी प्रसंग में एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसी भी पद में एक भी 'स्वर ध्वनि' होती है तथा अनेक भी। ऐसी स्थिति में कौन सा व्यञ्जन किस स्वर ध्वनि के स्वराघात से सस्वर होगा? उदाहरणार्थ 'पुस्तकम्' पद में तीन स्वर तथा पांच व्यञ्जन हैं। तीन स्वर होने से इस पद में तीन ही स्वराघात भी होंगे। अतः ऐसी परिस्थिति में यह विचारणीय है, कि इन पाँच व्यञ्जनों में से कौन-कौन से व्यञ्जन किस-किस स्वराघात से युक्त होकर सस्वर उच्चरित होंगे। इसके समाधान के लिये प्रातिशाख्यों में पर्याप्त नियमों का विधान किया गया है। जिसके आधार पर हम बड़ी सरलता से यह निश्चित कर सकते हैं कि पद में आने वाला कौन-सा व्यञ्जन किस स्वर के स्वराघात से युक्त होकर सस्वर उच्चरित होगा। इस विषय को अङ्गाङ्गिभाव या अक्षर-विभाजन संज्ञा प्रदान की गई है।

---

१. स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च। स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम् ॥—या० शि० २९

अङ्गाङ्गिभाव के लिये अनेक आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने 'अक्षर-विभाजन' नाम दिया है। इसका तात्पर्य है कि वाक्य या पद में अक्षरों का विभाजन किस प्रकार किया जाना चाहिए। सामान्यतः स्वर वर्ण को अङ्गी कहा गया है तथा वह स्वर वर्ण अपने अङ्गभूत व्यञ्जन या व्यञ्जनों के सहित अक्षर शब्द से अभिहित किया जाता है।[१] तथा कभी-कभी स्वर स्वतः-अर्थात् पद में अकेले आने पर भी अक्षर शब्द-वाच्य बनता है। अतः प्रस्तुत अध्याय में यही विचार किया जायेगा कि किसी पद में अक्षरों का विभाजन किस आधार पर किया जाता है तथा इस प्रसंग में कौन-सा व्यञ्जन किस स्वर का अङ्ग बन कर उसके साथ मिलकर अक्षर का निर्माण करता है।

अक्षर

सर्वप्रथम अक्षर की परिभाषा एवं उसके लक्षण पर विचार कर लेना उचित होगा। प्राचीन ध्वनि-शास्त्रीय ग्रन्थों में तथा अनेक अन्य ग्रन्थों में अक्षर शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में पाया जाता है। इसीलिए अक्षर का निर्वचन भी अनेक प्रकार से किया जाता है। तै० प्रा० १।२ पर वैदिकाभरण में अक्षर का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—'जो क्षरित न हो वह अक्षर है।' क्षरण का अर्थ 'दूसरे का अङ्ग होकर चलना' है।[२] अतः इस भाष्य के अनुसार अक्षर वह है जो दूसरे का अङ्ग होकर न चले। अर्थात् जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो। यह भाष्य स्वर-ध्वनियों को ही अक्षर मानने के पक्ष में है क्योंकि व्यञ्जन तो स्वर के अङ्ग होते हैं। अतः उनके विषय में कदापि नहीं कहा जा सकता कि व्यञ्जन भी अक्षर हो सकते हैं। तै० प्रा० २३।७ में भी स्वर के लिये ही अक्षर संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[३] महाभाष्य में भी अक्षर की व्युत्पत्ति दी गई है जिसके अनुसार भी यही कहा जा सकता है कि जो नष्ट न हो, क्षीण न हो वह अक्षर है।[४] निरुक्त में भी अक्षर की इसी प्रकार की परिभाषा दी गई है।[५] निरुक्तकार के अनुसार अक्षर शब्द 'क्षर' धातु से निष्पन्न है तथा इसका अर्थ है 'जो नष्ट न हो',

---

१. सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्।—ऋ० प्रा० १८।३२, स्वरोऽक्षरम्, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः, उत्तरैश्चावसितैः।—वा० प्रा० १।९९-१०१

२. न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्।—तै० प्रा० १।२ पर वै०

३. अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः।—तै० प्रा० २३।७

४. अक्षरं नक्षरं विद्यात्, न क्षीयते क्षरतीति वाक्षरम्।—महाभाष्य

५. अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाक्षयो भवति वाचोऽक्ष इति वा।—निरुक्त

जिसका कभी विनाश न हो वह अक्षर है। वास्तव में अक्षर शब्द का प्रयोग प्रणव आदि के लिये किया गया है। इसका कारण है कि ब्रह्म को अनश्वर, अटल, अविनाशी आदि विशेषणों से युक्त माना गया है। कालान्तर में ध्वनि-वैज्ञानिकों द्वारा यह शब्द ग्रहण कर लिया गया, तथा वे भी उस शब्द को अपने ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में स्थान देना प्रारम्भ कर दिये। प्राचीनकाल में भाषा या वाक्य को अविभाज्य माना जाता था। धीरे-धीरे जब भाषा का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो, वाक्य को पदों में विभक्त किया गया। पदों को अविभाज्य कह कर उसे सम्भवतः 'अक्षर' का नाम दिया गया होगा। परवर्ती काल में पुनः शब्दों को ध्वनि-समूहों में विभक्त किया गया। इस प्रकार उसे अक्षर कहा गया, और आगे चलकर जब ध्वनि-समूहों का भी एक-एक ध्वनि के रूप में विश्लेषण किया गया तो 'क', 'ख', 'ग' आदि एक-एक ध्वनियों के लिये अक्षर संज्ञा का प्रयोग किया गया। जिसके मूल में धारणा यह रही होगी कि अब इन ध्वनियों को किसी प्रकार से अधिक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता। अर्थात् ये अविभाज्य हैं—अनश्वर हैं। इस धारणा के पीछे एक बात और थी, वह यह कि शब्दों या ध्वनियों का दार्शनिक विश्लेषण होने से यह सिद्ध हो रहा था कि ध्वनियाँ कभी भी नष्ट नहीं होतीं। ऋ० प्रा० १३।१४ में कहा गया है कि कतिपय आचार्य वर्णों को शाश्वतिक मानते हैं, कार्य नहीं मानते।[1] इसी तथ्य की पुष्टि तै० प्रा० २।१ के त्रि० भाष्य में की गई है। उसके अनुसार जिस प्रकार जल भूमि में सर्वदा विद्यमान रहता है, खोदने से वह केवल दिखलाई पड़ जाता है, उसी प्रकार ध्वनि नित्य है। उच्चारण-प्रक्रिया द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि ध्वनियों को अनश्वर मानने की विचारधारा प्रातिशाख्यकाल में ही प्रचलित हो गई थी। अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवम् अधिक काल तक उच्चरित हो सकने से स्वरों को व्यञ्जनों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। परिणामस्वरूप स्वर ही अक्षर का पर्याय हो गया। अधिकांश प्रातिशाख्यों में स्वर को ही अक्षर कहा गया है।[3] परन्तु ऋ० प्रा० १८।४२ में व्यञ्जनयुक्त, अनुस्वारयुक्त तथा शुद्ध स्वर को भी अक्षर कहा गया है।[4] इसका कारण यह था कि छन्दों के निर्धारण में ध्वनियों को

---

१. एके वर्णाञ्छाश्वतिकान्न कार्यान्।—ऋ० प्रा० १३।१४

२. यथा उदकस्य दर्शनात् पूर्वमेव भूमौ जलमस्त्येव तत् खननाद्दृश्यते तद्वत् शब्दोत्पत्तिरुच्यते इति सूत्रार्थः।—तै० प्रा० २।१ पर त्रि०

३. स्वरोऽक्षरम्।—वा० प्रा० १।९९, च० अ० १।९३

४. सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धोवापि स्वरोऽक्षरम्।—ऋ० प्रा० १८।३२

इकाई मानकर उनकी गणना करके, छन्दों का नामकरण प्राचीन छन्द-शास्त्रियों ने किया। वैदिक छन्दों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है, कि वैदिक छन्द-मन्त्रों के अक्षरों की गणना पर आधारित हैं। अर्थात् वैदिक छन्द आक्षरिक कहे जा सकते हैं। छन्द-शास्त्र में अक्षर का अर्थ 'स्वर' है। वैदिक मन्त्रों को छन्दोबद्ध रूप में उच्चरित करने पर उनकी प्रत्येक ध्वनि पर स्वराघात का होना आवश्यक है। अतः प्रश्न होता है कि जब अक्षरों में स्वरों की ही गणना की जाएगी तब तो व्यञ्जन स्वराघात रहित हो जायेंगे। अतः ऋ० प्रा० में व्यञ्जन से युक्त तथा अनुस्वार से युक्त स्वरों को भी अक्षर संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसा करने से किसी भी मन्त्र की प्रत्येक ध्वनि किसी न किसी स्वर का अङ्ग बनकर स्वयं भी स्वराघात युक्त हो जाएगी। इसीलिए ऋ० प्रा० का अक्षर-सम्बन्धी मत अन्य प्रातिशाख्यों से कुछ अंशों में भिन्न है एवं महत्वपूर्ण भी है। प्रातिशाख्यों में स्वर को ही अक्षर कहने का प्रमुख कारण यह है कि स्वर ही अक्षर का आधार होता है। बिना स्वर के अक्षर नहीं बन सकता। तै० प्रा० २।१।१ पर त्रि० में कहा गया है—कूप, यूप इत्यादि शब्दों में स्वर एक ही प्रकार का होने से केवल व्यञ्जन ही अर्थविशेष का बोधक होता है। अतः स्वरों को व्यञ्जन का अङ्ग क्यों न माना जाय ? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि व्यञ्जन तो अकेला टिक भी नहीं सकता, अपितु वह स्वर-सापेक्ष है, स्वर तो निरपेक्ष है।[1] इसका अर्थ यह है कि ध्वनियों को अक्षर कहलाने के लिए स्वर की सत्ता अत्यावश्यक है। जिस पद में जितने स्वर होंगे, उतने ही अक्षर भी होंगे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अक्षर का मुख्य तत्व स्वर है। बिना स्वर के अक्षर का निर्माण नहीं हो सकता। प्राति-शाख्यों में समानाक्षर और संध्यक्षर संज्ञाओं का प्रयोग स्वर वर्णों के लिये ही किया गया है।

प्रातिशाख्यों में अक्षर संज्ञा का प्रयोग उपर्युक्त कई अर्थों में हुआ है, परन्तु आधुनिक ध्वनि वैज्ञानिक अंग्रेजी भाषा के सिलेबल (Syllable) के लिए अक्षर शब्द का प्रयोग करते हैं तथा इसकी व्युत्पत्ति अक्ष+र, अर्थात् अक्षवाला—'शीर्षवाला' करते हैं। आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक शब्दों के उच्चारण में स्वल्प तथा अधिक स्पष्ट ध्वनियों को क्रमशः 'गह्वर' तथा 'शिखर' के द्वारा प्रस्तुत करते

---

१. ननु कूपो यूप इत्यादौ व्यञ्जनमेवार्थविशेषबोधकमिति स्वरो व्यञ्जनाङ्गंकिं न स्यात् ? व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षम्, स्वरस्तु निरपेक्षः।—तै० प्रा० २।१।१ पर त्रि०

हैं। किसी शब्द या वाक्यांश में जितने शिखर होंगे, उतने ही अक्षर भी होंगे। स्वर ध्वनियाँ व्यञ्जन ध्वनियों की अपेक्षा स्वभावतः अधिक मुखर होती हैं। अतः स्वर ध्वनियों को शिखरों तथा व्यञ्जन ध्वनियों को गह्वरों द्वारा प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार ध्वनि शास्त्रीय विद्वानों द्वारा अक्षर की अनेक व्यत्पत्तियाँ दी गई हैं, परन्तु इन सभी व्युत्पत्तियों से किसी ऐसी परिभाषा का निर्माण करना कठिन है, जो परिभाषा सर्वमान्य हो। मेरे विचार से—एक या एकाधिक ध्वनियों से युक्त वह इकाई, जिसका उच्चारण वायु के एक ही झटके से हो जाय, अक्षर कहलाती है। यह इकाई अपने में स्वतन्त्र होती है, जिससे यह किसी दूसरी ध्वनि का अङ्ग नहीं बनती। सम्पूर्ण अक्षर पर एक ही स्वराघात का प्रभाव होता है। किसी भी शब्द में एक अक्षर भी हो सकता है तथा एकाधिक अक्षर भी हो सकते हैं। किसी शब्द में अक्षरों की संख्या इस बात पर नहीं निर्भर करती, कि उस शब्द में कितनी ध्वनियाँ हैं, अपितु इस बात पर निर्भर करती है कि उस शब्द का उच्चारण कितने झटके में होता है। जिस शब्द का उच्चारण जितने झटके में होगा, उस शब्द में उतने ही अक्षर होंगे। आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से किसी भी शब्द में अक्षरों की संख्या का ठीक-ठीक पता लगाने में सफलता प्राप्त कर ली है। दूरभाषितयन्त्र पर वार्तालाप करते समय कुछ ध्वनियाँ अधिक मुखरता के साथ सुनाई पड़ती हैं। ये ध्वनियाँ ही अक्षर के प्रमुख आधार हैं। इन्हें आक्षरिक ध्वनि कहा जाता है। ये अधिक मुखर ध्वनियाँ, स्वर ध्वनियाँ ही होती हैं।

अक्षर का आधार

ऊपर यह कहा जा चुका है कि सभी प्रातिशाख्यों में स्वरों को ही अक्षर का आधार स्वीकार किया गया है। परन्तु कतिपय ऐसी व्यञ्जन ध्वनियाँ भी हैं जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अक्षर का कार्य करती हुई देखी जाती हैं। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार अंग्रेजी-भाषा के (Mutton) शब्द में आया हुआ नकार अधिक मुखर होने के कारण आक्षरिक ध्वनि है।[1] भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिकों का ध्यान भी रेफ तथा लकार के आक्षरिक रूप की ओर पहुँच चुका था। भारद्वाज शिक्षा ३४ में कहा गया है कि लकार कभी भी पदान्त तथा पदादि में आने पर

---

१. द्रष्टव्य—Dr. S. Verma, Critical studies in Phonetics observations of Indian Grammarians, P. 172

स्वर नहीं कहलाता है ।[1] इससे ध्वनित होता है कि पद-मध्यगत लकार ही स्वर है, पदादि और पदान्त नहीं । ऋ० प्रा० में भी इस तथ्य का संकेत पाया जाता है । ऋ० प्रा० १३।३५ में स्पष्टतः कहा गया है कि 'कृप्' धातु के रेफ के लकार हो जाने पर 'क्लृप्' धातु में 'लृकार' स्वर हो जाता है ।[2] इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि रेफ और लकार में कुछ स्वरात्मकता होती है। तै० प्रा० १।३० पर वैदिकाभरणभाष्य में भी कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते हैं, जिनके अनुसार ङ, ञ्, ण्, न् तथा म् ध्वनियाँ अवसान में स्थित होने पर निर्धारित काल से अधिक मात्रा में उच्चरित होती हैं। अर्थात् ये व्यञ्जन, पद के अवसान में स्थित होने पर अपनी निर्धारित मात्रा से अधिक मात्रा में उच्चरित हो सकते हैं ।[3] इनका अधिक समय में उच्चरित होना इस बात को सिद्ध करता है कि अन्य समीपवर्ती व्यञ्जनों की अपेक्षा इन ध्वनियों में अधिक काल तक उच्चरित होने की क्षमता होती है । इनके अधिक काल तक उच्चरित होने का तात्पर्य है, कि ये ध्वनियाँ अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक मुखर होकर उच्चरित होने की योग्यता रखती हैं । अधिक मुखरता से उच्चरित होने वाली ध्वनि आक्षरिक होती है । इसी प्रकार स्वरितग्राही व्यञ्जनों के उच्चारण में भी अन्य व्यञ्जनों की अपेक्षा अधिक समय लगता है । अतः ये ध्वनियाँ भी अक्षर-निर्माण कर सकती हैं । 'स्वरव्यञ्जनशिक्षा' में तो इसी तथ्य पर विचार ही किया गया है, कि रेफ किस परिस्थिति में व्यञ्जन एवं किस परिस्थिति में स्वर होता है ।

उपर्युक्त तथ्यों के रहते हुए भी यही कहा जा सकता है, कि स्वर ध्वनियाँ ही अधिकांश रूप में अक्षर का आधार बनती हैं, व्यञ्जन नहीं । क्योंकि व्यञ्जन ध्वनि को कितना भी प्रयास से उच्चरित किया जाय, वह स्वर की समानता नहीं कर सकती । अधिकांश रूप में स्वर ही अक्षर का आधार होता है । व्यञ्जन स्वरों के साथ रहकर अक्षर की सीमा में आते हैं। ऊपर जो अनुनासिक वर्णों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) के अक्षरत्व की वात कही गई है, उसका केवल यही

---

१. उदाहृतः क्लृप्तशब्दः न पदाद्यन्तयोः स्वरः ।—भारद्वाज शि० ३४

२. तस्यैव लकारभावे धातोस्वरः कल्पयताव्लृकारः ।—ऋ० प्रा० १३।३५

३. ङञणनमानां त्ववसानवर्तिनां कालाधिक्यं शिक्षायां स्मर्यते । ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते । दीर्घात् प्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः ॥ ह्रस्वात्परोऽवसानस्थः पदाध्यायेऽनुनासिकः । द्विमात्रो मात्रिकस्त्वन्यः संहितायां तथाखिलम् ।—तै० प्रा० १।३० पर वै०

तात्पर्य है कि वे ध्वनियाँ अक्षरात्मक ध्वनियों की भाँति अधिक मुखरता से उच्चरित होती हैं। परन्तु यदि स्वराघात वहन करना अक्षर का प्रधान गुण मान लिया जाय, तो ये ध्वनियाँ अक्षर की सीमा में नहीं आ सकतीं। इनका स्वर (Accent) वही होगा, जो इनके पूर्ववर्ती स्वर (Vowel) का होता है। इसीलिये प्रातिशाख्यकारों ने स्वरों को ही अक्षर का प्रमुख आधार माना है। स्वरों को ही अक्षर का अनिवार्य तत्त्व कहने का एक कारण यह भी है, कि किसी भी शब्द में यदि स्वर नहीं है, तो व्यञ्जनों का उच्चारण करना ही असम्भव हो जाता है। इसके विषय में विशद् विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। अब यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि जब स्वराघात (Accent) केवल स्वरों का ही गुण है, तो व्यञ्जनों में वह किस प्रकार से आता है? क्या व्यञ्जन स्वराघातहीन होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में अनेकशः पाया जाता है। पतञ्जलि ने पा० सू० १।२।२९ पर महाभाष्य में कहा है कि ये (अनुदात्तादि) व्यञ्जन के गुण नहीं हैं, ये स्वर के गुण हैं। स्वरों की समीपता से ही व्यञ्जन भी उनके गुणों को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार दो लाल रंग के वस्त्रों के बीच रखा हुआ सफेद वस्त्र भी लाल रंग के गुणों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार व्यञ्जन भी स्वरों की समीपता से उनके गुणों को धारण कर लेते हैं।[1] उसी स्थल पर पतञ्जलि यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक के पास रखा हुआ धातु का पात्र दीपक के प्रकाश से स्वयं भी चमकने की शक्ति को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार व्यञ्जन भी स्वर वर्णों के स्वराघात को प्राप्त कर लेते हैं। व्यञ्जनों की भी अपनी स्वतन्त्र मात्रा होती है। प्रातिशाख्यों में व्यञ्जनों की आधी मात्रा स्वीकार की गई है। एक समस्या यह भी उपस्थित होती है कि किसी शब्द के उच्चारण में स्वर की मात्रा के साथ मिली हुई व्यञ्जन की मात्रा तो स्वर की मात्रा में वृद्धि उत्पन्न कर देगी, ऐसी परिस्थिति में आक्षरिक मात्रा में भी वृद्धि हो जाना स्वभाविक है। इस समस्या का समाधान तै० प्रा० २१।१ पर वै० मे दे दिया गया है। उसके अनुसार स्वर के साथ मिले हुए व्यञ्जन की मात्रा बोलने की द्रुतवृत्ति में स्वर की मात्रा में समाहित हो जाती है।[2] यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अधिक दूध में पानी मिलाने से दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं, और उसमें दूध की ही प्रधानता रहती है। परन्तु

---

१. नैते व्यञ्जनस्य गुणाः, अचः एते गुणाः, तत्सामीप्यात्तु व्यञ्जनमपि तद्गुणमुपलभ्यते तद् यथा द्वयोर्रक्तयोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुपलभ्यते।—पा० सू० १।२।२९ पर महाभाष्य

२. स्वरसंसृष्टस्य व्यञ्जनस्य स्वरकाल एव कालो द्रुतवृत्तौ न तु सर्वत्रेत्यर्थः। —तै० प्रा० २१।१ पर वै०

ऐसी प्रक्रिया केवल द्रुतवृत्ति में होती है। किसी व्यञ्जन को विलम्बित अथवा मध्य वृत्ति में उच्चरित करने पर उसकी माला स्वर की माला में विलीन नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में भी व्यञ्जन समीपवर्ती स्वर का अङ्ग बन कर उसके स्वराघात को प्राप्त करता है। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि व्यञ्जनों की भी अपनी माला की दृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता होती है। 'नारद शिक्षा' तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में एक कारिका प्राप्त होती हैं। जिसमें कहा गया है—जिस प्रकार एक बलवान् राजा दुर्बल राजा के राज्य का अपहरण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यञ्जन को हर लेता है।[1] अर्थात् उसकी माला को अपनी माला में समाहित कर लेता है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दुर्बल राजा के राज्य का अपहरण करके बलवान् राजा उसके राज्य को अपने में मिला लेता है, परन्तु मूलतः दुर्बल राजा के राज्य की सत्ता भी अपने स्थान पर बनी रहती है। उसी प्रकार व्यञ्जन की माला को स्वर की माला में समाहित हो जाने पर भी, व्यञ्जन की माला अपने स्थान पर बनी रहती है। पूर्णतः नष्ट नहीं हो जाती। इसी बात को 'या० शिक्षा' में एक बड़े ही अच्छे उदाहरण द्वार। स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उसके अनुसार शब्दरूपी माला में व्यञ्जनों को आचार्य लोग मणि और स्वरों को सूत्र कहते हैं। जिस प्रकार मणि का आधार सूत्र है, बिना सूत्र के मणियों द्वारा अनेक प्रयत्न करने पर भी माला का निर्माण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार व्यञ्जनों को भी स्वरों के ऊपर आश्रित रह कर शब्द का निर्माण करना पड़ता है। इसी कारिका की दूसरी पङ्क्ति में यह भी कहा गया है कि व्यञ्जन जिस स्वर के समीप स्थित रहते हैं, उसी स्वर के स्वराघात का अनुवर्तन करते हैं—उसी स्वर के स्वराघात से सस्वर होते हैं।[2] शौनक-शिक्षा की टीका में कहा गया है कि पूर्वाचार्यों ने स्वर संज्ञा द्वारा अकारादि वर्णों का अङ्गी होना सूचित किया है, क्योंकि स्वर वर्ण स्वतः निरपेक्ष होकर उच्चरित होते हैं तथा व्यञ्जन संज्ञा द्वारा अकारादि वर्णों का अङ्गत्व सूचित किया है क्योंकि व्यञ्जन वर्ण स्वरों के द्वारा ही व्यञ्जित होते हैं—उच्चरित होते हैं।[3] स्वर

---

१. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः। दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः।—शि० सं० पृ० ४३४

२. मणिवद् व्यञ्जनान्याहुः सूत्रवत्स्वर इष्यते। व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति सस्वरः॥—या० शि० ३०

३. पूर्वाचार्यैः स्वरसंज्ञया अकारादीनामङ्गत्वं सूचितम्, स्वतो राजन्ते वर्णास्ते स्वराः·········व्यञ्जनसंज्ञया ककारादीनामङ्गत्वं सूचितं स्वतोऽव्यक्तत्वात्। स्वरैर्यानि व्यञ्जयते स्फुटीक्रियते तानि व्यञ्जनानि, अन्यादीन् प्रकाशानीत्यर्थः। —शौ० शि० ३ की टीका

और व्यञ्जन के पारस्परिक अङ्गाङ्गिभाव के प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने एक बड़ा ही मनोरञ्जक उदाहरण दिया है। जिसके अनुसार रङ्ग-स्थल पर गई हुई नटी से यदि कोई व्यक्ति यह पूछे कि तुम किसकी हो ! तुम किसकी हो ! तो वह नटी यही कहेगी कि मैं तुम्हारी हूँ, मैं तुम्हारी हूँ। उसी प्रकार व्यञ्जनों का प्रत्येक स्वरों के प्रति अङ्गत्व होना सिद्ध होता है।[1] अर्थात् व्यञ्जन भी जिस-जिस स्वर के कार्य को प्राप्त होता है, उसी का अङ्ग भी बनता है। सभी प्रातिशाख्यों में व्यञ्जन को ही स्वर का अङ्ग माना गया है। तै० प्रा० २१।१ पर त्रि० में कहा गया है कि स्वर स्वतः निरपेक्ष उच्चरित होता है, जबकि व्यञ्जन स्वरसापेक्ष उच्चरित होता है। सापेक्ष तथा निरपेक्ष के मध्य निरपेक्ष की ही विशेषता होती है। जो अविशिष्ट होता है, उसका विशिष्ट के प्रति अङ्गत्व होता है।[2] इसी प्रकार वैदिकाभरण में भी स्पष्ट कहा गया है कि उदात्तादि स्वर के विचार के प्रसङ्ग में व्यञ्जन स्वर के ही अङ्ग होते हैं। व्यञ्जनों के स्वभावतः उदात्तादि गुण नहीं होते तथा एक-एक व्यञ्जन के पृथक् रूप में उच्चरित होने पर भी उनमें उदात्तादि गुण नहीं होते।[3] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि व्यञ्जन स्वरवर्णों के अङ्ग होकर ही स्वराघात का वहन करते हैं तथा 'स्वर' आधार बनकर अक्षर का निर्माण करते हैं।

प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिकों के अनुसार अक्षर का आधार वही ध्वनि होती है, जो अत्यधिक मुखरता के साथ उच्चरित होती है। कोई भी ध्वनि अक्षर का आधार तभी हो सकती है, जब उसका उच्चारण अधिक देर तक होता रहे। उसके उच्चारण में श्वास अधिक समय तक मुँह से बाहर निकलता रहे, तथा जो श्रोता की इच्छानुसार पर्याप्त समय तक सुनी जा सके। अर्थात् श्रोता जितनी समय तक उसे सुनना चाहे, वक्ता एक ही बार किये गये प्रयत्न से उस ध्वनि को उतने समय तक सुना सकने में समर्थ हो सके। ये सभी विशेषतायें स्वर-ध्वनियों के साथ अन्वित

---

१. तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं, कस्य यूयम् इति तं तं तवेत्याहुः, एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचःकार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।—पा० सू० ६।१।२ पर महाभाष्य

२. व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षम्। स्वरन्तु निरपेक्षम् एव विशिष्टमाचक्षते प्रेक्षावन्तः। विशिष्टप्रत्यङ्गत्वं अविशिष्टस्यैव।—तै० प्रा० २१।१ पर त्रि०

३. उदात्तादिस्वरचिन्तायां व्यञ्जनं स्वराङ्गमेव। न तु व्यञ्जनस्य स्वभावतः उदात्तादिगुणास्सन्ति। नह्येकैकस्मिन् पृथगुच्यमाने उदारादिगुणभेदास्स्फुरन्ति। —तै० प्रा० २१।१ पर वै०

होती हैं। अतः स्वर ध्वनियाँ अनिवार्य रूप से अक्षर का आधार कही जाती हैं। व्यञ्जन ध्वनियाँ स्वर का अङ्ग बन कर अक्षर की सीमा में आती हैं। किसी विदेशी विद्वान् ने स्वरों को मकान की दीवाल और व्यञ्जनों को उसकी छत बतलाया है। जिस प्रकार बिना दीवाल के छत नहीं टिकी रह सकती, उसी प्रकार स्वर के बिना किसी व्यञ्जन का उच्चरित होना ही असम्भव है। इस स्थिति में यही कहा जा सकता है कि प्रधान होने से स्वर ही अक्षर का आधार है।

सङ्घटना की दृष्टि से प्रातिशाख्यों में अक्षर को दो प्रकार का माना गया है—समानाक्षर और संध्यक्षर। इसका कारण यह है कि जो स्वर सर्वांश में समान रूप से उच्चरित होता है, वह समानाक्षर एवं जिसमें दो स्वरों का मेल है, वह सन्ध्यक्षर कहलाता है। यहाँ पर स्वरों को ही अधिक प्रबल एवं श्रव्यता के आधिक्य के कारण अक्षर कहा गया है। अब प्रसङ्गवशात् अक्षर के प्रकार पर विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

अक्षर के प्रकार

ऋ० प्रा० के अतिरिक्त अन्य सभी प्रातिशाख्य उच्चारण में लगने वाले समय की दृष्टि से अक्षर को दो प्रकार का स्वीकार करते हैं—लघु और गुरु। परन्तु ऋ० प्रा० लघु एवं गुरु के भी एक-एक उपभेदों को स्वीकार करता है—ये उपभेद हैं—लघुतर (लघीय) एवं गुरुतर (गरीय)। ये सभी भेद उच्चारणकाल को ही दृष्टि में रख कर किये गये हैं। अब क्रमशः प्रातिशाख्यों के अनुसार इन अक्षरों के स्वरूप के विषय में विचार किया जा रहा है—

१—गुरु—प्रत्येक स्थिति में पाया जाने वाला दीर्घस्वर गुरु होता है। परन्तु ऋ० प्रा० केवल शुद्ध दीर्घस्वर, अर्थात् किसी भी व्यञ्जन से न मिले हुए दीर्घ-स्वर को ही गुरु स्वीकार करता है।[1] इसके अतिरिक्त यदि किसी ह्रस्व स्वर के अव्यवहित बाद संयुक्त वर्ण हो अथवा अनुस्वार हो, तो वह ह्रस्व स्वर सभी प्रातिशाख्यों के मत से गुरुसंज्ञक होता है।[2]

---

१. गुरूणि दीर्घाणि। तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि।—ऋ० प्रा० १।२०, २१, यद् व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं संयोगपूर्वं च तथानुनासिकम्। एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्।—तै० प्रा० २२।१४, गुर्वन्यत्।—च० अ० १।५२, गुरुसणि।—ऋ० तं० ४६, गुरुदीर्घम्।—ऋ० प्रा० १८।४१

२. लघु ह्रस्वं न चेत्संयोग उत्तरः। अनुस्वारश्च।—ऋ० प्रा० १८।३८, ३९

२—लघु—ऋ० प्रा० १८।४३ के अनुसार व्यञ्जन-सहित ह्रस्व स्वर की ही लघु संज्ञा होती है।[1] अन्य सभी प्रातिशाख्य शुद्ध ह्रस्व स्वर तथा किसी भी व्यञ्जन से युक्त ह्रस्व स्वर को लघु अक्षर मानते हैं। परन्तु यदि किसी मन्त्र में अथवा श्लोक में ह्रस्व स्वर के बाद संयुक्त व्यञ्जन वर्ण हो, तब ऐसी स्थिति में आने वाला ह्रस्व स्वर लघु अक्षर नहीं होता।[2] ध्यातव्य है कि ऐसा ह्रस्व स्वर जिसके अव्यवहित बाद संयुक्त वर्ण अथवा अनुस्वार हो, लघु न होकर गुरु संज्ञक होता है।

३—गरीय—अक्षर के इस भेद को केवल ऋ० प्रा० में ही मान्यता दी गई है। जब कोई भी दीर्घ स्वर किसी व्यञ्जन से युक्त होता है अर्थात् उस स्वर से अव्यवहित बाद में यदि कोई व्यञ्जन हो अथवा अव्यवहित पूर्व कोई व्यञ्जन हो तो वह व्यञ्जनयुक्त दीर्घ स्वर गरीय संज्ञक होता है।[3] यहाँ पर ध्यातव्य है कि जब उस दीर्घ स्वर से संयुक्त व्यञ्जन उसी स्वर का अङ्ग होगा, तभी वह अक्षर गरीय कहा जायेगा।

४—लघीय—व्यञ्जन से रहित, केवल ह्रस्व स्वर लघीय संज्ञक होता है। अर्थात् जब कोई भी ह्रस्व स्वर शुद्ध रूप में अकेले ही एक अक्षर का निर्माण करता है, तभी उसे लघीय संज्ञक अक्षर कहा जाता है।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अक्षर के उपर्युक्त भेदों का आधार उच्चारण-कालगत विभिन्नता है। अर्थात् दीर्घ स्वर के उच्चारण में दो मात्रा काल लगता है अतः उसे गुरु कहा गया है। तथा ह्रस्व स्वर के उच्चारण में एक मात्रिक समय लगने से इसे लघु कहा गया है। संयुक्त व्यञ्जन के पूर्व आने वाले ह्रस्व स्वर को गुरु कहने का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी भी स्वर के बाद संयुक्त व्यञ्जन आता है, तो उस संयुक्त व्यञ्जन का प्रथम अवयव द्वित्व को प्राप्त कर लेता है। इस द्वित्वीकरण का परिणाम यह होता है, कि द्वित्व रूप में उत्पन्न व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का अङ्ग बनकर गुरु अक्षर का निर्माण करता है। इसी प्रकार ह्रस्व से बाद में आने वाला अनुस्वार भी अपने पूर्ववर्ती

---

१. लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम्।—ऋ० प्रा० १८।४३

२. अव्यञ्जनान्तं यद्ह्रस्वमसंयोगपरं च यत्। अननुस्वारसंयुक्तं यत् तल्लघु-निबोधत।—तै० प्रा० २२।१४

३. गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्।—ऋ० प्रा० १८।४२

४. लघीयो व्यञ्जनादृते।—ऋ० प्रा० १८।४४

ह्रस्व स्वर का अङ्ग बनकर ह्रस्व स्वर के साथ गुरु अक्षर का निर्माण करता है। इन गुरु अक्षरों में किञ्चित् दीर्घता आ जाती है। जिससे इनका उच्चारण शुद्ध रूप में आये हुए ह्रस्व स्वर से अपेक्षाकृत अधिक समय में होता है। इसी प्रकार यदि कोई ऐसा दीर्घ स्वर जिसके बाद कोई व्यञ्जन आता हो, अथवा जिसके पूर्व कोई व्यञ्जन आता हो तथा वह व्यञ्जन उसी दीर्घ स्वर का अङ्ग हो तब वह दीर्घस्वर अपनी शुद्ध (केवल दीर्घ) अवस्था से अपेक्षाकृत अधिक काल में उच्चरित होगा। अतः इसे ऋ० प्रा० में 'गरीय' संज्ञा प्रदान की गई है। ऋ० प्रा० में प्राप्त लघु और लघीय अक्षरों की व्यवस्था का भी मुख्य हेतु ऐसा ही है। ह्रस्व स्वर जब किसी भी व्यञ्जन का अङ्गी होकर उस व्यञ्जन के साथ मिलकर अक्षर बनेगा, तब उसके उच्चारण में अधिक समय का लगना स्वाभाविक है, अपेक्षाकृत उस स्थिति के, जिसमें वह स्वतंत्र अर्थात् बिना किसी व्यञ्जन के साथ मिले ही अपने शुद्ध रूप में उच्चरित होता है। यद्यपि त्रिभाष्यरत्नकार ने कहा है कि द्रुतवृत्ति में व्यञ्जन की मात्रा अपने अङ्गी स्वर की मात्रा में विलीन हो जाती है, परन्तु ऐसी स्थिति में ऐसा स्पष्ट होता है कि भले ही अङ्गभूत व्यञ्जनों की मात्रा स्वरों की मात्रा में विलीन हो जाय, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस विलयन के परिणाम-स्वरूप स्वर की जो स्वाभाविक मात्रा है, उसमें किञ्चित् दीर्घता निश्चित आ जाती होगी। अतः ऋ० प्रा० का विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक है।

आधुनिक-ध्वनि वैज्ञानिकों ने अक्षर की संघटना के आधार पर ही उसकी दो अन्य कोटियाँ स्वीकार की हैं—(१) मुक्तअक्षर और (२) बद्धअक्षर। मुक्त-अक्षर का तात्पर्य है—वह अक्षर जिसके अन्त में स्वर होता है, जैसे—'आप्त' शब्द में दो अक्षर 'आप्' और 'त' हैं। इनमें प्रथम अक्षर बद्ध एवं द्वितीय अक्षर मुक्त है। 'बद्ध' अक्षर का तात्पर्य है वह अक्षर जिसके अन्त में व्यञ्जन होता है, जैसे—'सर्वम्' शब्द में 'सर्' और 'वम्, दो अक्षर हैं। इन दोनों अक्षरों के अन्त में व्यञ्जन हैं। अतः ये दोनों ही अक्षर 'बद्ध' कहे जाते हैं।

अङ्गाङ्गिभाव के नियम

अक्षर के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला गया। अब अक्षर-विभाजन के विविध सिद्धान्तों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है। इस प्रकरण में प्रातिशाख्यों के अनुसार यह विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा, कि किसी भी शब्द में आया हुआ व्यञ्जन अपने समीपस्थ किस स्वर के साथ मिलकर अक्षर के निर्माण में सहायक होता है, तथा अपने अङ्गीभूत किस स्वर के स्वराघात से सस्वर होता है।

१—स्वर के पूर्व आने वाले व्यञ्जन का अङ्गत्व—प्रातिशाख्यों के अनुसार स्वर से पूर्व आने वाला व्यञ्जन परवर्ती स्वर का ही अङ्ग होता है, चाहे उस व्यञ्जन से पूर्व कोई स्वर हो अथवा न हो।[1] ऋ० प्रा० १।२३ के भाष्य में उवट ने कहा है कि जिस पद में एक ही स्वर हो वहाँ पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों व्यञ्जन उसी स्वर वर्ण के अङ्ग होंगे। किन्तु जिस पद में दो स्वर वर्ण हों और उनके बीच में कोई व्यञ्जन हो तो यह संदेह होना स्वाभाविक है, कि वह व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा अथवा परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा ? इसी संदेह के निवारण के लिए आचार्य शौनक ने ऋ० प्रा० के सूत्र सं० १।२३ का निर्माण किया है।[2] परन्तु निरपेक्षभाव से यदि विचार किया जाय तो यह समस्या प्रबलरूप में सामने आ जाती है, कि किसी पद में एक ही स्वर रहने पर तो उसके पूर्ववर्ती जितने भी व्यञ्जन होंगे, वे सभी उसी स्वर के अङ्ग होंगे; क्योंकि उस पद में कोई अन्य स्वर है ही नहीं, जिसका अङ्ग बनने का उस व्यञ्जन को अवसर मिले। परन्तु जिस पद में दो स्वर हैं, उसमें उन दोनों स्वरों के मध्य स्थित व्यञ्जन क्यों परवर्ती स्वर का ही अङ्ग होता है, पूर्ववर्ती स्वर का नहीं। ऋ० प्रा० १।२५ में यह कहा गया है कि संयोग का आदिभूत व्यञ्जन विकल्प से पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा, अथवा परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा। यदि वह व्यञ्जन-संयोग दो स्वरों के मध्य स्थित हो।[3] यहाँ संयोग से तात्पर्य है—दो या तीन व्यञ्जनों का संयोग। इस सूत्र के भाष्य में उवट ने 'अग्निनम्' पद को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है तथा यह बतलाया है कि इस पद में दो गकार तथा नकार का संयोग है। उसमें प्रथम गकार द्वित्व से उत्पन्न है और पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग है तथा पूर्ववर्ती स्वर के अनुदात्त होने से अनुदात्त के समान सुना जाता है। द्वितीय गकार संयोगादि है, वह पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा अथवा परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा।[4] इस प्रकार से 'अग्निनम्' का आक्षरिक विभाजन अग्ग्+निम् तथा अग्+ग्निम् दोनों होगा। वस्तुतः यह विकल्पात्मक स्थिति बलाघात पर आधारित

---

१. तत्परस्वरम्।—तै० प्रा० २१।२, स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य।—ऋ० प्रा० १।२३

२. एवं तावद्यत्रैकः स्वरस्तत्र पूर्वाणि पराणि च व्यञ्जनानि तस्यैवाङ्गं भवन्ति। अथ पुनर्यानि स्वरयोर्मध्यगतानितानि किं पूर्वस्य उत उत्तरस्याङ्गमित्यस्मिन्सन्देहे त्विदमारभ्यते।—ऋ० प्रा० १।३२ पर उवट

३. संयोगादिर्वा।—ऋ० प्रा० १।२५ पर उवट

४. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० १।२५ पर उवट

है। यदि पूर्ववर्ती स्वर बलाघातयुक्त है, तो व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा तथा यदि परवर्ती स्वर बलाघातयुक्त है, तो व्यञ्जन परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा। ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह तथ्य अधिक पुष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है—अक्षर का आधार प्रमुखता या मुखरता है। अर्थात् आक्षरिक ध्वनि अनाक्षरिक ध्वनियों की अपेक्षा अधिक मुखर होती है। जब कोई स्वर अधिक बलाघात-युक्त उच्चरित किया जाता है, तब उसकी पाश्व वर्ती ध्वनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं, क्योंकि श्वास का अधिक भाग उसी स्वर के उच्चारण में लग जाता है। जिसका परिणाम होता है कि आस-पास की ध्वनियाँ उसी स्वर के अङ्ग के रूप में उच्चरित हो जाती हैं। प्रसिद्ध ध्वनि-वैज्ञानिक 'मेये' के अनुसार स्वरों के मध्य में स्थित व्यञ्जन दो स्वरों में विभक्त होता है। इसका पूर्व अंश पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, तथा परवर्ती अंश परवर्ती स्वर का अङ्ग हो जाता है।[1] परन्तु उपर्युक्त विवेचन का विधान केवल द्वित्व से उत्पन्न व्यञ्जन के प्रसंग में ही लागू होता है, क्योंकि उवट ने द्वित्वीकृत व्यञ्जन का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। परन्तु ऐसा व्यञ्जन जो संयोग का आदिभूत नहीं है तथा दो स्वरों के मध्य में स्थित भी है, वह निश्चित रूप से परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा। प्रोफेसर 'स्टुअर्ट जोन्स' ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उनके अनुसार यूनानी वैयाकरणों ने भी दो स्वरों के मध्य में स्थित व्यञ्जन को अनुवर्ती स्वर का ही अङ्ग स्वीकार किया है।[2]

२—पदान्त व्यञ्जनों का अङ्गत्व—प्रायः सभी प्रातिशाख्य एक मत से पदान्त व्यञ्जन को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग स्वीकार करते हैं।[3] इसका कारण है कि संस्कृत-भाषा में पदान्त में उच्चरित होने वाला व्यञ्जन अपने पूर्व स्थित वर्ण के साथ निकट सम्बन्ध रखता है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार संस्कृत में अन्तिम व्यञ्जन अन्तःस्पर्शी था। इसी कारण से पालि और प्राकृत भाषाओं में पदान्त व्यञ्जन का लोप हो गया।[4] इस लोप का कारण यह था, कि इन पदान्त व्यञ्जनों का उच्चारण अत्यन्त शिथिलता से होता था, जिससे वे स्वतंत्र रह

---

१. द्रष्टव्य—Langues Indc-uropeennes, III Edidion, Page 106

२. द्रष्टव्य—डॉ० सि० वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians. Page 67, 68

३. अवसितं पूर्वस्य। तै० प्रा० २।१।३ पद्यं च।—च० अ० १।५७

४. डॉ० सि० कृतवर्मा A Critcal Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians P. 67, 68

सकने में समर्थ न होने के कारण लोप को प्राप्त हो जाते थे। वास्तव में भाषा में कई प्रकार की प्रवृत्ति के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पदान्त व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग होगा, क्योंकि अथर्ववेद में कतिपय ऐसे भी शब्द हैं, जिनमें पदान्त व्यञ्जनों का द्वित्व हो जाता है। च० अ० ३।२६ में तो स्पष्टतः यह विधान किया गया है, कि पदान्त में आने वाला व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त कर लेता है।[1] आज भी कतिपय बोलियों में पदान्त व्यञ्जन द्वित्व रूप बोले जाते हैं। इसलिए भाषा की प्रवृत्ति को देखकर यह कहा जा सकता है, कि प्रातिशाख्यों के काल में भी पदान्त व्यञ्जन सर्वथा पूर्ववर्ती स्वर के ही अङ्ग नहीं होते थे। 'पञ्जाबी' भाषा में आज भी 'सद्' का उच्चारण 'सद्द' रूप में किया जाता है। द्वित्वीकृत व्यञ्जन को अधिक दीर्घता के साथ उच्चरित किये जाने पर वह भी स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण कर सकता है। अतः प्रातिशाख्यों का यह विधान कि पदान्त-व्यञ्जन सर्वथा पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है—पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता।

३—संयुक्त व्यञ्जनों का अङ्गत्व—तै० प्रा० २१।४, च० अ० १।५६ वा० प्रा० १।१०२ के अनुसार संयोग का आदि-व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग होता है।[2] परन्तु ऋ० प्रा० १।२५ तथा १८।३५ के अनुसार संयोग का आदि व्यञ्जन विकल्प से पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा, अथवा परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा।[3] तथा ऋ० प्रा० १।२६ एवं १८।३६ में यह विधान किया गया है कि जब संयोग के प्रथम वर्ण का द्वित्व न होकर द्वितीय वर्ण का द्वित्व हुआ हो तो, द्वित्व को प्राप्त होने वाला वर्ण तथा द्वित्व के रूप में उत्पन्न नवीन वर्ण दोनों विकल्प से पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होंगे, अथवा परवर्ती स्वर के अङ्ग होंगे।[4] सभी प्रातिशाख्य एकमत से यह स्वीकार करते हैं, कि किसी भी व्यञ्जन-संयोग का प्रथम वर्ण द्वित्व को प्राप्त हो जाता है, यदि उसके पूर्व कोई स्वर हो। ऋ० प्रा० १।२५ पर भाष्य में उवट ने संयोगादि वर्ण को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग तो स्वीकार किया है, परन्तु यह संयोगादिवर्ण द्वित्व से उत्पन्न हो तभी वह पूर्ववर्ती

---

१. पदान्ते व्यञ्जनं द्विः।—च० अ० ३।२६

२. संयोगादिः।—तै० प्रा० २१।४, संयोगादिः पूर्वस्य।—च० अ० १।५६, वा० प्रा० १।१०२

३. संयोगादिर्वा।—ऋ० प्रा० १।२५, संयोगादिश्च वैवं च।—ऋ० प्रा० १८।३५

४. च परक्रमे द्वे।—ऋ० प्रा० १।२६, सहक्रम्यः परक्रमे।—ऋ० प्रा० १८।३६

स्वर का अङ्ग होगा। उदाहरणार्थ—'आत्त्वा' पद में दो तकार और वकार का संयोग है। इसमें प्रथम तकार द्वित्व से उत्पन्न है तथा पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग है। पूर्ववर्ती स्वर के उदात्त होने से वह उदात्त के समान सुना जाता है। संयोग का प्रथम वर्ण द्वितीय तकार या तो पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है अथवा परवर्ती स्वर का अंग होता है। इस प्रकार यह तो कहा ही जा सकता है, कि व्यञ्जन-संयोग का वही वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा, जिसकी उत्पत्ति द्वित्व के परिणाम स्वरूप हुई हो। अन्य प्रातिशाख्यों में निश्चित रूप से संयोगादि वर्ण को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होने का विधान इसीलिए किया गया है, कि किसी भी व्यञ्जनसंयोग के पूर्व यदि स्वर है, तब उसका द्वित्व भी अवश्य ही हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि—अक्षर को आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने दो प्रकार का स्वीकार किया है—'बद्ध अक्षर' और मुक्त अक्षर। जिस अक्षर के अन्त में व्यञ्जन होता है, उसे बद्धअक्षर कहा जाता है तथा स्वरान्त अक्षर 'मुक्त' कहलाता है। भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होती है, कि संयुक्त वर्णों से युक्त शब्दों में प्रथम अक्षर को बद्ध रूप में उच्चरित किया जाय। अर्थात् यदि कोई शब्द इस प्रकार का हो, जिसमें आदि वर्ण स्वर हो तथा उसके बाद दो व्यञ्जनों या दो से अधिक व्यञ्जनों का संयोग हो, तो ऐसी स्थिति में प्रथम स्वर से जिस अक्षर का निर्माण होगा अर्थात् जब प्रथम स्वर का उच्चारण अक्षर के रूप में होगा, तो उसपर बलाघात पड़ने के कारण वह अक्षर 'बद्ध' रूप में उच्चरित होगा। परिणामस्वरूप एक अतिरिक्त वर्ण का उच्चारण हो जाएगा। यही अतिरिक्त व्यञ्जन द्वित्वीकृत व्यञ्जन कहलाता है। इस प्रकार द्वित्व से उत्पन्न वर्ण अपने पूर्ववर्ती स्वर का अंग बनकर उसे 'बद्ध' अक्षर बना देता है। परन्तु यदि किसी संयोग का प्रथम व्यञ्जन रेफ हो, तो उसका द्वित्व नहीं होता। अतः इस स्थिति में उसे निश्चित रूप से पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग नहीं कहा जा सकता। पहले कहा जा चुका है, कि व्यञ्जनसंयोग में पूर्ववर्ती अक्षर 'बद्ध' ही होता था। ऐसी स्थिति में रेफ तथा उसके बाद में स्थित व्यञ्जन दोनों ही पूर्ववर्ती स्वर के साथ मिलकर अक्षर का निर्माण करेंगे। इस प्रकार 'स्वर्गम्' का अक्षर-विभाजन 'स्वर्ग् + गम्' के रूप में होगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि संस्कृत भाषा में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिसका अन्त वाक्य के में रेफ से अन्त होता हो।

स्पर्श वर्णों के संयोग के विषय में थोड़ा विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। संस्कृत के स्पर्श+स्पर्श के संयोग का प्राकृत रूप, द्वितीय स्पर्श का द्वित्व कर देता है। अर्थात् प्रथम स्पर्श द्वितीय स्पर्श में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार 'मुक्त'

का प्राकृत रूप 'मुत्त' तथा 'मुद्ग' का प्राकृत रूप 'मुग्ग' होता है। इससे संदेह होना स्वाभाविक है, कि व्यञ्जन-संयोग का प्रथम वर्ण अनुवर्ती स्वर का अंग होगा, क्योंकि इसका समीकरण द्वितीय व्यञ्जन के साथ हो जाता है। परन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि यहाँ भी पूर्ववर्ती अक्षर को बद्ध रूप में उच्चरित होने वाली प्रवृत्ति ही क्रियाशील है। क्योंकि, द्वितीय अक्षर का प्रारम्भ द्वित्वरूप में उत्पन्न व्यञ्जन से नहीं हो सकता। इस प्रकार 'भत्ता', का आक्षरिक विभाजन भ+त्त के रूप में नहीं हो सकता। इसका वास्तविक अक्षर-विभाजन 'भत्'+'त' ही होगा। इस प्रकार अनेक अन्य परवर्ती भाषाओं से भी कतिपय ऐसे शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है, जिनमें संयोगादि व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर के अंग के रूप में ही उच्चरित होते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि प्रातिशाख्यों के विधान पर्याप्त मात्रा में ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को रखते हुए सत्यता के अधिक सन्निकट हैं।

द्वित्व व्यञ्जनों का अङ्गत्व

द्वित्व व्यञ्जनों के अङ्गत्व के विषय में प्रातिशाख्यों में ऐकमत्य नहीं है। सामान्य रूप में संस्कृत-भाषा में किसी भी व्यञ्जन का द्वित्व तभी होता है, जब वह व्यञ्जन संयुक्त वर्ण का पूर्ववर्ती अङ्ग हो तथा उसके पूर्व कोई स्वर हो। इस प्रकार यह निश्चित है कि उस द्वित्व व्यञ्जन के बाद कोई व्यञ्जन अवश्य होगा। वा० प्रा० १।१०४,१०५ के अनुसार द्वित्व व्यञ्जनों के आक्षरिक-विभाजन का बहुत कुछ श्रेय परवर्ती व्यञ्जनों पर निर्भर रहता है। यदि द्वित्व-समूह किसी अन्तस्थ-व्यतिरिक्त व्यञ्जन से पूर्व हो, तो द्वित्व व्यञ्जन के दोनों ही तत्त्व पूर्ववर्ती अक्षर के अङ्ग होंगे।[1] इस प्रकार 'अग्ग्निम्', 'पाष्ष्र्णया' का आक्षरिक विभाजन 'अग्ग्' +'निम्' तथा 'पाष्ष्ँ'+'ण्या' के रूप में होगा। किन्तु यदि द्वित्व-समूह के बाद कोई अन्तस्थ होगा तो केवल प्रथम वर्ण ही पूर्ववर्ती अक्षर का अङ्ग होगा। उदाहरणार्थ 'वाष्ष्र्याय' तथा 'पाश्श्र्वम्' का आक्षरिक विभाजन क्रमशः 'वाष्ँ'+'ष्याय' तथा 'पाश्ँ'+'श्वम्' होगा। परन्तु ऋ० प्रा० का विधान वा० प्रा० के विधान से भिन्न है। ऋ० प्रा० १।२५, २६ के अनुसार द्वित्व व्यञ्जनों में द्वितीय वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का भी अङ्ग हो सकता है तथा विकल्प से परवर्ती स्वर का भी अङ्ग हो सकता है।[2] उपर्युक्त दोनों सूत्रों के भाष्यों में उवट का कथन है कि ऐसे स्थलों पर प्रथम व्यञ्जन तो निश्चित रूप से पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग होता है, परन्तु

---

१. क्रमजं च।—वा० प्रा० १।१०४, तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे।—वा० प्रा० १।१०५
२. संयोगादिर्वा, चपरक्रमे द्वे।—ऋ० प्रा० १।२५, २६

द्वितीय वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का भी अङ्ग हो सकता है तथा विकल्प से परवर्ती स्वर का भी अङ्ग हो सकता है। इस प्रकार 'आत्त्वा' का प्रथम तकार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होकर पूर्ववर्ती स्वर (आकार) के स्वर से सस्वर होगा। द्वितीय तकार परवर्ती आकार के अङ्ग के रूप में उसके स्वर से सस्वर होगा एवं विकल्प पक्ष में पूर्ववर्ती आकार का अङ्ग होकर उसके स्वर से सस्वर होगा। इस प्रकार आत्त्वा का आक्षरिक-विभाजन 'आत्त्' + 'वा' एवं विकल्प पक्ष में 'आत् + त्वा' दोनों हो सकता है।

द्वित्व वर्णों के आक्षरिक विभाजन के प्रसङ्ग में इस वैकल्पिक विधान का क्या कारण है, यह विचारणीय विषय है। क्या यह विभाजन प्रातिशाख्यकारों की कल्पना मात्र है, अथवा इसमें कुछ ध्वनि-वैज्ञानिक कारण है? इस प्रसङ्ग में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का प्रयास सराहनीय है। उनके अनुसार "सच बात तो यह है कि द्वित्वीकृत व्यञ्जनों का विभाजन तभी सम्भव हो सकता है, जबकि द्वितीय व्यञ्जन का स्फोटन होता हो। उदाहरणार्थ—'अग्ग्नम्' शब्द के उच्चारण में यदि प्रथम 'ग्' का द्वितीय 'ग्' से पूर्व स्फोटन होता हो, तभी इसका आक्षरिक विभाजन 'अग्' + 'ग्निम्' हो सकता था, परन्तु मुझे अभी तक ऐसी किसी भाषा का पता नहीं, जिसमें कि किसी द्वित्व व्यञ्जन के उच्चारण में प्रथम व्यञ्जन का द्वितीय से पूर्व स्फोटन होता हो।"[1] डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है, कि संसार में ऐसी कोई भी भाषा नहीं है, जिसमें किसी व्यञ्जन का द्वित्व होता हो तथा उन द्वित्वीकृत व्यञ्जनों में प्रथम व्यञ्जन के उच्चारण में करण का स्थान से अलगाव हो जाने के कारण सम्पूर्ण वायु मुख-विवर से बाहर निकल जाती हो, तथा दूसरा व्यञ्जन दूसरे प्रयत्न द्वारा उच्चरित होता हो। जब तक प्रथम व्यञ्जन के उच्चारण में वायु का स्फोटन नहीं होगा, तब तक प्रथम व्यञ्जन का अलगाव द्वितीय व्यञ्जन से नहीं हो सकता। परिणाम-स्वरूप दोनों ही व्यञ्जन एक ही स्वर के अङ्ग होंगे, क्योंकि दो स्वरों का अङ्ग होने पर दो अक्षरों का होना आवश्यक है, और दो अक्षरों का होना तभी सम्भव है जब दोनों का उच्चारण पृथक्-पृथक् श्वासाघातों में हो।

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसी प्रसङ्ग में प्रो० 'डेनियल जोन्स' के मत को भी उद्‌धृत किया है—"प्रो० डेनियल जोन्स ने मुझे बताया कि इस प्रकार का स्फोटन तो इताली भाषा में भी नहीं होता है, जिसमें द्वित्व व्यञ्जनों का बिल्कुल स्पष्ट

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० सिद्धेश्वर वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians. Page (68,69)

उच्चारण होता है—यथा—'दित्तो' (ditto) में।"[1] डॉ० वर्मा के उपर्युक्त विचारों का समर्थन ऋ० प्रा० ६।४३, ४४ के सम्यक् अनुशीलन से हो जाता है। ऋ० प्रा० के उपर्युक्त दोनों सूत्रों में आचार्य व्याडि के मत को प्रतिपादित किया गया है। आचार्य व्याडि किसी भी स्थल पर अभिनिधान की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि अभिनिधान का सर्वत्र लोप हो जाता है।[2] अभिनिधान की सत्ता का प्रबल विरोधी, आचार्य व्याडि भी ऋ० प्रा० ६।४४ के अनुसार यही कहते हैं कि जब परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व हुआ हो अथवा पूर्व में रेफ या स्वर हो तो अभिनिधान का लोप नहीं होता है।[3] अभिनिधान का अर्थ है—अपूर्ण उच्चारण या दूसरे शब्दों में स्फोटन-रहित उच्चारण।[4] तात्पर्य यह है कि व्याडि के मत से भी द्वित्व व्यञ्जनों में पूर्ववर्ती व्यञ्जन के उच्चारण में वायु का स्फोटन नहीं होता। परिणामस्वरूप दोनों व्यञ्जन दो अलग-अलग अक्षरों का निर्माण नहीं कर सकते। ऋ० प्रा० ६।२ में यह भी कहा गया है कि जब कभी व्यञ्जनों का द्वित्व होता है, तो महाप्राण व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती अल्पप्राण व्यञ्जनों के साथ एक ही श्वासाघात में उच्चरित हो जाते हैं।[5] अतः यदि उपर्युक्त विवेचन ध्वनि-वैज्ञानिक आधार रखता है, तब तो यह स्पष्ट रूपेण कहा जा सकता है कि ऋ० प्रा० का यह विचार कि 'अग्निम्' का आक्षरिक विभाजन वैकल्पिक रूप में 'अग्+ग्निम्' होता है, ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है।

परन्तु उपर्युक्त विवेचन से शंका का समाधान नहीं हो पाता। ऋ० प्रा० में जो 'अग्निम्' का आक्षरिक विभाजन 'अग्+ग्निम्' किया गया है, उसका क्या आधार है? विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि द्वित्वीकृत व्यञ्जन दीर्घव्यञ्जन के रूप में रहता है। अग्निम् में वक्ता प्रथम गकार का उच्चारण करने के लिये जिह्वा को गकार के उच्चारण-स्थान पर ले जाता है, जिससे प्रथम गकार का उच्चारण हो जाता है, परन्तु जब द्वितीय गकार के

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० सिद्धेश्वर वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians Page. 68-69

२. व्याडिः सर्वत्राभिनिधान लोपः।—ऋ० प्रा० ६।४३

३. परक्रमस्वररेफोपधे न।—ऋ० प्रा० ६।४४

४. अभिनिधान के लिये द्रष्टव्य चतुर्थ अध्याय

५. सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत्स्वेन।—ऋ० प्रा० ६।२

उच्चारण के लिये प्रयत्न की मात्रा को बढ़ाया जाता है, तब तो प्रथम गकार के अन्तिम अंश और द्वितीय गकार के आदि अंश के बीच श्रोता को कुछ उच्चारण का ह्रास होते हुये परिलक्षित होता है। परिणामतः श्रोता दोनों गकारों के उच्चारण के मध्य किञ्चित् विराम की कल्पना करके दोनों गकारों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार कर लेता है और दोनों को दो अक्षरों का अङ्ग स्वीकार कर लेता है। परन्तु मेरा उपर्युक्त कथन सीमित है। इसकी सत्यता का निर्णय पूर्णतः नहीं किया जा सका है, क्योंकि वा० प्रा० में इस प्रकार के विभाजन को कथमपि स्थान नहीं दिया गया है। वा० प्रा० १।१०५ में विधान किया गया है कि द्वित्व से उत्पन्न वर्ण से परवर्ती व्यञ्जन भी स्पर्श बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[1] इसके अनुसार 'अग्निम्' का आक्षरिक विभाजन अग्+निम् होता है। इस प्रातिशाख्य के अनुसार भी द्वित्व-समूह को पृथक् करके उनका अलग-अलग अक्षरों के रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता। परन्तु जब द्वित्वीकृत वर्ण संघर्षी व्यञ्जन होगा, तो उनके दोनों तत्व पृथक्-पृथक् होकर दो अक्षरों के अङ्ग बनते हैं। उदाहरणार्थ—'पाश्शर्वम्' का आक्षरिक विभाजन 'पाश्+श्वम्' होता है।

वा० प्रा० में प्राप्त होने वाले उपर्युक्त दो विपरीत विधानों को ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। जब द्वित्वीकृत स्पर्श के पश्चात् कोई अन्य स्पर्श अथवा नासिक्य ध्वनि आ जाय, तो द्वित्वीकृत वर्ण पृथक्-पृथक् नहीं सुनाई पड़ सकते। क्योंकि इस प्रकार के व्यञ्जन-संयोग में दोनों स्पर्शों-द्वित्वीकृत एवं परवर्ती स्पर्श अथवा नासिक्य के एक साथ उच्चारण के लिये श्वासशक्ति का नैरन्तर्य कठिन है। अतः द्वित्व व्यञ्जनों का पृथक् उच्चारण भी अपेक्षाकृत कठिन है। परन्तु जब द्वित्व-समूह के बाद कोई स्वर, अंतस्थ या संघर्षी वर्ण होगा तो द्वित्व का उच्चारण अपेक्षाकृत पर्याप्त सरल हो जाता है। इसका कारण यह है कि द्वित्व से परवर्ती वर्ण के उच्चारण में श्वासशक्ति का नैरन्तर्य कमजोर पड़ जाता है। इस प्रक्रिया में प्रमुख बात तो यह है, कि द्वित्वीकृत वर्ण के द्वितीय तत्व के उच्चारण में वायु के स्फोटन का झुकाव परवर्ती वर्ण की ओर हो जाता है। परिणामस्वरूप द्वित्वीकृत वर्णों में द्वितीय वर्ण परवर्ती स्वर का अङ्ग बन जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से ही वा० प्रा० में 'पाश्शर्व' का आक्षरिक-विभाजन 'पाश्+श्व'' के रूप में स्वीकृत हुआ होगा।

---

१. तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे।—वा० प्रा० १।१०५

वैदिक संहिताओं में द्वित्व के कतिपय ऐसे स्थल भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें रेफ के बाद आने वाले किसी स्पर्श का द्वित्व हो गया है। विशेषकर अथर्ववेद में इस प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। च० अ० १।५८ में विधान किया गया है कि रेफ और हकार के पश्चात् आने वाले व्यञ्जन का द्वित्व होने पर द्वित्व से उत्पन्न अतिरिक्त वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[1] च० अ० के इसी सूत्र के भाष्य में अर्कः, अर्चः, वर्तः इत्यादि पदों को उदाहृत किया गया है, जिनमें रेफ के बाद आने वाले क्रमशः ककार चकार एवं तकार का द्वित्व हो जाता है। इनमें द्वित्व से उत्पन्न वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है। वा० प्रा० तो किसी भी स्तर पर द्वित्व से उत्पन्न वर्ण को पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग मानता है।[2] डॉ० सि० वर्मा 'अर्क्कः' के चार प्रकार के आक्षरिक विभाजन की कल्पना करते हैं—अर्क् + कः, अर् + क्कः, अर्क्क् + अः तथा अर् + क्कः। परन्तु इन सभी विभाजनों में अर्क + कः, रूप में विभाजन अधिक सीमा तक युक्तियुक्त था, क्योंकि 'अर्क्' व्यञ्जन अकेला ही दीर्घ व्यञ्जन तो था, परन्तु इनमें प्रथम व्यञ्जन के अंतिम अंश एवं द्वितीय व्यञ्जन के पूर्वांश के मध्य उच्चारण की तीव्रता के सातत्य-भङ्ग हो जाने से उनके मध्य में श्रोता को किञ्चित् विराम जैसा प्रतिभासित हुआ होगा, जिससे दो 'क्' सुनाई पड़े होंगे, जिनमें प्रथम 'क्' पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग एवं द्वितीय 'क्' परवर्ती स्वर के अङ्ग के रूप में श्रुतिगोचर हुए होंगे। इस प्रकार चतुरध्यायिका का मत निःसन्देह स्वीकार्य है।

जिस व्यञ्जनसंयोग में स्पर्श वर्ण के पश्चात् कोई संघर्षी-वर्ण आये, उसमें 'स्पर्श' अपने अनुवर्ती स्वर का अङ्ग होता है, किन्तु तै० प्रा० २१।९ में विधान किया गया है कि स्पर्श के बाद संघर्षी वर्ण आने पर तो स्पर्श अपने अनुवर्ती स्वर का अङ्ग होगा। परन्तु संघर्षी वर्ण के पश्चात् पुनः किसी व्यञ्जन के आ जाने पर स्पर्श परवर्ती स्वर का अङ्ग न होकर पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग हो जाएगा।[3] इसका कारण यह है कि तीन या इससे अधिक व्यञ्जनों के समूह में सभी व्यञ्जन उच्चारण के एक ही आघात से नहीं उच्चरित हो सकते। इस प्रकार 'तत्सवितुः' में 'तत्स' का विभाजन 'त' + 'त्स' रूप में होगा। इसी प्रकार 'जुगुप्सा' का विभाजन जु + गु + प्सा रूप में होगा। परन्तु 'जगत्स्थाः' का आक्षरिक विभाजन जगत् + स्थाः के रूप में होगा। संस्कृत-भाषा में किसी भी अक्षर को सकार से

१. रेफहकारक्रमजं च।—च० अ० १।५८

२. क्रमजं च।—वा० प्रा० १।१०४

३. स्पर्शश्चोष्मपर ऊष्मा चेत्परस्य।—तै० प्रा० २१।९

बद्ध नहीं किया जाता एवं न तो दो स्पर्शों के मध्य सकार ध्वनि ही आ पाती है। इसलिए यदि 'जगत्स्थाः' का आक्षरिक विभाजन किसी अन्य रूप में करने का विचार किया जाय, तो ऐसा नहीं हो सकता। इसी कठिनाई से बचने के लिए इस प्रकार के व्यञ्जन-संयोगों में जिनमें मध्यवर्ती व्यञ्जन संघर्षी होता था, एक स्वरभक्ति का आगम परवर्ती भाषाओं में हो गया। पालि और प्राकृत भाषाओं में इन तीन व्यञ्जनों के स्थान पर दो व्यञ्जन ही रह गये। संघर्षी-ध्वनि का स्पर्श के साथ समीकरण हो जाता है तथा वह स्पर्श को महाप्राण बना देता है। इस प्रकार संस्कृत 'तीक्ष्ण' पाली 'तिक्खिण' एवं संस्कृत 'पक्ष्मन्' पाली 'पखुम' हो जाता है।

तै० प्रा० २१।७ पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि किसी संयोग में जब विजातीय व्यञ्जन के साथ अन्तस्थ का मेल होता है, तो विजातीय व्यञ्जन अपने परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है। परन्तु यदि संयुक्त वर्णों में दोनों अन्तस्थ ही होंगे तो प्रथम अन्तस्थ पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग हो जाएगा।[1] उदाहरणार्थ— 'अध्यवसाय' एवं 'इषेत्वा' पदों में क्रमशः 'अध्य का धकार एवं 'त्वा' का तकार अपने परवर्ती स्वर के अङ्ग होकर 'अ+ध्य' तथा 'षे+त्वा' के रूप में विभाजित हो जाते हैं। तै० प्रा० २१।७ पर त्रि० में इस विभाजन का कारण बतलाते हुए कहा गया है कि व्यञ्जन स्वतः स्थित नहीं हो सकता।[2] अतः उसे परवर्ती स्वर का अङ्ग होना चाहिए। परन्तु त्रि० का यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब व्यञ्जन स्वतः नहीं स्थित रह सकता, तो उसे पूर्व तथा पर दोनो ही स्वरों का अङ्ग बनने के योग्य कहा जा सकता है, उसे किसलिये परवर्ती स्वर का ही अङ्ग स्वीकार किया गया है। वास्तव में व्यञ्जन+अन्तस्थसंयोग में अन्तस्थ—'य्' एवं 'व्' का उच्चारण स्वरवत् होता है, इस तथ्य की पुष्टि ऋ० प्रा० १७।२३ से भी हो जाती है। ऋ० प्रा० के अनुसार अन्तस्थ-वर्णों के संयोगों को तत्सदृश स्वरों से व्यवधान करके छन्दोगत न्यूनता की पूर्ति कर लेनी चाहिए। अर्थात् यदि संयुक्त वर्णों में यकार हो तो इकार से तथा वकार हो तो उकार से व्यवधान करके छन्दों के पादों की पूर्ति कर लेनी चाहिए।[3] उपर्युक्त तर्क से यह तो स्पष्ट हो गया कि अन्तस्थ को स्वरवत् व्यवहृत किया जाता था। अन्तस्थ के पूर्व-स्थित व्यञ्जन उसी के साथ होने से, जिस स्वर का अङ्ग अन्तस्थ होगा, उसी का अङ्ग वह

---

१. नान्तस्थापरमसवर्णम्।—तै० प्रा० २१।७

२. ...व्यञ्जनं स्वत अवस्थातुमशक्यत्वात्।—तै० प्रा० २१।७ पर त्रि०भाष्यरत्न

३. क्षैप्रवर्णाश्च संयोगान्व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः।—ऋ० प्रा० १७।२३

व्यञ्जन भी हो जाएगा। परन्तु तै० प्रा० में यह भी स्पष्टतः कहा गया है कि अन्तस्थ+अन्तस्थ के संयोग में पूर्ववर्ती अन्तस्थ परवर्ती स्वर का अङ्ग न होकर पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा। इस प्रकार 'नव्य' का वकार पूर्ववर्ती अकार का अङ्ग होगा तथा 'परिचाय्यम्' का यकार पूर्ववर्ती स्वर आकार का अङ्ग होगा। इस प्रकार 'नव्य' का आक्षरिक विभाजन 'नव्+य' होगा तथा 'परिचाय्यम्' का आक्षरिक विभाजन प+रि+चाय्+यम् होगा।

यम का अङ्गत्व

यमों के अङ्गत्व पर विचार करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है, कि यमों का सामान्य स्वरूप क्या है और यमों की उत्पत्ति किस अवस्था में होती है। संक्षेप में यमों का स्वरूप इस प्रकार है—अननुनासिक-स्पर्श के बाद अनुनासिक-स्पर्श आने पर उनके मध्य में आने वाली विशेष प्रकार की नासिक्य ध्वनियों का नाम 'यम' है। अर्थात् जब किसी व्यञ्जन-संयोग में पूर्ववर्ती वर्ण अननुनासिक स्पर्श हो एवं परवर्ती वर्ण किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो, तो उनके मध्य पूर्ववर्ती वर्ण के सदृश अतिरिक्त वर्ण का आविर्भाव हो जाता है, जो परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के प्रभाव से अनुनासिक-गुणयुक्त उच्चरित होता है। इसी आविर्भूत ध्वनि की संज्ञा 'यम' है। 'यम' का शाब्दिक-अर्थ-'जोड़ा' है। इसमें पूर्ववर्ती स्पर्श द्वित्व रूप में उच्चरित होता है, जिसका द्वितीय अवयव किञ्चित् नासिक्य स्फोटन के साथ उच्चरित होने से यम कहलाता है।[1] अब विचारणीय बात यह है कि 'यम' को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग माना जाय अथवा परवर्ती स्वर का अङ्ग माना जाय ? वा० प्रा० १।१०३ में विधान किया गया है कि 'यम' पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[2] इसी सूत्र के उवट भाष्य में सूत्रोक्त 'च' शब्द का अर्थ 'पूर्ववर्ण-सहित' किया गया है। इस प्रकार उवट के अनुसार अपने पूर्ववर्ण के सहित 'यम' पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है। उदाहरणार्थ—'रुक्क्ँमम्' पद में ककार, यम और मकार का संयोग है। इसमें ककार और यम पूर्ववर्ती स्वर उकार के अङ्ग हैं तथा मकार उत्तरवर्ती स्वर अकार का अङ्ग है।[3] तै० प्रा० २१।८ में विधान किया

---

१. यम के विषय में विस्तृत विवरण अगले अध्याय में देखें

२. यमश्च।—वा० प्रा० १।१०३

३. यमाः पूर्वस्याङ्गं भवति च शब्दात् पूर्ववर्णसहितः। यथा रुक्क्ँमम् ककार-यममकाराः संयोगः। तत्र ककारयमौ पूर्वस्य मकार उत्तरस्य।—वा० प्रा० १।१०३ पर उवट

गया है कि नासिक्य ध्वनियाँ अपने परवर्ती स्वर का अङ्ग होती हैं[1]। इस सूत्र के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने नासिक्य का अर्थ 'यम' किया है और यह स्पष्ट रूपेण कहा है कि 'यम' परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[2] इस प्रकार वा० प्रा० एवं तै० प्रा० दोनों प्रातिशाख्यों में परस्पर विरोधी मत प्रतिपादित किये गये हैं। अब विचारणीय तथ्य यह है, कि उपर्युक्त दोनों प्रातिशाख्यों में से किसका मत अधिक समीचीन है? जब 'यम' ध्वनि सदैव दो व्यञ्जनों के मध्य आती है तथा उसका झुकाव अपने अनुवर्ती वर्ण अनुनासिक स्पर्श की ओर ही होता है, तो वह ध्वनि अनुनासिक स्पर्श के साथ ही मिलकर अक्षर के निर्माण में सहायक होगी। अनुनासिक स्पर्श निश्चय ही अपने अनुवर्ती स्वर के साथ मिलकर उसी का अङ्ग बनता है। इसलिए यम को भी उसी अनुवर्ती स्वर का अङ्ग होना ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समीचीन है। परन्तु वा० प्रा० का मत भी इस दृष्टि से मान्य है, कि यम ध्वनि का प्रादुर्भाव द्वित्व के परिणाम-स्वरूप होता है, और जैसा कि पहले कहा जा चुका है—द्वित्व व्यञ्जनों के दोनों तत्वों को पृथक्-पृथक् रूप में विभाजित करना कठिन है। अतः वे दोनों ही अपने पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होंगे। भाषा के प्रवाह को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के लक्षण विद्यमान थे। संस्कृत-भाषा में पश्चगामी समीकरण का प्राधान्य था। जिसके प्रभाव से आगामी नासिक्य-व्यञ्जन के उच्चारण के लिए नासाविवर की विवृत्ति पूर्ववर्ती स्पर्श के स्फोटनकाल में ही प्रारम्भ हो जाती थी। उदाहरणार्थ पालि भाषा में 'रुक्मवती' के लिये 'रुम्मवती' रूप मिलता है, जिसमें स्पर्श-वर्ग अनुनासिक में परिवर्तित हो गया है। इस आधार पर यम को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग नहीं कहा जा सकता। यहाँ पर यम को परवर्ती स्वर का अङ्ग स्वीकार किया जाना चाहिए। दूसरी बात यह भी है, कि उपर्युक्त स्थिति में नासिक्य-व्यञ्जन के साथ होने वाले समीकरण के प्रभाव से नासाविवर की विवृत्ति थोड़ा पहले ही प्रारम्भ हो जाती थी। अतः यम को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग कहा जा सकता है। पालि भाषा में परस्पर विपरीत प्रवृत्तियों का होना भी इस तथ्य को बल प्रदान करता है, कि उस युग में दोनों ही नियम प्रचलित थे।

अनुस्वार का अङ्गत्व

तै० प्रा० २१।६ एवं ऋ० प्रा० १।२४ के अनुसार अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, इस प्रकार 'वसुं सूनुं' में दोनों अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती

---

१. नासिक्याः।—तै० प्रा० २१।८

२. नासिक्या यमाः परस्वरं भजन्ते यथा रुक्मँमम्।—तै० प्रा० २१।८ पर त्रिभाष्यरत्न

स्वर उकार के ही अङ्ग होंगे।[1] अनुस्वार का अङ्गत्व उसकी प्रकृति पर आधारित है। अनुस्वार के स्वरूप के विषय में प्राचीनाचार्यों में परस्पर वैमत्य पाया जाता है। कतिपय आचार्य अनुस्वार को स्वर की अनुनासिकता मानते हैं, कतिपय आचार्य अनुस्वार को शुद्ध व्यञ्जन मानते हैं एवं कतिपय ऐसे भी आचार्य हैं, जिनके मत से अनुस्वार स्वर भी है एवं व्यञ्जन भी है। अर्थात् इनके मत से अनुस्वार स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त परन्तु दोनों से भिन्न एक तीसरी श्रेणी की ध्वनि है। यदि अनुस्वार को केवल स्वर की अनुनासिकता माना जाय, तो वह उसी स्वर का अङ्ग होगा, जिसकी अनुनासिकता के परिणाम-स्वरूप वह स्थित है। यदि अनुस्वार को व्यञ्जन माना जाय तब, उसके विषय में यह संदेह होना स्वाभाविक है, कि वह पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होगा अथवा परवर्ती स्वर का अङ्ग होगा। यदि अनुस्वार को स्वर एवं व्यञ्जन का मिश्रित रूप माना जाय, जैसा कि ऋ० प्रा० मानता है, तो इस स्थिति में यदि उसका व्यञ्जनांश स्वरान्तवर्ती होगा, तब उसे दो स्वरों के बीच विभक्त किया जा सकता है तथा यदि उसे पर्याप्त सावधानी से उच्चरित किया जा सकता है एवं साथ ही साथ उसके बाद वाला स्वर प्रबल बलाघातयुक्त उच्चरित होता है, तभी अनुस्वार बाद वाले स्वर का अङ्ग हो सकता है। यदि इसके बाद कोई व्यञ्जन आ रहा हो तथा पर्याप्त सावधानी से उच्चरित भी हो रहा हो तब अनुस्वार स्वतन्त्र अक्षर भी बन सकता है। सर्वसम्मत-शिक्षा ५२ में यह दिखलाया गया है, कि काठक शाखा में 'वासांसि' शब्द का अनुस्वार पृथक् रूप से अक्षर का निर्माण करता है। काठक-शाखा में 'वास' शब्द से सम्बन्धित अनुस्वार स्वतंत्र अनुदात्तस्वरभागी अक्षर बनता है।[2] सर्वसम्मत शिक्षा की इस कारिका की व्याख्या में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'वास' शब्द का अनुस्वार काठक शाखा में पृथक् ही होता है, पूर्व अक्षर का अंश नहीं होता है।[3]

विचारणीय तथ्य यह है कि ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० दोनों ग्रन्थों में अनुस्वार को पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग क्यों स्वीकार किया गया है। जहाँ तक तै०

---

१. अनुस्वार स्वरभक्तिश्च।—तै० प्रा० २१।६, पूर्वस्यानुस्वारविसर्जनीयौ। —ऋ० प्रा० १।२४

२. वासश्शब्दानुस्वारः काठके नीच इष्यते।—सर्वसम्मत शिक्षा ५२

३. वासः शब्दात् प्रतीयमानोऽनुस्वारः काठके पृथक् एव न पूर्वांशमित्यर्थः। —सर्वसम्मत शिक्षा ५२ पर व्याख्या

प्रा० की बात है, वह तो अनुस्वार को व्यञ्जन मानता है, जैसा कि वैदिकाभरण भाष्य में स्पष्ट भी किया गया है। 'वैदिकाभरण' अनुस्वार को अर्द्धगकारसदृश मानता है। ऋ० प्रा० भी अनुस्वार की गणना आठ ऊष्म व्यञ्जनों में करता है। परन्तु इस विवेचन से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अनुस्वार पूर्ववर्ती स्वर का हो अङ्ग होगा।

अनुस्वार के पूर्ववर्ती स्वर के अङ्गत्व के प्रसङ्ग में मेरा अपना विचार है कि अनुस्वार को अधिकांश ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में व्यञ्जनात्मक ध्वनि माना गया है, और यह व्यञ्जन अपने उच्चारण का अधिक श्रेय नासिका को देता है। बिना नासिका-विवर की सक्रियता से अनुस्वार का उच्चारण होना असम्भव है। परवर्ती कतिपय ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में इसे स्वरों की अनुनासिकता ही माना गया है। च० अ० में तो एक भी स्थल पर अनुस्वार शब्द का प्रयोग तक नहीं किया गया है। अतः इन ग्रन्थों के अनुसार अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर पर ही आश्रित भी रहता हैं। दूसरी बात यह भी है, कि अनुस्वार के उच्चारणकाल के सम्बन्ध में उसके पूर्ववर्ती स्वर की मात्रा के फलस्वरूप अनुस्वार की मात्रा भी घटती-बढ़ती रहती है। यदि अनुस्वार के पूर्वस्थित स्वर दीर्घ है, तो अनुस्वार की मात्रा ह्रस्व होती है तथा यदि उसके पूर्वस्थित स्वर ह्रस्व है, तो अनुस्वार की मात्रा दीर्घ होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अनुस्वार का अधिक झुकाव पूर्ववर्ती स्वर की ओर ही होता है, तभी तो उसके अनुसार अनुस्वार की मात्रा भी घट-बढ़ जाती है। पा० शि० ५ पर पञ्जिकाभाष्य में यह कहा गया है कि अनुस्वार वह ध्वनि है, जिसका उच्चारण किसी स्वर के बाद ही होता है।[1] इसी प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है कि अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर के बिना स्थित नहीं हो सकता। इसलिए इसे पराश्रित-ध्वनि (Dependent Sound) भी कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है, कि सभी परि-स्थितियों में अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है तथा उसी के स्वराघात से सस्वर भी होता है।

स्वरभक्ति का अङ्गत्व

स्वरभक्ति के अङ्गत्व के विषय में ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० दोनों के मत समान हैं। इन दोनों ही प्रातिशाख्यों में स्वरभक्ति को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग

---

१. स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः।—पाणिनि शिक्षा ५ पर प्रञ्जिका वृत्ति

बतलाया गया है[१]। ऋ० प्रा० १।३२ के भाष्य में उवट ने स्पष्ट कहा है कि स्वरभक्ति पूर्ववर्ती रेफ या लकार से सम्बद्ध होती है। रेफ के बाद होने वाली स्वरभक्ति रेफ के सदृश होती है एवं लकार के बाद होने वाली स्वरभक्ति लकार के सदृश होती है। रेफ अथवा लकार जिस किसी भी व्यञ्जन के बाद स्वरभक्ति होती है उसके सहित पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होती है।[२] इस प्रसङ्ग में स्वरभक्ति के स्वरूप के विषय में भी थोड़ा विचार करना श्रेयस्कर होगा। प्रातिशाख्यों के अनुशीलन से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि जब किसी व्यञ्जन-संयोग में रेफ या लकार के बाद कोई ऊष्म वर्ण आता है तो रेफ या लकार तथा ऊष्म-वर्ण के मध्य एक पूर्ववर्ण-सदृश अतिह्रस्व ध्वनि का आगम हो जाता है। यही ध्वनि 'स्वरभक्ति' कहलाती है। प्रातिशाख्यों का उपर्युक्त विधान इस दृष्टि से अधिक संगत है कि स्वरभक्ति का सम्बन्ध उसके पूर्ववर्ती व्यञ्जन रेफ और लकार से ही होता है। अतः वह भी उसी स्वर का अङ्ग बनेगी, जिसका अङ्ग पूर्ववर्ती व्यञ्जन होगा। इस प्रसंग में यह भी कहा जा सकता है, कि स्वरभक्ति के आविर्भाव में भी मूलतः द्वित्व की प्रवृत्ति कार्य करते हुए प्रतीत होती है। व्यञ्जन-संयोग में रेफ या लकार के पश्चात् किसी भी ऊष्मवर्ण का उच्चारण करने पर ऊष्म-व्यञ्जन के उच्चारण में कठिनाई होती है। जिसे दूर करने के लिए रेफ या लकार का द्वित्व हो जाता है। परन्तु द्वित्वरूप में उच्चरित ध्वनि से स्वरभक्तिरूप में उच्चरित ध्वनि किञ्चित् कमजोर होती है। अतः जब द्वित्वीकृत व्यञ्जनों में दोनों को पृथक्-रूप में उच्चरित करना कठिन है, तो स्वरभक्तिरूप में निष्पन्न व्यञ्जन को भी पूर्ववर्ती वर्ण से अलग करके उच्चरित करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार यह निश्चित है कि स्वरभक्ति भी अपने पूर्व वर्ण के सहित पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग होगी।

कतिपय शिक्षाग्रन्थों में स्वरभक्ति के अक्षर-विभाजन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं। तै० प्रा० २१।१५ पर वैदिकाभरण में किसी शिक्षा से एक कारिका को उद्धृत किया गया है। जिसमें यह बतलाया गया है

---

१. स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम्।—ऋ० प्रा० १।३२, अनुस्वारस्वरभक्तिश्च। —तै० प्रा० २१।६

२. सा स्वरभक्तिः पूर्वरेफं लकारं वा भजते। रेफादुत्तरा रेफसदृशी भवति लकारादुत्तरा लकारसदृशी भवति, स्वराङ्गं च भवति, रेफाद्वा लकाराद्वा यस्माद्व्यञ्जनादुत्तरा भवति तत्सहिता सा पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं भवतीत्यर्थः। —ऋ० प्रा० १।३२ पर उवट

कि स्वरित से बाद में स्थित स्वरभक्ति स्वतंत्र अक्षर का निर्माण करती है।[१] इस प्रकार 'यद् दर्शपूर्णमासौ' (तै० सं० १,६,७) एवं 'एता दशर्षभामालमन्त' (तै० सं० २,१,४) में स्वरभक्ति स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करती है। 'पारि-शिक्षा' की टीका 'यजुण्भूषण' के अनुसार स्वरित-आघात के बाद ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों ही स्वरों के साथ स्वर-भक्ति एक स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करती है।[२] 'आरण्य-शिक्षा' १।१८ में विधान किया गया है कि स्वरित-आघात वाले ह्रस्व स्वर के बाद आने वाली स्वरभक्ति स्वर से भिन्न नहीं होती। इसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती अक्षर के साथ नहीं होता था।[३] इसलिये कुछ स्थलों पर स्वरभक्ति एक स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करने में समर्थ हो जाती है।

स्वरित के बाद उच्चरित होने वाली स्वरभक्ति के स्वतन्त्र अक्षर-निर्माण करने के तथ्य की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है, कि स्वरित के पश्चात् आने वाला 'अनुदात्त स्वर' 'प्रचय' में परिणत हो जाता है। 'अनुदात्त स्वर' स्वतः ह्रासोन्मुख होता है, जबकि 'प्रचय स्वर' न तो ह्रासोन्मुख ही होता है और न ही वर्धमाण होता है। उसकी स्थिति उच्चारण तक समान रहती है। इसीलिए प्रचय को 'धृत' (स्थिर) कहा गया है।[४] तै० प्रा० १।३७ के वैदिकाभरण-भाष्य में यह भी कहा गया है कि स्वरित के बाद आने वाले व्यञ्जनों की मात्रा बढ़ जाती है।[५] इस तथ्य की पुष्टि इसी से हो जाती है, कि स्वरित के बाद वाला स्वर अनुदान से प्रचय में परिवर्तित हो जाता है। प्रचय अनुदात्त की अपेक्षा अधिक दीर्घ

---

१. स्वरात् परा स्वरभक्तिः स्वरप्रधाना प्रकीर्तिता। ऋतस्य धूर्षदं चेति स्वतन्त्रा भक्तिरिष्यते।—तै० प्रा० २१।१५ पर वै०

२. 'दीर्घाच्च ह्रस्वात् स्वरितादनन्त्यात् पृथग्भवेत् भक्तिरसांहिताच'।—पारि शि० १२९-३० पर यजुष्भूषण

३. ह्रस्वस्वरात् स्वराभिन्ना इत्यादि लक्षणप्राप्तस्वरभक्तीनां पूर्वभावत्वं निषिध्य कुत्रचित् पृथक्त्वं विधत्ते।—आरण्य-शिक्षा १।१८

४. धृत प्रचयः।—तै० प्रा० १८।३

५. स्वरितग्राहीणां व्यञ्जनानां कालाधिक्यमुक्तं शिक्षायाम्। स्वराः कम्पाश्च रङ्गाश्च ये यत्काला स्वभावतः। वर्धन्ते प्रोच्यमानास्ते क्षिप्रयत्नेऽपि वक्तरि। यत्र स्वरितानां कालवृद्धिवचनं तद्ग्राहि व्यञ्जनार्थमेव······तदनुदात्तसमत्वं केषुचित् स्वरितस्वरेषु न भवन्ति किन्तु तदङ्गभूतेषु व्यञ्जनेष्वेव तानि स्वरितग्राहिणीत्युच्यन्ते। तेषां कालाधिक्यं विनोच्चारणं न घटते।—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

होता है। वैदिकाभरण के अनुसार स्वरित का प्रारम्भ तो उदात्त के समान होता है किन्तु परवर्ती अंश 'अनुदात्त' कभी स्वरों में नहीं होता, वह केवल उन व्यञ्जनों में होता है, जो उस स्वर से सम्पृक्त होते हैं। इसीलिए इन व्यञ्जनों को 'स्वरितग्राही व्यञ्जन' कहा जाता है। इस प्रकार 'स्वरितग्राही व्यञ्जन' के उच्चारण में अधिक समय का लगना स्वाभाविक है। इसी प्रकार स्वरित के बाद आने वाली स्वर-भक्ति भी अपेक्षाकृत दीर्घतर कालावधि से उच्चरित होने के कारण स्वतन्त्र अक्षर का निर्माण करने में समर्थ हो जाती है।

विसर्जनीय का अङ्गत्व

विसर्जनीय के अङ्गत्व के सम्बन्ध में ऋ० प्रा० के अतिरिक्त अन्य किसी भी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ में कोई भी विधान नहीं प्राप्त होता। ऋ० प्रा० १।२४ में विसर्जनीय को पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग स्वीकार किया गया है।[1] तै० प्रा० २।४८ पर विचार करने से भी विसर्जनीय के अङ्गत्व के विषय में कतिपय तथ्यों का उद्घाटन होता है। इस सूत्र में कहा गया है, कि विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती-स्वर के उच्चारण-स्थान से हो जाता है।[2] प्रस्तुत विधान के अनुसार यह स्पष्ट होता है, कि विसर्जनीय के उच्चारण में उसका झुकाव पूर्ववर्ती स्वर की ओर ही होता है। जब पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण के लिए करणव्यापार का प्रारम्भ होता है, तभी विसर्जनीय के उच्चारण के लिए दूसरा प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। परिणामतः स्वर का पूर्ण उच्चारण हुए बिना ही विसर्जनीय का उच्चारण होने लगता है। इसीलिए विसर्जनीय का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर + अर्द्ध हकार के रूप में हो जाता है। यथा—'रामः' पद के विसर्जनीय का उच्चारण अकार तथा हकार के मिश्रित रूप 'अह्' के सदृश होता है। इसी प्रकार अन्य स्वरों के बाद उच्चरित होने वाले विसर्जनीय के विषय में भी समझना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहना युक्तियुक्त है कि विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती स्वर के स्वराघात को प्राप्त करता है।

जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का अङ्गत्व—जिह्वामूलीय तथा उपध्मनीय ध्वनियाँ विसर्जनीय की विकृत ध्वनियाँ हैं। अतः इनके अङ्गत्व के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उचित होगा। यद्यपि किसी प्रातिशाख्य-ग्रन्थ में इन वर्णों के

---

१. पूर्वस्यानुस्वार विसर्जनीयौ।—ऋ० प्रा० १।२४

२. पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः।—तै० प्रा० २।४८

अङ्गत्व के सम्बन्ध में अलग से विधान नहीं प्राप्त होता, परन्तु केवल इतना ही कह देना कि ये तो विसर्जनीय के समान ही अपने पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होंगे, इनके साथ अन्याय होगा। यदि ऐसी ही बात होती, तब इन ध्वनियों का पृथक् नामकरण तथा पृथक् उच्चारण-विधान का कोई औचित्य नहीं था।

वास्तव में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों की उत्पत्ति तभी होती है, जब विसर्जनीय ध्वनि का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के स्थान से न होकर क्रमशः 'जिह्वामूल' तथा 'ओष्ठ' स्थान से हो जाता है। इसलिए निश्चित ही ये दोनों ध्वनियाँ विसर्जनीय की भाँति पूर्ववर्ती स्वर के स्वराघात को नहीं ग्रहण करतीं।

इस प्रकार इनको परवर्ती स्वर का अङ्ग कहना अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

● ●

चतुर्थ अध्याय

संयोग-विषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य

जब दो या दो से अधिक व्यञ्जनों को संयुक्त रूप में उच्चरित किया जाता है, तब उनके उच्चारण में कभी-कभी कुछ विशिष्टतायें आ जाती हैं। ये विशिष्टतायें कई प्रकार की होती हैं—कभी उच्चार्यमाण दोनों व्यञ्जनों के मध्य में किसी अतिरिक्त ध्वनि का आगम हो जाता है तथा कभी उन दोनों में से एक के उच्चारण में कुछ विकार आ जाता है। संयुक्त वर्णों के उच्चारण में होने वाली विशेषताओं के विवेचन के पूर्व संयोग के स्वरूप के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है। संयोग के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही उनके उच्चारण में होने वाली विशेषताओं को सरलता पूर्वक समझा जा सकता है। प्रातिशाख्यों के अनुसार संयोग के स्वरूप के विषय में यहाँ विस्तृत विचार किया जा रहा है।

संयोग

संयोग शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक मेल अर्थ वाली 'युज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर बना है। इसका अर्थ है—भलीभाँति मिला हुआ। 'सेन्ट पीटर्स वर्ग कोश' में इसका अर्थ (Yoked together तथा Conjoined) दिया गया है, जिसका अनुवाद 'एक साथ रखा हुआ' एवं 'मिला हुआ' किया जाता है। प्रस्तुत स्थल पर संयोग का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ—'स्वरों के व्यवधान से रहित व्यञ्जनों के मेल' के लिए किया गया है।

ऋ० प्रा० १।३७ तथा १८।४० में क्रमशः व्यञ्जनसन्निपात एवं व्यञ्जनसंगम को संयोग कहा गया है।[1] सन्निपात एवं संगम शब्द का अर्थ 'मेल' है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋ० प्रा० में व्यञ्जनों के मेल के लिए ही 'संयोग' शब्द का प्रयोग किया

---

१. संयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपातः।—ऋ० प्रा० १।३७, 'संयोगं' विद्याद्व्यञ्जन-संगमम्।—ऋ० प्रा० १८।४०

गया है। ऋ० प्रा० १।३७ के भाष्य में उवट ने 'प्र प्रवस्त्रिदुर्भमिषम्' मन्त्रांश को संयोग के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। इसमें पकार के साथ रेफ का मेल होने से 'प्र' संयोग कहलाता है तथा सकार, तकार एवं रेफ का मेल होने से 'स्त्रि' संयोग कहलाता है। तै० प्रा० में सूत्रकार ने संयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विधान नहीं किया है, परन्तु तै० प्रा० २१।४ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने कहा है कि दो अथवा बहुत व्यञ्जनों का (संघात, समूह) संयोग होता है।[1] इसी सूत्र पर वैदिकाभरणकार ने स्पष्टतः व्यञ्जनसंघात को ही संयोग कहा है।[2] वा० प्रा० १।४८ में स्वर के द्वारा अव्यवहित व्यञ्जनों को संयोग कहा गया है।[3] इस सूत्र का अनुवाद दो प्रकार से किया जाता है—१—स्वर के व्यवधान से रहित व्यञ्जन संयोग कहलाते हैं, तथा २—व्यवधान-रहित व्यञ्जनवर्णों का मेल संयोग कहलाता है। इस सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि अव्यवहित-व्यञ्जन, व्यञ्जन के साथ संयोग संज्ञक होता है। यथा—'पक्क्वम्' यहाँ पर दो ककार एवं वकार संयोग (संयुक्त वर्ण) है।[4] उवट के इस कथन से ज्ञात होता है, कि जब कोई भी व्यञ्जन किसी व्यञ्जन के साथ संयुक्त होता है, तभी उसकी संयोग संज्ञा होती है। अकेले व्यञ्जन की संयोग संज्ञा कभी नहीं होती। इस प्रकार भी यह स्पष्ट है कि व्यञ्जनों के मेल की ही संयोग संज्ञा होती है। च० अ० १।९८ के अनुसार स्वरों के द्वारा अव्यवहित व्यञ्जन 'संयोग' कहलाते हैं।[5] तात्पर्य यह है कि जब दो या दो से अधिक व्यञ्जनों को एक ही साथ इस प्रकार से उच्चरित करते हैं कि उनके मध्य किसी भी स्वर का व्यवधान नहीं होता, तो वे सभी मिलकर संयोग कहलाते हैं और उनमें उच्चरित होने वाला प्रत्येक वर्ण संयुक्त व्यञ्जन कहलाता है। ऋ० तं० २७ में भी व्यञ्जनों के मेल को ही संयोग कहा गया है।[6] पा० सू० १।१।७ में कहा गया है कि स्वरों के व्यवधान से रहित व्यञ्जन संयोग कहलाते हैं।[7] इसी सूत्र पर काशिकावृत्ति में स्पष्टतः कहा गया है कि दो या दो

---

१. द्वयोर्बहूनां वा संयोगो भवति।—तै० प्रा० २१।४ पर त्रिभाष्यरत्न

२. संयोगो व्यञ्जनसंघात।—तै० प्रा० २१।४ पर वैदिकाभरण

३. अनन्तरं संयोगः।—वा० प्रा० १।४८

४. अनन्तरं अव्यवहितं व्यञ्जनं व्यञ्जनेन सह संयोगसंज्ञं भवति। तद्यथा पक्क्वम्—कितिकितिविति।—वा० प्रा० १।४८ पर उवट

५. व्यञ्जनानि अव्यवेतानि स्वरैः संयोगः।—चतुरध्यायिका १।९८

६. सयुक् सण्।—ऋ० तं० २७

७. हलोऽनन्तरा संयोग।—पा० सू० १।१।७

से अधिक व्यञ्जन एक साथ इस प्रकार से मिलते हों कि उनके मध्य किसी स्वर का व्यवधान न हो, तो उन व्यञ्जनों के 'समूह' की संयोग संज्ञा होती है।[1]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब दो या दो से अधिक व्यञ्जन एक साथ इस रूप में संयुक्त हों, कि उनके मध्य किसी स्वर-वर्ण का व्यवधान न हो, तो इस प्रकार के व्यञ्जनों को संयोग कहा जाता है। ध्यातव्य है कि उनमें संयुक्त होने वाला प्रत्येक वर्ण को संयोग नहीं कहा जा सकता। संयुक्त होने वाले व्यञ्जनों के समुदाय को संयोग कहा जाता है। इस समुदाय के आदि वर्ण को संयोगादि एवं अन्तिम वर्ण को संयोगान्त कहा जाता है। इसी प्रकार संयुक्त होने वाला प्रत्येक वर्ण 'संयुक्त' वर्ण कहलाता है।

शिक्षा-ग्रन्थों—या० शि० एवं 'वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा' में संयोग के लिए 'पिण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इस 'पिण्ड' को निम्नलिखित सात प्रकार का बतलाया गया है[2]—

अ—अयः-पिण्ड—जब किसी व्यञ्जन-संयोग में पूर्ववर्ती वर्ण किसी भी वर्ण का प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ स्पर्श में से कोई वर्ण हो तथा द्वितीय वर्ण किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो, तो इस प्रकार के संयोग को 'अयः' पिण्ड के तुल्य कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार लोहे के पिण्ड को सरलता पूर्वक नहीं तोड़ा जा सकता, उसी प्रकार इस व्यञ्जनसंयोग को सरलता से अलग-अलग करके उच्चरित नहीं किया जा सकता। वर्णरत्न-प्रदीपिका शिक्षा में इस संयोग को 'घनबन्धा' अर्थात् अत्यन्त मजबूती से मिला हुआ कहा गया है।[3]

आ—दारु-पिण्ड— जिस व्यञ्जनसंयोग में पूर्व वर्ण अपञ्चम स्पर्श हो, तथा परवर्ती वर्ण कोई अन्तस्थ हो, उसे दारुपिण्ड के समान कहा गया है। इस प्रकार के संयोग को 'श्लथबन्द' अर्थात् ढीला बन्धन वाला संयोग कहा गया है।[4] इस

---

१. द्रष्टव्य—पा० सू० १।१।७ पर काशिका

२. अथ सप्तविधाः संयोगपिण्डाः 'अयः पिण्डो' 'दारुपिण्ड' 'ऊर्णापिण्डो' 'ज्वाला-पिण्डो' 'मृत्पिण्डो' 'वायुपिण्डो' 'व्रजपिण्डश्चेति'।—या० शि०

३. स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारो ये यमाः स्मृताः। अयस्पिण्डेन ते तुल्याः घनबन्धाः प्रकीर्तिताः।—वर्णरत्न-प्रदीप शिक्षा १७६

४. स्पर्शः पञ्चमा ये च अन्तस्थाभिश्च संयुताः। दारुपिण्डेन ते तुल्याः श्लथ-बन्धाः प्रकीर्तिताः।—वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा १७७

संयोग को सरलता पूर्वक तोड़ा जा सकता है। अर्थात् स्पर्श तथा अन्तस्था वर्ण के संयोग में दोनों वर्णों का पृथक्-पृथक् उच्चारण सरलता से किया जा सकता है। 'वल्क्य:' पद में ककार और यकार के संयोग को 'दारुपिण्ड' कहा गया है, क्योंकि इसमें ककार को यकार से सरलता पूर्वक अलग करके उच्चरित किया जा सकता है।

इ—ज्वाला-पिण्ड—नासिक्य वर्ण से युक्त संयोग को 'ज्वालापिण्ड' के समान कहा गया है।[1] इस प्रकार के संयोग में संयुक्त होने वाला पूर्ववर्ती वर्ण स्पर्श-वर्ण नहीं होता। इसे ज्वाला-पिण्ड कहने का कारण सम्भवतः यह हो सकता है, कि जिस प्रकार अग्नि एक वस्तु से दूसरी वस्तु में अतिशीघ्र व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस संयोग में नासिक्य ध्वनि की नासिक्यता समीपवर्ती वर्ण में तीव्रता से व्याप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—'ब्रह्मन्' शब्द में नासिक्य ध्वनि मकार के प्रभाव से हकार ध्वनि भी अनुनासिकता को प्राप्त हो जाती है।

ई—ऊर्ण-पिण्ड—हकारेतर संघर्षी ध्वनि के साथ नासिक्य ध्वनि का संयोग ऊर्णपिण्ड के समान होता है। इस प्रकार के संयोग को ऊर्णपिण्ड की भाँति इसलिये कहा गया है, कि जिस प्रकार ऊन के गोले में ऊन के प्रत्येक तागे एक दूसरे से पृथक् रहते हैं, उनमें एक के प्रभाव से दूसरे तागे में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। उसी प्रकार इस संयोग में संघर्षी ध्वनि नासिक्य ध्वनि से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती। इस संयोग में संयुक्त होने वाले वर्णों को सरलतापूर्वक पृथक्-पृथक् करके उच्चरित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—'अश्मन्' पद में होने वाला संयोग ऊर्णपिण्ड के समान होता है।

उ—मृत्पिण्ड—जिस संयोग में अनुस्वार हो, वह मृत्पिण्ड के समान कहा जाता है। जैसे—'यामेरयं चन्द्रमसि' पद में 'मृत्पिण्ड' संयोग है।

ऊ—वायुपिण्ड—उपध्मानीय ध्वनि के साथ होने वाले संयोग को वायुपिण्ड के समान कहा गया है, जैसे—'द्यौ ⌒ पिता' तथा पद में वायुपिण्ड संयोग है।

---

१. ज्वालापिण्डान्सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृण्मयान्।
सोपध्मान् वायुपिण्डान् जिह्वामूले तु वज्रिण: ।।—या० शि० ९३
यमान् विद्यादय: पिण्डान् सान्तस्थान् दारुपिण्डवत्।
अन्तस्थयमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत् ।।—या० शि० ९१

ए— वज्रपिण्ड— जिह्वामूलीय ध्वनि के साथ होने वाले संयोग को वज्रपिण्ड की भाँति कहा गया है, जैसे—'या ⌣ कामयेत्' पद में वज्रपिण्ड संज्ञक संयोग होता है।

उपर्युक्त सात प्रकार के संयोगों में अन्तिम तीन प्रकार के संयोग अतिशिथिल होते हैं। इन संयोगों में पूर्ववर्ती ध्वनि अपने परवर्ती ध्वनि से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती हैं। मृत्पिण्ड के समान होने वाले व्यञ्जन-संयोग, जिसमें अनुस्वार होता था, अन्य संयोगों की अपेक्षा कुछ कम शिथिल होता था। क्योंकि अनुस्वार भी नासिक्य ध्वनि होने के कारण अपने समीपवर्ती ध्वनि को कुछ प्रभावित कर सकता है। जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का ठीक-ठीक उच्चारण ज्ञात न होने से इनसे संयुक्त व्यञ्जन-संयोगों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं हो सकता। संयोग के विषय में विवेचन करने के पश्चात् क्रमशः 'संयोग विषयक उच्चारण-वैशिष्ट्यों' के विषय में विशद् विचार किया जा रहा है। प्रातिशाख्यों में संयोग-विषयक उच्चारण-वैशिष्ट्यों में सर्वप्रथम 'अभिनिधान' का विधान प्राप्त होता है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भी सर्वप्रथम अभिनिधान का विवेचन किया जायेगा।

'अभिनिधान' का प्रधान क्षेत्र—स्पर्श-वर्णों का संयोग है। अतः अभिनिधान को समझने के लिए स्पर्श-वर्णों के संयोग की उच्चारण-प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक होगा। इसलिए सर्वप्रथम स्पर्श-वर्णों के संयुक्तोच्चारण का विवेचन किया जा रहा है—

स्पर्श-वर्ण का उच्चारण करते समय करण द्वारा उच्चारण-स्थान का पूर्ण रूप में स्पर्श किया जाता है। फलस्वरूप फेफड़े से आई हुई वायु प्रथमतः मुखविवर से बाहर नहीं निकल पाती। जब करण (सक्रिय उच्चारणाङ्ग) स्थान (निष्क्रिय उच्चारणाङ्ग) से अलग होता है, तभी वायु मुखविवर से बाहर निकलती है और ध्वनि भी सुनाई पड़ जाती है। जब तक उच्चारणावयवों का पारस्परिक स्पर्श बना रहता है, तब तक ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। ज्योंही उच्चारणावयवों का स्पर्श समाप्त होता है, ध्वनि सुनाई पड़ जाती है। इस स्थिति का विश्लेषण करने पर स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में तीन स्थितियाँ दिखलाई पड़ती हैं—(१) फेफड़े से उच्चारण-स्थान पर वायु का आगमन, (२) करण द्वारा वायु का अवरोध और (३) उच्चारणाङ्गों के परस्पर पृथक् होने से वायु का स्फोटन या उन्मोचन। परन्तु स्पर्श-वर्णों के उच्चारण की प्रत्येक स्थिति में उपर्युक्त तीनों अवस्थायें नहीं पाई जातीं। वायु को स्फोटन के लिए विशेष परिस्थितियों का होना अनिवार्य है। जब किसी स्पर्श-वर्ण के बाद कोई स्पर्श-ध्वनि आती है, तो इस प्रकार के

संयुक्त स्पर्शों में प्रथम-स्पर्श के उच्चारण में वायु का स्फोटन नही हो पाता। इस स्थिति में स्फोटन या उन्मोचन के पूर्व ही उच्चारणावयवों को दूसरे स्पर्श के उच्चारण के लिए तैयार होना पड़ता है, जिससे प्रथम स्पर्श के उच्चारण में वायु का स्फोटन न हो सकने के कारण उच्चार्यमाण ध्वनि का श्रवण भी उचित रूप में नहीं होता। परन्तु जब स्पर्श-वर्ण के बाद कोई स्वर-ध्वनि होगी या कोई ऐसी ध्वनि होगी, जिसके उच्चारण में वायु का पूर्णतः अवरोध नहीं हो पाता, तो स्पर्श-ध्वनि के उच्चारण में वायु का स्फोटन हो जाता है। परिणामतः स्पर्श-ध्वनि पूर्णरूप में सुनाई पड़ जाती है। उच्चारणावयवों के पारस्परिक स्पर्श के पश्चात् जब किसी अस्पृष्ट ध्वनि के उच्चारण के लिये उच्चारणावयवों का पृथक्करण होता है, तब वायु को स्फोटित होने का अवसर प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप वायु बाहर निकल जाती है और ध्वनि उच्चरित हो जाती है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी ध्वनित होता है, कि जब स्पर्श-ध्वनि के बाद स्पर्श के अतिरिक्त अन्य कोई भी ध्वनि उच्चरित होगी, तो स्पर्श का उच्चारण स्फोटन युक्त होगा।

वास्तव में जब स्पर्श-वर्ण के पश्चात् किसी स्पर्श-वर्ण का उच्चारण होता है, तब पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिये उच्चारणावयवों का एक बार स्पर्श हो जाता है तथा प्रथम-स्पर्श को समाप्त हुए बिना ही द्वितीय स्पर्श-वर्ण के उच्चारण के लिये उच्चारणाङ्गों की चेष्टा प्रारम्भ हो जाती है। परिणामस्वरूप एक बार का किया हुआ स्पर्श ही परिस्थितिवशात् स्थान-परिवर्तन करके अपने दीर्घ-रूप को बनाये रहता है। जिससे अवरुद्ध वायु को स्फोटित होने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता है।

प्रातिशाख्यों में कतिपय अन्तस्थ-वर्णों के अभिनिधान का भी विधान किया गया है। वस्तुतः अन्तस्था-वर्णों का पूर्वांश स्वरात्मक तथा परांश व्यञ्जनात्मक होता है, जैसा कि ऋ० प्रा० १७।२३ में छन्दोगतन्यूनता दूर करने के प्रसङ्ग में स्पष्टतः विधान किया गया है। ऋ० प्रा० के अनुसार छन्द में विहित अक्षरों की संख्या-सम्बन्धी न्यूनता दृष्टिगोचर होने पर अन्तस्था-वर्णों में यकार एवं वकार को तत्सदृश स्वरों से व्यवहित करके पाद की पूर्ति कर लेनी चाहिए।[1] इस प्रकार यकार के स्थान पर 'इय्' तथा वकार के स्थान पर 'उव्' का उच्चारण करने का विधान है। इसलिए अन्तस्था-वर्णों के व्यञ्जनांश के उच्चारण में

---

१. क्षैप्र वर्णाश्च संयोगान्व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः।—ऋ० प्रा० १७।२३

वायु के स्फोटन में किञ्चित् न्यूनता आ जाने से इनका उच्चारण भी पूर्णरूपेण नहीं हो पाता।

अभिनिधान का अर्थ

अभिनिधान शब्द 'अभि तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न हुआ है। इस शब्द का अर्थ है—समीप में रखना। जब संयोग का प्रथम व्यञ्जन अभिनिधान को प्राप्त करता है, तब उसका उच्चारण परवर्ती व्यञ्जन से संयुक्त करके नहीं किया जाता है। उस समय प्रथम व्यञ्जन के बाद में थोड़ा रुककर परवर्ती वर्ण का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार प्रथम व्यञ्जन को परवर्ती व्यञ्जन से मिलाकर उच्चरित न करके, उसे केवल उसके समीप में रख दिया जाता है। अभिनिधान के लिए च० अ० १।४८ में 'आस्थापित' शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[1] जिसका अर्थ भी 'समीप में रखना' ही होता है। ऋ० प्रा० में अभिनिधान से मिलता हुआ एक शब्द 'अभिनिहित' प्राप्त होता है, यह शब्द सन्धियों के प्रसङ्ग में आया है। वहाँ पर इसका अर्थ है—अकार जब किसी पदान्त एकार अथवा ओकार के बाद आता है, तो वह अपना अस्तित्व अपने पूर्ववर्ती स्वर एकार अथवा ओकार को सौंप देता है और उसी के साथ मिलकर एकाकार हो जाता है।[2] वा० प्रा० के भाष्य में उवट ने भी इस प्रकार की पूर्वरूप सन्धियों के प्रसङ्ग में 'अभिनिधान' एवं 'अभिनिधीयते' शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है।[3] उन सभी स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग अकार की पूर्वरूपता के लिए किया गया है। वा० प्रा० ४।६५ के उवटभाष्य में अभिनिधान को स्पष्टतः पूर्वरूपता कहा गया है।[4] पूर्वरूपता के लिए अभिनिधान के प्रयोग का तात्पर्य यही है कि पूर्वरूपता में भी पूर्वरूप को प्राप्त करने वाले वर्ण का उच्चारण स्वतन्त्र रीति से नहीं होता। इसी प्रकार अभिनिधान को प्राप्त करने वाला वर्ण भी अपूर्ण उच्चरित होता है। 'चारायणीय शिक्षा' में अभिनिधान के लिए 'भक्ष्य' या 'भुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका तात्पर्य है कि अभिनिधान को प्राप्त होने वाला वर्ण अपने समीपवर्ती वर्ण द्वारा कुछ अंशों में 'भुक्त'

---

१. आस्थापितं च।—च० अ० १।४८

२. अथाभिनिहितः संधिरेतैः प्राकृतवैकृतैः। एकीभवति पादादिरकारास्तेऽत्र संधिजाः।—ऋ० प्रा० २।३४

३. द्रष्टव्य—वा० प्रा० ४।६६, ८१ पर उवट-भाष्य

४. अभिनिधानं च पूर्वरूपता।—वा० प्रा० ४।६५ पर उवट

हो जाता है अर्थात् अपने उच्चारण का कुछ भाग अपने समीपस्थ व्यञ्जन या विराम को अर्पित कर देता है।

अभिनिधान का स्वरूप

ऋ० प्रा० ६।१७ के तृतीय चरण में तथा च० अ० १।४३ में अभिनिधान के स्वरूप के विषय में विधान प्राप्त होता है।[1] ऋ० प्रा० के अनुसार वर्ण की श्रुति का अवरोध और वर्ण की श्रुति का दबाना अभिनिधान कहलाता है। जिनके लिए क्रमशः संधारण और संवरण शब्दों का प्रयोग किया गया है। अभिनिधान की प्रक्रिया में संयुक्त-व्यञ्जनों में से पूर्ववर्ती व्यञ्जन को परवर्ती व्यञ्जन से कुछ पृथक् करके, तब उसकी ध्वनि को दबाकर उसका अस्पष्ट उच्चारण करते हैं। चतुरध्यायिका में अभिनिधान की परिभाषा करते समय 'व्यञ्जनविधारण' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे भी यही अर्थ स्पष्ट होता है कि संयोग के प्रथम व्यञ्जन के बाद में थोड़ा रुककर द्वितीय व्यञ्जन का उच्चारण किया जाता है। ऋ० प्रा० ६।४७ में 'विच्छेद'[2] शब्द के प्रयोग से भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि अभिनिधान की क्रिया में संयोग में संयुक्त होने वाले दोनों व्यञ्जनों के मध्य किञ्चित् अवरोध हो जाने से उनके संयोग का 'विच्छेद' हो जाता है। च० अ० में अभिनिधान को प्राप्त होने वाली ध्वनि के स्वरूप के लिये 'पीडितः', 'सन्नतरः' तथा 'हीनश्वासनादः' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। च० अ० एवं ऋ० प्रा० दोनों ही ग्रन्थों में अभिनिधान के सम्बन्ध में लगभग समान तथ्य बतलाये गये हैं। ऋ० प्रा० में प्रयुक्त 'संधारण' शब्द च० अ० में प्रयुक्त व्यञ्जनविधारण के अर्थ के समान अर्थ का ही बोध कराता है तथा ऋ० प्रा० में कथित संवरण शब्द से बोधित होने वाली क्रियाओं के अन्तर्गत च० अ० में कथित पीडित सन्नतर एवं हीनश्वासनाद तीनों विशेषताओं का समाहार हो जाता है। संवरण का शाब्दिक अर्थ है—दबाना। इस प्रकार जिसे पीडित किया जाता है, वह दब जाता है। इसके अतिरिक्त जो दुर्बल एवं श्वासनादहीन होता है, वह भी दब जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिनिधान के स्वरूप के विषय में ऋ० प्रा० एवं च० अ० दोनों एकमत हैं तथा यह भी स्पष्ट ही है कि अभिनिधान की क्रिया के लिए दो ही बातें मुख्य

---

१. संधारणं संवरणं श्रुतेश्च।—ऋ० प्रा० ६।१७ का तृतीय चरण, व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नतरो हीनश्वासनादः।—च० अ० १।४३

२. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्चघोषिणः।—ऋ० प्रा० ६।४७

हैं। इन्हीं दोनों क्रियाओं से अभिनिधान का स्वरूप उत्पन्न होता है। ये दोनों क्रियायें है— ध्वनि को परवर्ती ध्वनि से अलग करके अपूर्ण (अस्पष्ट) उच्चरित करना। इससे यह भी स्पष्ट हो गया है कि अभिनिधान संयोग के विपरीत है। अर्थात् जिस व्यञ्जनसमूह में पूर्ववर्ती व्यञ्जन का अभिनिधान होता है, उसका प्रत्येक व्यञ्जन परस्पर मिलकर भी संयोग का निर्माण नहीं कर सकता। संयुक्त व्यञ्जनों के मध्य में किञ्चिदपि व्यवधान नहीं होना चाहिए। एक व्यञ्जन के उच्चारण के तुरन्त बाद दूसरे व्यञ्जन का उच्चारण कर देना चाहिए। इसके विपरीत अभिनिधान तो वहीं होता है, जहाँ पूर्ववर्ती व्यञ्जन को परवर्ती व्यञ्जन से अलग करके उसका अपूर्ण उच्चारण किया जाता है। इस प्रक्रिया में दोनों व्यञ्जनों के मध्य अत्यल्प विराम होने से व्यवधान हो जाता है। कल्पद्रुम के प्रथम अध्याय में अभिनिधान को 'असंयुक्तोच्चारण' कहा गया है।[1] च० अ० १।४३ से ४७ तक पाँच सूत्रों में अभिनिधान सम्बन्धी विधान करने के अनन्तर १।४८ में कहा गया है कि अभिनिधान के स्थलों के अतिरिक्त स्थलों को संयुक्त स्थल जानना चाहिए।[2] अर्थात् अभिनिधान के स्थल संयुक्त नहीं कहे जा सकते। च० अ० १।४३ के भाष्य से भी इसी बात की पुष्टि होती है। च० अ० के उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में अभिनिधान के लिए 'अभिनिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] जबकि ऋ० प्रा० में संयोग के लिए 'सन्निपातः' शब्द का प्रयोग किया गया है। दोनों ही शब्द परस्पर विरुद्ध अर्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार अभिनिपात का अर्थ होगा— 'असंयोग'। इससे भी यही तथ्य पुष्ट होता है—कि अभिनिधान असंयुक्त उच्चारण को ही कहा है। च० अ० १।४८ में अभिनिधान के लिए जो 'आस्थापित' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य है—प्रथम व्यञ्जन को द्वितीय व्यञ्जन के साथ संयुक्त होने से रोकना, क्योंकि आस्थापित का शाब्दिक अर्थ 'रोक' होता है।

वास्तव में अभिनिधान का शाब्दिक अर्थ है—'समीपवर्ती आरोप'। अभिनिधान को प्राप्त होने वाला व्यञ्जन अपने उच्चारण का कुछ भाग अपने समीपवर्ती उच्चार्यमाण व्यञ्जन में आरोपित कर देता है। जिससे वह स्वयं अपूर्ण एवं अस्पष्ट

---

१. अभिनिधानं नाम असंयुक्तोच्चारणं कर्तव्यम्।—डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री द्वारा ऋ० प्रा० तृतीय भाग के पृ० १९० पर उद्धृत

२. अतोऽन्यत्संयुक्तम्।—च० अ० १।४९

३. व्यञ्जनविधारणम् अभिनिपातो मात्रो जपनो भवति।—च० अ० १।४३ पर भाष्य

उच्चरित हो जाता है। अभिनिधान का मुख्य स्थल है—स्पर्शवर्ण के साथ स्पर्श वर्ण का संयोग। अर्थात् जिस स्थल पर दो स्पर्श ध्वनियाँ परस्पर मिलकर संयोग का निर्माण करेंगी, वहाँ पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण परवर्ती स्पर्श से थोड़ा अलग करके अपूर्ण रूप में कर दिया जायेगा। जिससे वे दोनों स्पर्श वर्ण संयुक्त रूप में उच्चरित न होकर पृथक्-पृथक् उच्चरित हो जाते हैं तथा प्रथम-स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार रेफ के अतिरिक्त अन्य किसी भी अन्तस्था-वर्ण के बाद जब कोई स्पर्श-वर्ण होता है, तो इस प्रकार के संयोग में अन्तस्था-वर्ण अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है।

अभिनिधान का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार

जब किसी व्यञ्जन-संयोग में प्रथम वर्ण कोई भी स्पर्श-वर्ण हो अथवा रेफ के अतिरिक्त कोई अन्तस्थ-वर्ण हो, तो सर्वप्रथम संयोग के पूर्ववर्ती वर्ण के उच्चारण में फेफड़े से आयी हुई वायु करण और स्थान के पारस्परिक स्पर्श के कारण स्पर्श-स्थल पर ही रुकी रहती है। पुनः जब परवर्ती वर्ण के उच्चारण के लिये द्वितीय प्रयत्न के प्रारम्भ होने के पूर्व प्रथम-स्पर्श की समाप्ति होती है, तभी पूर्वोच्चारित ध्वनि की श्रवणीयता उत्पन्न हो जाती है—अर्थात् ध्वनि उसी स्थिति में श्रुति-गोचर हो पाती है, जब उच्चारणावयवों के स्पर्श-क्रिया की समाप्ति हो जाती है और वायु को स्फोटित होने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है। यह स्फोटन तभी सम्भव है, जब स्पर्श-वर्ण के पश्चात् किसी स्वरात्मक ध्वनि का उच्चारण हो, अथवा ऐसी ध्वनि का उच्चारण हो जिसके उच्चारण में उच्चारणाङ्गों का परस्पर स्पर्श न होता हो। यदि किसी ध्वनि का उच्चारण पदान्त में होगा, तब भी उसके उच्चारण में स्फोटन सम्भव नहीं हो सकेगा। परन्तु ऐसी स्थिति तभी सम्भव है, जब उस ध्वनि के पश्चात् अवसान आ रहा हो। क्योंकि अवसान रहने से भी स्फोटक ध्वनि के अभाव में वायु को स्फोटित होने का अवसर नहीं मिल पायेगा। जब किसी स्पर्श के पश्चात् किसी भी स्फोटक ध्वनि की सत्ता का अभाव होता है, तब स्पर्श-ध्वनि के उच्चारण में दो ही प्रक्रियाएँ हो पाती हैं। तृतीय (स्फोटन की) प्रक्रिया नहीं हो पाती, जिससे स्पर्श-ध्वनि अपूर्ण उच्चरित हो जाती है। जब व्यञ्जन-संयोग में प्रथम-स्पर्श को द्वितीय-स्पर्श से थोड़ा पृथक् करके उसका अपूर्ण उच्चारण करते हैं, तब इस स्पर्श के पश्चात् अत्यल्प विराम आ जाता है तथा विराम के ठीक बाद परवर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिये प्रयत्न किया जाता है। जिससे पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण वायु के स्फोटन से रहित होता है। अतः वह स्पर्श अपूर्ण ही उच्चरित हो पाता है। ऋ० प्रा० ६।१७ में

स्पष्टतः कहा गया है कि यदि किसी स्थल पर संहिता की प्राप्ति हो, तो संहिता कर लेने के पश्चात् अभिनिधान करना चाहिए। वस्तुतः अभिनिधान में सम्बद्ध व्यञ्जनों के मध्य में इतना व्यवधान हों जाता है, कि अभिनिधान के अनन्तर वे व्यञ्जन एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डाल सकते तथा एक के कारण दूसरा स्पर्श-वर्ण विकृत नहीं हो सकता।

वास्तव में जब किसी व्यञ्जनसमूह में स्पर्श-वर्ण का उच्चारण करने के तुरन्त बाद किसी अन्य स्पर्श का उच्चारण किया जाता है, तब पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए जब एक बार उच्चारणाङ्गों का स्पर्श हो जाता है, पुनः दूसरे स्पर्श वर्ण के उच्चारण के लिये प्रथम-स्पर्श की समाप्ति हुए बिना ही उच्चारणाङ्गों को तैयार होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में प्रथम-स्पर्श ही अपनी कालावधि को दीर्घीकृत करके द्वितीय-स्पर्श को उच्चरित करने के लिए उच्चारणाङ्गों के स्पर्श का निर्माण कर देता है। परिणामतः प्रथम-स्पर्श के उच्चारण में वायु के स्फोटित न हो सकने के कारण उच्चारण अपूर्ण ही रह जाता है।

अभिनिधान का विश्लेषण

च० अ० १।४३ पर अपनी अंग्रेजी व्याख्या में प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी ने अभिनिधान की परिभाषा इस प्रकार से की है—अभिनिधान विराम का वह क्षण है, जो पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए किए गए उच्चारणाङ्गों के स्पर्श एवं परवर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिये किये जाने वाले उच्चारणाङ्गों के पृथक्करण के मध्य में आता है।[1] तात्पर्य यह है कि किसी भी व्यञ्जन-समूह में जब दो स्पर्शों का उच्चारण लगातार बिना किसी अन्य ध्वनि के व्यवधान के ही करना होता है, तब पूर्ववर्ती स्पर्श ध्वनि के उच्चारण के लिये किये जाने वाले उच्चारणाङ्गों के स्पर्श के पश्चात् थोड़ा सा विराम करके तब द्वितीय स्पर्श के उच्चारण के लिए उच्चारणाङ्गों का पारस्परिक पृथक्करण होता है। इसी विरामकाल को ही ह्विटनी ने अभिनिधान का काल माना है। ह्विटनी का यह मत ऋ० प्रा० एवं च० अ० के मतों से समानता रखता है, क्योंकि इन प्रातिशाख्यों के मतानुसार भी अभिनिधान का वास्तविक क्षण वही होता है, जिस समय पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए स्फोटन न होकर उसके

---

१. Abhinidhan is meant the instant of Silence which intervenes between the closure of the argons for the first mute and their opening for the Second—W. D. whitney on C. A. 1.43.

पश्चात् उच्चारणावयवों के स्पर्श के पूर्ववत् बने रहने से विराम उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ—'आप्त' शब्द के उच्चारण में पकार तथा तकार के संयोग में पकार ध्वनि को तकार ध्वनि से असंयुक्त उच्चरित करते समय कुछ पृथक् उच्चरित करते हैं, फलतः पकार के उच्चारण के लिए दोनों ओष्ठ परस्पर स्पर्श कर लेते हैं। पुनः जब तकार के उच्चारण के लिए उच्चारणावयव द्वितीय-स्पर्श करने के लिए तैयार हो जाते हैं तब उच्चारणाङ्गों के पृथक्करण के परिणाम स्वरूप प्रथम-स्पर्श के उच्चारण में ध्वनि का स्फोटन न होकर उतने काल तक विराम की स्थिति रहतो है। इसी विराम को ह्विटनी ने अभिनिधान कहा है। इस प्रकार अभि-निधान संयुक्त होने वाले व्यञ्जनों का असंयुक्तोच्चारण है। जब संयुक्त होने वाले व्यञ्जनों को बिना किसी प्रकार के अन्तर्ववर्ती विराम के उच्चरित किया जायेगा, तो उनमें अभिनिधान के लिये अवसर नहीं मिल सकेगा। परन्तु जब संयुक्त व्यञ्जनों में प्रथम वर्ण को द्वितीय वर्ण से पृथक् करके उच्चरित करेंगे, तो ऐसी स्थिति में प्रथम वर्ण अभिनिधान को प्राप्त हो जायेगा। संयुक्त वर्णों में भी पूर्ववर्ती वर्ण का उच्चारण अपूर्ण ही होता है, परन्तु संयुक्त वर्णों में अपूर्ण उच्चरित होने वाला वर्ण अपने उच्चारण का कुछ भाग अपने परवर्ती वर्ण को अर्पित कर देता है। च० अ० १।५० में विधान किया गया है कि संयुक्त व्यञ्जनों में प्रथम व्यञ्जन की परवर्ती आधी मात्रा आगे उच्चरित होने वाले व्यञ्जन के उच्चारण-स्थान एवं करण से उच्चरित हो जाती है।[1] इस प्रकार जब 'मरुद्भिः' पद में दकार और भकार को बिना किसी प्रकार के अन्तर्वर्ती विराम के उच्चरित किया जायेगा, तब उनमें अभिनिधान नहीं होगा। किन्तु जब दकार को भकार से कुछ पृथक् करके उसे थोड़ा दबाकर उच्चरित करेंगे तब दकार का अभिनिधान हो जायेगा। इस प्रकार के उच्चारण में दकार तथा भकार के मध्य अतिलघु विराम आ जाने से दकार का पूर्ण उच्चारण नहीं हो पाता है। च० अ० में प्राप्त होने वाले संयुक्त वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित विधान का समर्थन पालि और प्राकृत भाषाओं के शब्दों की उच्चारण-प्रक्रिया से भी हो जाता है। पालि और प्राकृत भाषाओं में संस्कृत-भाषा के वे शब्द जिनमें स्पर्श वर्ण आपस में मिलकर संयोग का निर्माण करते हैं, इस प्रकार से उच्चरित हो जाते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप पूर्ववर्ती स्पर्श का परवर्ती स्पर्श के साथ समीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत का 'सप्त' पालि में 'सत्त' हो जाता है। ऋ० प्रा० में प्राप्त होने वाले अभिनिधान से सम्बन्धित सूत्रों का सम्यक् अनुशीलन करने से यही तथ्य प्रकाश

१. पूर्वरूपस्य मात्रार्द्धं समानकरणं परम्।—च० अ० १।५०

में आता है कि अभिनिधान भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, अपितु वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। ऋ० प्रा० ६।४३ में सूत्रकार ने आचार्य व्याडि के मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार सर्वत्र अभिनिधान का लोप हो जाता है।[१] अर्थात् आचार्य व्याडि को किसी भी स्थल पर अभिनिधान की सत्ता स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार ऋ० प्रा० ६।२७ में विहित नियम के अनुसार कतिपय आचार्य शाकल के मत को सर्वत्र विकल्प से मानते हैं। परन्तु ऐसी स्थिति तभी सम्भव है जब संयुक्त वर्णों में करण अथवा उच्चारण-स्थान अथवा दोनों का भेद हो।[२] इन विकल्पात्मक विधानों का तात्पर्य है कि अभिनिधान भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति न होकर वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। यदि संस्कृत भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति से अभिनिधान सम्बन्धित होता तो उसके विषय में किसी प्रकार का वैकल्पिक विधान सम्भव नहीं हो सकता। पहले यह कहा जा चुका है कि शाकल-शाखा के अनुसार यदि स्पर्श के बाद आने वाला स्पर्श सवर्णी न हो तो अभिनिधान विकल्प से होता है। उदाहरणार्थ—'मुक्+तः' = मुक्तः, 'दग्+धः = दग्धः'। ऋ० प्रा० ६।४४ में यह विधान किया गया है, कि जब परवर्ती वर्ण का द्वित्व हुआ हो अथवा पूर्व में स्वर या रेफ हो तो अभिनिधान का लोप नहीं होता है।[३] इस प्रकार अभिनिधान का विरोधी शाकल-सम्प्रदाय भी द्वित्व-स्थल पर अभिनिधान की सत्ता को स्वीकार करता है। यह अभिनिधान तभी होता था जब अभिनिधान को प्राप्त होने वाला व्यञ्जन परवर्ती व्यञ्जन से पृथक् उच्चरित हो रहा हो। अर्थात् जब दो व्यञ्जनों के मध्य एक लघु विराम आ रहा हो, जिसमें प्रथम-व्यञ्जन का व्यवहार शब्दान्त की भाँति हो रहा हो, अर्थात् जब 'यद्यद्' का उच्चारण इस प्रकार से हो जिसमें कि द्+य् बिना किसी प्रकार के अन्तर्वर्ती विराम के उच्चरित होकर व्यञ्जन-संयोग का निर्माण कर रहे हों, तो ऐसी स्थिति में अभिनिधान नहीं हो सकता। किन्तु जब 'द्' तथा 'य्' का उच्चारण इस प्रकार से होगा, जिसमें दोनों व्यञ्जन एक दूसरे से पृथक् होकर उच्चरित होंगे, तो इस स्थल पर दकार अभिनिधान को प्राप्त हो जायेगा। च० अ० १।४९ की व्याख्या में ह्विटनी ने कहा है कि इस नियम (अभिनिधान असंयुक्तोच्चारण है) का अनुरूपी नियम अन्य प्रातिशाख्यों में नहीं पाया जाता।[४] परन्तु ह्विटनी का यह

---

१. व्याळेः सर्वत्राभिधानलोपः।—ऋ० प्रा० ६।४३

२. सर्वत्रैके करणस्थानभेदे वा शाकलम्।—ऋ० प्रा० ६।२७

३. परक्रमस्वररेफोपधे न।—ऋ० प्रा० ६।४४

४. Nothing is to be found in the other Pratisakhyas Corresponding to the rules—Whitney On C. A. 1.49

मत ठीक नहीं है, क्योंकि ऋ० प्रा० १।२४ में भी यही नियम शाकल के मत के रूप में उल्लिखित किया गया है।[1]

अभिनिधान के स्थल एवं क्षेत्र

ऋ० प्रा० ६।१७, १८ के अनुसार पदों की संहिता कर लेने के पश्चात् स्पर्श वर्णों एवं रेफ के अतिरिक्त अन्य अन्तस्था वर्णों का अभिनिधान होता है, यदि उनके बाद में स्पर्श वर्ण हो। इसी प्रकार अवसान से पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण तथा रेफ व्यतिरिक्त अन्तस्था वर्ण भी अभिनिधान को प्राप्त करते हैं।[2] उदाहरणार्थ— अर्वाक् + देवाः में सर्वप्रथम संहिता की प्राप्ति होने से ककार का गकार होकर 'अर्वाग् + देवाः' रूप बना। इस गकार के बाद स्पर्श वर्ण दकार के रहने से गकार अभिनिधान को प्राप्त हो जाता है। गकार को दकार से संयुक्त न करके उसे दकार से थोड़ा पृथक् करके उसकी ध्वनि को दबाकर अस्पष्ट उच्चारण करते हैं। पदान्त वर्णों (अवसानस्थ) के अभिनिधान में 'संधारण' और 'संवरण' दोनों प्रकार की क्रियायें नहीं हो पातीं, क्योंकि अवसानस्थ वर्ण को किसी अन्य वर्ण से पृथक् करने की आवश्यकता नहीं होती। इसमें केवल संवरण क्रिया ही होती है। च० अ० को स्पर्श वर्णों का अभिनिधान तो मान्य है, परन्तु अन्तस्थों के अभिनिधान के सम्बन्ध में ऋ० प्रा० से इसका कुछ अंशों में मतभेद है। ऋ० प्रा० में सभी स्पर्श-वर्णों एवं रेफ-व्यतिरिक्त अन्तस्था (य्, ल्, व्) वर्णों के अभिनिधान की बात कही गयी है, परन्तु च० अ० १।४४-४७ में स्पर्श-वर्ण, लकार एवं ङ्, ण्, न् नासिक्य वर्णों के ही अभिनिधान का विधान किया गया है।[3] ऋ० प्रा० के अनुसार लकार के बाद स्पर्श वर्ण होने पर लकार अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है। जबकि च० अ० के अनुसार लकार का अभिनिधान तभी होगा, जब उसके बाद कोई ऊष्म वर्ण हो। इसी प्रकार 'ङ्', 'ण्' तथा 'न्' के बाद जब हकार उच्चरित होगा, तभी ये वर्ण अभिनिधान को प्राप्त कर सकेंगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि च० अ० के अनुसार अभिनिधान का क्षेत्र ऋ० प्रा० की अपेक्षा

---

१. असंयुक्तं शाकलम्।—ऋ० प्रा० ६।२४

२. अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्तस्थानामपवाद्यरेफम्। संधारणं संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम्। अपि चावसाने॥—ऋ० प्रा० ६।१७, १८

३. स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानः।—च० अ० १।४४, पदान्तावग्रहयोश्च।—च० अ० १।४५, लकारस्योष्मसु।—च० अ० १।४६, ङ्णनानां हकारे।—च० अ० १।४७

सीमित है। पदान्त व्यञ्जनों के अभिनिधान के सम्बन्ध में दोनों प्रातिशाख्य एकमत हैं। च० अ० १।४५ के अनुसार अवग्रह बाद में रहने पर भी पूर्ववर्ती स्पर्श का अभिनिधान हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि यदि पदपाठ में किसी समस्तपद को अवगृहीत कर दिया गया हो और अवग्रह से बाद कोई स्पर्श-वर्ण हो, तो अवग्रह से पूर्ववर्ती स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत स्थल पर अवग्रह से पूर्व होने वाले अभिनिधान के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित होगा। अवग्रह का अर्थ है—पृथक्करण। वा० प्रा० ५।१ में अवग्रह का काल एकमात्रा माना गया है।[2] जब दो स्पर्शों के संयुक्तोच्चारण में प्रथम-स्पर्श को द्वितीय-स्पर्श से पृथक् करके उनके बीच यदि एकमात्रा काल का व्यवधान उत्पन्न किया जाएगा, तो पूर्ववर्ती स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त हो जायगा। अर्थात् जब पूर्ववर्ती स्पर्श-वर्ण के उच्चारण के लिये किये गये स्पर्श एवं परवर्ती स्पर्श-वर्ण के उच्चारण के लिये किये गये स्पर्श के मध्य एक मात्रिक विराम होगा तो पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए किये गये स्पर्श में वायु का स्फोटन नहीं हो सकेगा। अतः पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण अपूर्ण एवं अस्पष्ट हो जाएगा। ऋ० प्रा० ६।१९ के अनुसार सवर्णी अन्तस्था के पूर्व आने वाला अनुनासिक अन्तस्था वर्ण भी अभिनिधान को प्राप्त करता है।[3] इस सूत्र का उद्देश्य यही है कि जब अन्तस्थ का संयोग अपने ही सवर्णी अन्तस्थ के साथ हो, और पूर्ववर्ती अन्तस्थ अनुनासिक हो तब अनुनासिक अन्तस्थ अभिनिधान को प्राप्त कर लेगा। उदाहरणार्थ—'यय्ँ यय्ँ युजम्', 'इमल्ँ लोगम्' इत्यादि मन्त्रांशों में अनुनासिक यकार के बाद यकार एवं अनुनासिक लकार के बाद लकार आया है, जिससे पूर्ववर्ती अनुनासिक यकार एवं अनुनासिक लकार अभिनिधान को प्राप्त हो गये हैं। इसी प्रकार ऋ० प्रा० के छठें पटल में अभिनिधान के विषय में अन्य अनेक विधान प्राप्त होते हैं, जो आचार्य शाकल एवं व्याडि के मत के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। ये विधान इस प्रकार हैं—

आचार्य शाकल का मत—(१) ऊष्म वर्ण बाद में रहने पर भी लकार का अभिनिधान होता है।[4] यथा—'शतवल्शः' पद में लकार के बाद ऊष्म वर्ण

---

१. पदान्तावग्रहयाश्च।—च० अ० १।४५

२. समासे अवग्रहो ह्रस्वसमकाल।—वा० प्रा० ५।१

३. अन्तस्था स्वे स्वे च परेऽपि रक्ताः।—ऋ० प्रा० ६।१९

४. लकार ऊष्मस्वपि शाकलेन।—ऋ० प्रा० ६।२०

शकार है। अतः लकार का अभिनिधान हो जाता है। (२) खकार बाद में होने पर 'ख्या' धातु का ककार अभिनिधान को प्राप्त हो जाता है।[१] अक्ख्यद्देवः पद में 'ख्या' धातु के लुङ् लकार के रूप में ककार के बाद खकार होने से ककार अभिनिधान को प्राप्त हो जाता है। (३) 'रप्श्' धातु का पकार अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है।[२] उदाहरणार्थ—विरप्शी पद में 'रप्श्' धातु का पकार अभिनिधान को प्राप्त हो जाता है। (४) मकार से पूर्व वाले सभी स्पर्श (क से लेकर म तक) पद के अन्त में आने पर अभिनिधान को प्राप्त होते हैं, यदि पद के आदि में वर्तमान 'य्', 'र्', व् और ऊष्म वर्ण बाद में हों।[३] अर्थात् मकार के अतिरिक्त अन्य स्पर्श जब पदान्त में हों, एवं उसके बाद कोई ऊष्म-वर्ण अथवा य्, र्, व् में से कोई भी वर्ण हो, तो मकारेतर स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—'यद् यद् यामि तदा भर' 'तद्रासभो नासत्या', 'यान् वो नरो देवयन्तः', 'दध्यङ ह मे' 'अर्वाक् शफाविव', और 'शर्मन् श्याम्'। उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमशः दकार के बाद यकार, दकार के बाद रेफ, नकार के बाद वकार, ङकार के बाद हकार, ककार के बाद शकार तथा नकार के बाद शकार वर्ण आये हैं। अतः पूर्ववर्ती वर्णों का अभिनिधान हो गया है। ऋ० प्रा० ६।२५ में ऊष्म-वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती व्यञ्जन के अभिनिधान का एक अपवाद बतलाया गया है। स्मर्तव्य है कि यह अपवाद भी शाकल के मत के रूप में ही उल्लिखित किया गया है। इस विधान के अनुसार ऊष्म-वर्णों में यदि 'सु' पद बाद में होगा तो, शाकल के मतानुसार होने वाला अभिनिधान नहीं होगा।[४] इसी प्रकार ऋ० प्रा० ६।२६ में विधान किया गया है, कि अनेकाक्षरिक पद के अन्त में विद्यमान स्पर्श 'सु' पद बाद में होने पर विकल्प से अभिनिधान को प्राप्त होता है।[५] उदाहरणार्थ—'हृत्सु' पद में 'सु' पद बाद में होने पर तकार का अभिनिधान विकल्प से होगा। विकल्प-पक्ष में तकार एवं सकार को संयुक्त रूप में उच्चरित करेंगे, जिससे उनके मध्य अभिनिधान को अवसर प्राप्त ही नहीं होगा। ऋ० प्रा० ६।२७ में यह भी विधान है कि कतिपय आचार्य शाकल के मत को

---

१. सकारे चैवमुदये ककारः ख्यातेर्धातोः।—ऋ० प्रा० ६।२१

२. रप्शतेर्वा पकारः।—ऋ० प्रा० ६।२२

३. पदान्तीया यरवोष्मोदयाश्च स्पर्शाः पदादिष्ववरे मकारात्।—ऋ० प्रा० ६।२३

४. तत्र पद्ये स्वित्युत्तरे।—ऋ० प्रा० ६।२५

५. वा त्वनेकाक्षरान्त्याः।—ऋ० प्रा० ६।२६

स्थान का भेद हो अथवा दोनों का भेद हो।[1] ऋ० प्रा० ६।२८ में यह भी कहा गया है कि कतिपय आचार्य शाकल के मत को केवल प्रथम स्पर्श वर्ग तक ही सीमित मानते हैं।[2] ऋ० प्रा० ६।३१ में एक विधान इस प्रकार का प्राप्त होता है, जिसमें ऊष्मन् से उत्पन्न स्पर्श के अभिनिधान का निषेध किया गया है। अर्थात् यदि किसी स्थल पर किसी परिस्थिति-विशेष में ऊष्मवर्ण अपना स्वरूप परिवर्तन करके स्पर्श-वर्ण का रूप ग्रहण कर लेता है, तो ऐसे स्पर्श के बाद अभिनिधान की सभी परिस्थितियों के रहने पर भी वह स्पर्श, अभिनिधान को नहीं प्राप्त कर सकता है।[3] उदाहरणार्थ—'वज्रिन्छनथिहि' पद में छकार यद्यपि स्पर्श है, परन्तु वह शकार का ही विकृत रूप है। अतः यहाँ पर अभिनिधान की सभी परिस्थितियों के होने पर भी छकार का अभिनिधान नहीं होगा।

व्याडि का मत—आचार्य व्याडि के मत से अभिनिधान का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। व्याडि अभिनिधान के सिद्धान्त के विरोधी थे। वे किसी भी स्थल पर अभिनिधान की सत्ता को मानने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु द्वित्व के स्थलों पर वे भी अभिनिधान को स्वीकार करते थे। ऋ० प्रा० ६।४४ में विधान किया गया है कि जब परवर्ती वर्ण का द्वित्व हुआ हो अथवा पूर्व में स्वर या रेफ हो, तो अभिनिधान का लोप आचार्य व्याडि से मत से भी नहीं होता है।[4] इससे ज्ञात होता है कि आचार्य व्याडि के मत से अभिनिधान केवल निम्नलिखित तीन ही स्थलों पर होता था—(१) जब व्यञ्जन-संयोग में द्वितीय वर्ण का द्वित्व होता है तो द्वित्व के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले व्यञ्जन का अभिनिधान होता है। उदाहरणार्थ—'महत्तदुल्ब्बम्' पद में लकार एवं बकार का संयोग है। इस संयोग में बकार का द्वित्व हुआ है। अतः द्वित्व के परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रथम बकार को द्वितीय बकार से थोड़ा पृथक् करके उसकी ध्वनि को दबाकर उच्चरित करेंगे, जिससे उसका अभिनिधान हो जाएगा। (२) स्वर के बाद उच्चरित होने वाले व्यञ्जन का अभिनिधान हो जाता है। उदाहरणार्थ—'अर्वाग् देवाः' में 'वा' के आकार के बाद उच्चरित होने वाले गकार का अभिनिधान हो जाता है। (३) रेफ के बाद में उच्चरित होने वाले व्यञ्जन का अभिनिधान हो जाता है। उदाहरणार्थ—

---

१. सर्वत्रैके करणस्थानभेदे वा शाकलम्।—ऋ० प्रा० ६।२७

२. प्रथमे स्पर्शवर्गे।—ऋ० प्रा० ६।२०

३. नाभिनिधानभावम्।—ऋ० प्रा० ६।३१

४. परक्रमस्वररेफोपधे न।—ऋ० प्रा० ६।४४

'वर्क्' पद में रेफ के बाद उच्चरित होने वाले वकार का अभिनिधान हो जाता है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर अभिनिधान के सम्बन्ध में कई प्रकार की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं—प्रथम प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी स्थल पर स्पर्श के पूर्व में आने वाले स्पर्श का अभिनिधान हो जाता है। जब स्पर्श-वर्ण पदान्त में आता है, तब भी उसके अभिनिधान की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। द्वितीय प्रवृत्ति केवल वहीं पर अभिनिधान की सत्ता को मानने के पक्ष में थी, जहाँ किसी व्यञ्जन का द्वित्व हुआ हो। द्वित्व व्यञ्जन के उच्चारण के सम्बन्ध में वा० प्रा० ४।१४४ में विधान किया गया है कि एक पद में दो स्वरों के मध्य में विद्यमान दो वर्णों को श्वास का अवरोध करके एक वर्ण की भाँति उच्चरित करना चाहिए।[1] इसी सूत्र पर भाष्य में उवट ने स्पष्टतः कह दिया है कि 'स्वरात् संयोगादि'—वा० प्रा० ४।१०१ से जिन वर्णों के द्विरुच्चारण का विधान किया गया है, उन्हीं द्वित्वीकृत वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में यह विशेष नियम कहा गया है। दो वर्णों के उच्चारण के लिए मुख में श्वास का अवरोध करके उन दोनों वर्णों को एक वर्ण के समान उच्चरित करना चाहिए।[2] इस प्रकार की उच्चारण-प्रक्रिया में प्रथम-व्यञ्जन के उच्चारण के लिए किये गये प्रयत्न को और अधिक देर तक पूर्ववत् बनाये रख कर मुख में श्वास का अवरोध करके श्वास के एक ही झटके से दोनों ही वर्णों का उच्चारण कर दिया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती व्यञ्जन के उच्चारण में श्वास का स्फोटन नहीं हो पाता तथा पूर्ववर्ती व्यञ्जन अपूर्ण उच्चारित हो जाता है। अभिनिधान के सम्बन्ध में तृतीय प्रवृत्ति यह थी कि अभिनिधान उसी स्थिति में हो पाता है, जब संयुक्तोच्चारित होने वाले व्यञ्जनों को पृथक्-पृथक् उच्चरित किया जाय। अभिनिधान के विषय में प्राप्त होनी वाली प्रथम प्रवृत्ति का प्रबल समर्थन प्राकृत भाषा में प्राप्त हो जाता है।

प्राकृत भाषा में 'सप्त' का उच्चारण 'सत्त' के रूप में हो जाना, इसी तथ्य की पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है कि स्पर्श + स्पर्श के संयोग में प्रथम स्पर्श अपने

---

१. द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे।—वा० प्रा० ४।१४४

२. स्वरात् संयोगादि इत्यादिना प्रकरणेन यस्य द्विर्भाव उक्तः तस्यैतदुच्यते। वर्णे द्विवर्णसंयोगः एकवर्णवत् कर्तव्यः। मुखसंधारणाविशेषात् एतच्चाभिनिधानमुच्यते।—वा० प्रा० ४।१४४ पर उवट

उच्चारण का अधिक भाग परवर्ती स्पर्श को सौंप कर स्वयं अभिनिधान को प्राप्त कर लेता है तथा श्वास एवं नाद की न्यूनता से ही स्वयं उच्चरित भी होता है। 'सप्त' में जब पकार, तकार के साथ समीकरण को प्राप्त करके स्वयं भी तकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब दोनों तकारों में प्रथम तकार श्वास के उसी झटके से उच्चरित हो जाता है, जिससे द्वितीय तकार उच्चरित होता है। परिणामतः प्रथम तकार के उच्चारण में वायु का स्फोटन नहीं हो पाता है। इसी प्रकार संस्कृत भाषा के 'मरुत्', 'जगत्' आदि शब्दों के विभक्ति-रूपों को देखने से भी यह ज्ञात होता है, कि इनमें पूर्ववर्ती स्पर्श का परवर्ती स्पर्श के साथ समीकरण हो जाता है। जिससे मरुद्भ्याम्, जगद्भ्याम् जैसे-शब्द-रूप प्राप्त होते है, जिनमें मूलरूप में स्थित तकार का उच्चारण शिथिल रूप में होकर दकार के रूप में होता है। इसमें अपेक्षाकृत श्वास एवं नाद की भी न्यूनता आ जाती है। परन्तु ऋ० प्रा० में उल्लिखित आचार्य व्याडि के मत को देखने से ऐसा स्पष्ट हो जाता है, कि अभिनिधान के सिद्धान्त का प्रबल विरोधी आचार्य व्याडि भी जब द्वित्व के स्थलों पर अभिनिधान की सत्ता का निषेध नहीं किया है, तो अवश्य ही ऐसे स्थल जिन पर द्वित्व होता था, अभिनिधान के लिए अत्यन्त सबल परिस्थिति उत्पन्न करते थे तथा इस प्रकार के स्थलों पर द्वित्व से उत्पन्न वर्ण ही अभिनिधान को प्राप्त कर लेता था। उदाहरणार्थ—'दत्तम्' तथा 'अग्निम्' पदों में जहाँ पर 'त्त' एवं 'ग्ग' के उच्चारण में वायु को केवल एक बार स्फोटित होने का अवसर मिल पाता है। प्रथम 'त्' एवं 'ग्' अस्फुटित ही रहते हैं। परन्तु स्पर्श वर्णों के ऐसे संयोग, जिनमें न तो किसी व्यञ्जन का द्वित्व ही होता है और न ही पूर्ववर्ती वर्ण का परवर्ती वर्ण के साथ समीकरण ही होता है, अभिनिधान के लिए निश्चित स्थल नहीं कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—'अत्क', 'श्रुत्कार' इत्यादि पदों में पूर्ववर्ती स्पर्श का परवर्ती स्पर्श के साथ समीकरण नहीं होता है। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के व्यञ्जन-संयोगों में अभिनिधान होता था, या नहीं। इस प्रकार के शब्दों में अभिनिधान का रूप अवश्य ही भौगोलिक स्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रहा होगा। कुछ बोलियों में स्पर्श से पूर्व आने वाले स्पर्श का स्फोटन होता रहा होगा एवं कुछ बोलियों में नहीं। पञ्जाबी एवं हिन्दी भाषा में 'वक्त' एवं 'रक्त' शब्दों के उच्चारण में ककार एवं तकार का संयोग है, इसलिए नियमतः दोनों भाषाओं में तकार से पूर्व ककार का अभिनिधान होना चाहिए। परन्तु दोनों ही भाषाओं के उच्चारण की तुलना करने पर पता चलता है, कि हिन्दी भाषा में तो ककार का तकार से पूर्व सर्वदा अभिनिधान होता है, जबकि पञ्जाबी भाषा में अधिकतर शब्द ऐसे हैं, जिनमें तकार से पूर्व ककार का पूर्ण रूप से स्फोटन होता है। इसी प्रकार कुछ ऐसी भी भाषाएं हैं, जिनमें विभिन्न व्यञ्जन-

संयोग में स्पर्श के स्फोटन की स्थिति में विभिन्नता रहती है। उदाहरणार्थ—फ्रांसीसी भाषा में स्पर्श-संयोग में प्रथम-स्पर्श का उच्चारण स्फोटनयुक्त करने की प्रबलप्रवृत्ति है।

तथापि फ्रांसीसी भाषा में पकार से पूर्व पकार का प्रायः स्फोटन नहीं होता है। इसलिए शिक्षाग्रन्थों ने अभिनिधान के सम्बन्ध में यह विधान किया है कि केवल द्वित्व-व्यञ्जनों में अभिनिधान आवश्यक है एवं भिन्न उच्चारण-स्थान वाले व्यञ्जनों के संयोग में अभिनिधान वैकल्पिक होता है। संस्कृत भाषा की यह विशेषता रही है, कि किसी भी व्यञ्जसंयोग में जब दो महाप्राण-व्यञ्जन उच्चरित किए जाते हैं, तो उनमें प्रथम-व्यञ्जन अल्पप्राण हो जाता है। इस प्रकार के व्यञ्जन-संयोगों में पूर्ववर्ती वर्ण का अभिनिधान निश्चित रूप से हो जाता है, क्योंकि वह वर्ण महाप्राण से अल्पप्राण में परिवर्तित होकर श्वास, नाद से हीन हो जाता है तथा श्वास के एक ही स्फोटन से दोनों ही वर्णों का उच्चारण भी हो जाता है। साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रकार के व्यञ्जन-संयोगों में, जिनमें स्पर्श के बाद कोई नासिक्य वर्ण आता हो, अभिनिधान आवश्यक नहीं था, चाहे वह व्यञ्जन उस प्रथम-स्पर्श का सवर्णी अनुनासिक ही क्यों न हो ? उदाहरणार्थ—'रत्न' शब्दों में नकार से पूर्व उच्चरित होने वाला तकार स्फोटन के साथ किसी बोली में उच्चरित होता था, किसी में नहीं। इस सन्दर्भ में संस्कृत-भाषा के कतिपय ऐसे शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें नकार से पूर्व दकार का अभिनिधान हो गया है तथा वह (दकार) परवर्ती वर्ण नकार के साथ समीकरण को प्राप्त कर लिया है। उदाहरणार्थ—अद्+न=अन्न, छिद्+न=छिन्न, खिद्+न=खिन्न। इन सभी शब्दों में दकार अपने परवर्ती वर्ण नकार के साथ समीकरण को प्राप्त करके नकार के ही रूप में परिवर्तित हो गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि स्पर्श+स्पर्श समूह में अभिनिधान का सबसे सम्भाव्य स्थल वही हो सकता है, जहाँ व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त हो गया है। इस प्रकार के संयोगों में अभिनिधान निश्चित था। इसी प्रकार जिस संयोग में पूर्ववर्ती व्यञ्जन का अनुवर्ती व्यञ्जन के साथ समीकरण हो जाता था, उसमें पूर्ववर्ती व्यञ्जन का अभिनिधान हो जाता था। अभिनिधान का सबसे अधिक अनिश्चित स्थल वह था जहाँ पर प्रथम व्यञ्जन किसी भी प्रकार के समीकरण का सामना नहीं कर पाता था।

पदान्त-व्यञ्जनों के अभिनिधान के सम्बन्ध में आचार्यों में विरोध नहीं प्राप्त होता। क्योंकि अभिनिधान का विरोध करने वाला शाकल सम्प्रदाय भी कहता है कि यदि कहीं अभिनिधान होता था, तो उसी स्थल पर होता था, जब

अभिनिहित ध्वनि के पश्चात् अतिलघु विराम आता हो। उदाहरणार्थ—जब 'वल्शः' का उच्चारण 'वल्+शः' के रूप में होता हो, जिसमें लकार के उच्चारण के थोड़ी देर बाद शकार का उच्चारण होता हो। भारतीय वैयाकरणों को भी स्वीकार्य था कि संस्कृत भाषा की पदान्त-ध्वनियाँ अस्फुटित होती हैं। अतः पदान्त-व्यञ्जन अभिनिधान को प्राप्त कर लेते थे। वा० प्रा० १।६० में विधान किया गया है कि स्पर्श में अन्त होने वाले पदों के अन्तिम वर्ण के उच्चारण-स्थान एवं करण का उन्मोचन करना चाहिए।[1] इस सूत्र के भाष्य में उवट ने कहा है कि दूसरे पद को दूसरे प्रयत्न द्वारा उच्चरित करना चाहिए। ऐसा न करने पर दूसरे पद के आदि वर्ण का द्वित्व हो जाएगा।[2] तात्पर्य यह है कि किसी भी पदान्त स्पर्श के उच्चारण में स्थान और करण का अलगाव करना नितान्त आवश्यक है। स्थान और करण के पृथक्करण के परिणामस्वरूप पदान्त-स्पर्श का उच्चारण पूर्णरूप से हो जायेगा, तथा उसके बाद उच्चरित होने वाले द्वितीय पद का उच्चारण दूसरे प्रयत्न द्वारा करना चाहिए। उवट के अनुसार यदि पदान्त स्पर्श को इस प्रकार से उच्चरित न करके, बिना वायु का स्फोटन किये ही दूसरे पद के आदि वर्ण का उच्चारण करने के लिए उच्चारणावयवों को तैयार करना प्रारम्भ कर दिया जाय, तो पदान्त स्पर्श का दूसरे पद के आदि में स्थित वर्ण के साथ समीकरण हो जाएगा और इस प्रकार पदादि वर्ण द्वित्ववत् उच्चरित हो जाएगा। जिसका परिणाम यह होगा कि पूर्ववर्ती पद का अन्तिम वर्ण अभिनिधान को प्राप्त हो जायेगा। उदाहरणार्थ—'तत् न' पद के उच्चारण में पदान्त तकार के उच्चारण के लिए जिह्वा को 'दन्तमूल प्रदेश' से पृथक् करके नकार के उच्चारण के लिए जब दूसरा प्रयत्न करेंगे, तभी तकार अपने मूलरूप में उच्चरित हो सकेगा। इस प्रकार न करने पर तकार भी नकार के साथ समीकरण को प्राप्त करके नकार के ही रूप में परिवर्ति हो जाएगा। इस प्रकार 'तत्' का पदान्त-तकार अभिनिधान को प्राप्त कर लेगा। वा० प्रा० १।६१ में अवसानस्थ वर्ण के उच्चारण में भी स्थान और करण के पृथक्करण का विधान किया गया है।[3] इन सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार ने 'कर्तव्यः' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे ऐसा स्पष्ट होता है कि उस समय उच्चारण की वास्तविक स्थिति ऐसी

---

१. स्पर्शान्तस्य स्थानकरणविमोक्षः।—वा० प्रा० १।६०

२. स्पर्शान्तस्य पदस्य स्थानकरणविमोक्षः कर्तव्यः। अन्येन प्रयत्नेनान्यत् पदमारब्धव्यम्। अन्यथा पदादेर्द्वित्वं भवति।—वा० प्रा० १।६० पर उवट

३. अवसाने च।—वा० प्रा० १।६१

थी, जिसमें पदान्त-स्पर्श एवं अवसानस्थ स्पर्श का अभिनिधान हो जाता था, परन्तु यह भी स्पष्ट है कि इस प्रकार का उच्चारण किन्हीं क्षेत्र-विशेष तक ही प्रचलित था। प्रातिशाख्यकार को यह उच्चारण अशुद्ध प्रतीत हुआ, जिससे उन्होंने इसका निषेध किया। वा० प्रा० १।९०,९१ की व्याख्या प्रो० वेबर और गोल्डस्टूकर ने अभिनिधान-विधायक सूत्रों के रूप में की है, परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही विद्वान अभिनिधान के स्वरूप को ठीक से समझ नहीं पाये थे। अभिनिधान में वर्ण की श्रुति परवर्ती वर्ण से पृथक् करके किञ्चित् दबाकर उच्चरित करते हैं।[1] इस प्रक्रिया में कुछ काल तक के लिए उच्चारणावयवों के स्पर्श को बनाये रखते हैं। यही स्पर्श का काल विरामकाल होता है। इसी कारण ध्वनि स्फुट नहीं हो पाती है। परन्तु वा० प्रा० के इन सूत्रों में स्थान और करण के पृथक्करण का विधान किया गया है। इस पृथक्करण के परिणामस्वरूप वर्ण के उच्चारण में पूर्व-अवरुद्ध-वायु को मुख से बाहर निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता है। परिणामतः ध्वनि पूर्णतः स्फुटित होकर उच्चरित हो जाती है।

च० अ० में नासिक्य ध्वनि—ङ्, ण्, न् के अभिनिधान का विधान किया गया है, जब उनके बाद हकार ध्वनि हो। ये नासिक्य किसी भी व्यञ्जन से पूर्व में रहने पर अनुस्वार में बदल जाते हैं। इनका अनुस्वार में बदल जाना यह सिद्ध करता है कि वे अभिनिधान से बहुत अधिक प्रभावित हो जाते हैं। च० अ० में प्राप्त होने वाला यह विधान कि लकार के बाद ऊष्म वर्ण आने से लकार का अभिनिधान हो जाता है, विवाद-रहित रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परन्तु विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लकार का अभिनिधान किन्हीं बोलियों में पाया जाता रहा होगा, क्योंकि रेफ और लकार के बाद किसी भी संघर्षी ध्वनि के आ जाने पर रेफ तथा लकार के स्वरूप वाली स्वरभक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। कुछ भाषाओं में यह प्रवृत्ति प्रचलित भी थी। उदाहरणार्थ—प्राकृत के अधिकतर रूपों में 'वरिस्' के साथ ही 'वस्स' रूप भी प्राप्त होते हैं। अतः च० अ० का उपर्युक्त मत वैदिक भाषा के सम्बन्ध में पूर्णतः सत्य नहीं सिद्ध होता।

अभिनिधान के प्रसङ्ग में यह भी कह देना उचित होगा कि इस प्रकार का व्यञ्जन-संयोग, जिसमें पूर्ववर्ती एवं परवर्ती दोनों स्पर्श-वर्ण हों, अभिनिधान का अनिवार्य स्थल नहीं है। चारायणीयशिक्षा का कथन है कि प्रत्येक वर्ण का प्रथम स्पर्श, पञ्चम स्पर्श तथा लकार एवं वकार का अभिनिधान हो जाता है तथा यदि

---

१. द्रष्टव्य—वा० प्रा० की वेबरकृत व्याख्या

इसके बाद कोई अन्य स्पर्श आ रहा हो, तो प्रत्येक वर्ग के दोनों अघोष स्पर्श अभिनिधान को प्राप्त कर लेते हैं।[1] अन्तस्था एवं संघर्षी व्यञ्जनों के संयोग में वे परस्पर एक दूसरे को नहीं दबाते। इसी शिक्षा में यह भी कहा गया है कि जब अघोष अल्प-प्राण स्पर्शों एवं नासिक्य व्यञ्जनों के बाद कोई अन्य व्यञ्जन हो तो, इनका अपूर्ण उच्चारण होता है। ध्यातव्य है कि चारायणीय शिक्षा अभिनिधान के लिए 'भुक्त' संज्ञा का प्रयोग करती है।

इस प्रकार शिक्षायें भी अभिनिधान के सम्बन्ध में विधान करती हैं। अभिनिधान संयुक्तोच्चारण में होने वाला उच्चारण-वैशिष्ट्य है। अभिनिधान को प्राप्त होने वाला व्यञ्जन परवर्ती व्यञ्जन से संयुक्त नहीं होता तथा अपूर्ण (बिना वायु के स्फुटित हुए) उच्चरित हो जाता है। वास्तव में संयुक्तोच्चारण तथा अभिनिधान दोनों ही प्रक्रियाओं में पूर्ववर्ती वर्ण का उच्चारण अपूर्ण ही होता है, परन्तु संयुक्तोच्चारण में दोनों व्यञ्जनों के मध्य किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं होता तथा साथ ही पूर्ववर्ती वर्ण अपने उच्चारण का कुछ अंश अपने परवर्ती वर्ण को सौंप देता है। परन्तु अभिनिधान में पूर्ववर्ती दोनों ही व्यञ्जनों के मध्य अल्प-कालिक विराम आ जाता है, जिससे पूर्ववर्ती-वर्ण के उच्चारण में वायु स्फुटित नहीं हो पाती। फलस्वरूप पूर्ववर्ती वर्ण अपूर्ण उच्चरित हो जाता है। यही अपूर्ण उच्चारण अभिनिधान कहलाता है। अभिनिधान की प्रक्रिया में अपूर्ण उच्चारण के साथ ही साथ दोनों ध्वनियों का पृथक्करण भी हो जाता है।

स्फोटन

स्फोटन का शाब्दिक अर्थ है—पृथक्करण। यह शब्द पृथक् करना अर्थ वाली 'स्फुट्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न हुआ है। वा० प्रा० ४।१६५ के भाष्य में उवट ने पिण्डीभूत संयोग के पृथक् उच्चारण को 'स्फोटन' कहा है।[2] च० अ० १।१०३ के भाष्य में स्फोटन को व्यञ्जक भी कहा गया है।[3] इसका कारण यह है कि व्यञ्जन-संयोग में जिस ध्वनि का स्फोटन होता है, उसके बाद

---

१. वर्गाणां प्रथमा भुक्ता, भुक्ताश्चैव तु पञ्चमाः। अन्तस्थानां लवौ भुक्तौ शेषांश्चान्ये बुभुक्षिताः॥ वर्गे वर्गे द्विकं चाद्यं दशकं वर्णसञ्चयम्। परेषां सहयोगेन भक्ष्यवृत्तिः प्रशस्यते॥—चारायणीय शि०

२. स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्।—वा० प्रा० ४।१६५ पर उवट

३. तदेव स्फोटनो व्यञ्जको भवति।—च० अ० १।१०३ पर भाष्य

एक प्रकार की अतिरिक्त ध्वनि आ जाती है, जिसके कारण स्फोटन को प्राप्त होने वाली ध्वनि भलीभाँति व्यञ्जित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इस अतिरिक्त ध्वनि के आगमन से पूर्ववर्ती ध्वनि पूर्ण एवं स्पष्ट उच्चरित हो जाती है। जैसा कि अभिनिधान के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है, कि स्पर्श-वर्णों के उच्चारण में तीन प्रकार की प्रक्रियायें होती हैं—वायु का उच्चारण स्थान तक आना, करण द्वारा उसका अवरोध तथा उच्चारणाङ्गों के पृथक्करण द्वारा स्पर्श की समाप्ति हो जाने पर वायु का मुखविवर से बाहर निकल जाना। इन तीनों क्रियाओं में अन्तिम क्रिया 'स्फोटन' कही जाती है। जिस स्पर्श के उच्चारण में उपर्युक्त तीनों क्रियायें होती हैं, उसका उच्चारण पूर्ण होता है और जिनके उच्चारण में उपर्युक्त क्रियाओं में से अन्तिम क्रिया नहीं होती, उनका उच्चारण अपूर्ण होता है। अभिनिधान में इन तीनों क्रियाओं में से अन्तिम क्रिया नहीं होती, इसीलिये अभिनिधान अपूर्ण उच्चारण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्फोटन पूर्ण उच्चारण है। उच्चारण की पूर्णता में कारण होने से इसे व्यञ्जक भी कहा गया है। स्पर्श के पश्चात् जब किसी अन्य स्पर्श का उच्चारण किया जाता है तो किसी विशेष परिस्थिति में प्रथम स्पर्श के बाद एक व्यञ्जक-ध्वनि का आगमन हो जाता है, जिससे पूर्ववर्ती स्पर्श ध्वनि को स्फुट होने का अवसर प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती ध्वनि के उच्चारण में वायु मुख-विवर से बाहर निकल जाती है। च० अ० १।१०३ में इस व्यञ्जक ध्वनि की मात्रा भी बतला दी गई है। इसके अनुसार यह व्यञ्जक ध्वनि $\frac{१}{८}$ मात्रा अथवा $\frac{१}{४}$ मात्रा काल वाली होती है।[१] ध्यातव्य है कि स्फोटन से संयोग का विनाश नहीं होता है।[२]

स्फोटन का विश्लेषण

च० अ० २।३८ में विधान किया गया है कि किसी भी व्यञ्जन-संयोग में जब पूर्ववर्ती वर्ग का स्पर्श बाद में हो तथा परवर्ती वर्ग का स्पर्श पूर्व में हो तो पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण स्फोटन से होता है, यदि पूर्ववर्ती वर्ण के बाद किञ्चिद् विराम होता है।[३] वा० प्रा० ४।१६५ में भी इसी प्रकार का विधान प्राप्त होता है, परन्तु वहाँ पर किसी भी वर्ग के स्पर्श वर्ण के बाद जब कवर्ग का कोई वर्ण आता है, तभी पूर्ववर्ती वर्ण के स्फोटन होने का उल्लेख किया गया है।[४] अतः

---

१. तदेव स्फोटनः।—च० अ० १।१०३

२. पूर्वस्वरासंयोगविघातश्च।—च० अ० १।१०४

३. वर्गविपर्यये स्फोटनः पूर्वेण चेद् विरामः।—च० अ० २।३८

४. स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात्।—वा० प्रा० ४।१६५

वा० प्रा० के अनुसार स्फोटन का क्षेत्र च० अ० की अपेक्षा सीमित है। च० अ० के अनुसार केवल टवर्ग के पश्चात् चवर्ग आने पर स्फोटन न होकर 'कर्षण' होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के सभी संयोगों में जिनमें पूर्ववर्ती वर्ग का स्पर्श बाद में हो तथा परवर्ती वर्ग का स्पर्श पूर्व में हो, स्फोटन होता है। च० अ० २।३८ की व्याख्या में ह्विटनी ने स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण अर्थववेद-संहिता में केवल दो प्रकार के ही संयोग की प्राप्ति होती है, जिनमें स्फोटन का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। ये संयोग 'त्रिष्टुप् छन्दः' और 'त्रिटुप् जगती' पद समूहों में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त च० अ० के अज्ञात भाष्यकार ने स्फोटन के कतिपय उदारण इस प्रकार के दिये हैं, जिनमें परवर्ती वर्ण कवर्गीय स्पर्श ही हैं। वा० प्रा० में स्फोटन को विकल्प से करने का विधान किया गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में कुछ क्षेत्रों में स्फोटन किया जाता था तथा कुछ में नहीं । पिण्डीभूतसंयोग के पृथक् उच्चारण को स्फोटन कहने का तात्पर्य है कि जब किसी अन्य वर्ग का स्पर्श पूर्व में हो और कवर्ग का स्पर्श बाद में हो तो इनके मध्य में स्फोटन होकर पूर्ववर्ती ध्वनि को पूर्ण रूप में उच्चरित कर दिया जाता है। जिससे दोनों व्यञ्जनों के संयोग का विनाश हो जाता है। संयोग में तो पूर्ववर्ती वर्ण अपने उच्चारण का कुछ भाग परवर्ती ध्वनि को सौंपकर स्वयं अपूर्ण उच्चरित होता है। स्फोटन, अभिनिधान तथा संयोग में पारस्परिक अन्तर यह है कि अभिनिधान एवं स्फोटन दोनों में पूर्ववर्ती स्पर्श को परवर्ती स्पर्श से पृथक् उच्चरित किया जाता है। जिससे दोनों ही स्थितियों में संयोग का विनाश हो जाता है। अभिनिधान में पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण अपूर्ण होता है, जबकि स्फोटन में पूर्ववर्ती स्पर्श पूर्ण उच्चरित होता है। दोनों ही स्थितियों में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्पर्शों के मध्य व्यवधान होता है, परन्तु अभिनिधान में इस व्यवधान का स्वरूप विराम के रूप में प्रकट होता है, जबकि स्फोटन में आकर के $\frac{1}{4}$ अथवा $\frac{1}{2}$ मात्राकालिक ध्वनि के रूप में होता है। अभिनिधान की प्रक्रिया में जितने समय तक अभिनिधान होता है, ध्वनि नहीं होती, इसीलिए अभिनिहित ध्वनि को 'हीनश्वासनादः' कहा गया है परन्तु स्फोटन में अकाररूप ध्वनि होती रहती है, जिससे उच्चारण में पूर्णता आ जाती है। वा० प्रा० १।९०, ९१ में पदान्त स्पर्श तथा अवसानस्थ स्पर्श के उच्चारण में उच्चारणाङ्गों के परस्पर पृथक्करण का विधान किया गया है।[1] इस पृथक्करण के परिणामस्वरूप ध्वनि का स्फोटन होकर पूर्ण उच्चारण हो जाता है। इन सूत्रों

---

१. स्पर्शान्तस्य स्थानकरणविमोक्षः।—वा० प्रा० १।९०, अवसाने च।—वा० प्रा० १।९१

के उवट-भाष्य को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त विधान पद-पाठ के प्रसङ्ग में लागू होता है, क्योंकि उवट ने स्पष्टतः कह दिया है, कि अन्य प्रयत्न से अन्य पद का उच्चारण प्रारम्भ करना चाहिए। ऐसा न करने पर पदादि (दूसरे पद के आदि में स्थित) स्पर्श का द्वित्व हो जाएगा। उदाहरणार्थ—'तत् + नः' को पदपाठ के रूप में उच्चरित करते समय द्वितीय तकार के उच्चारण में जिह्वा को दन्तमूल-प्रदेश से अलग कर देना चाहिए। ऐसा करने से मुखविवर में अवरुद्ध वायु मुखविवर से बाहर निकल जाती है, जिसके परिणामस्वरूप तकार ध्वनि पूर्ण रूप में उच्चरित हो जाती है। पुनः नकार के उच्चारण के लिए दूसरे प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। इस विधान के विपरीत यदि तकार और नकार को संयुक्त उच्चरित किया जाय तो तकार वर्ण नकार के साथ समीकरण प्राप्त करके नकार के रूप में परिणत हो जाता है। फलतः नकार का ही दो बार उच्चारण हो जाता है। स्फोटन के प्रसङ्ग में यह भी कहा गया है, कि स्फोटन द्वित्व का विनाशक होता है।[1] तात्पर्य यह है कि जब दो स्वरों के बाद आने वाले संयोगादि वर्ण के द्वित्व की प्राप्ति होती और संयोगादि वर्ण को स्फुट उच्चरित कर देते हैं, तो परिणामतः संयोगादि वर्ण के पूर्व एक अतिरिक्त ध्वनि का आगम नहीं हो पाता है।

वस्तुतः स्फोटन आगम-स्वरूप निष्पन्न वह ध्वनि है, जो वर्गविपर्यय में पूर्ववर्ती स्पर्श के पश्चात् आती है। जिसके कारण पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण पूर्ण रूप से हो जाता है। स्पर्श-ध्वनि का उच्चारण पूर्णरूप से होने के कारण यह आवश्यक है कि उसके पश्चात् किसी स्वरात्मक ध्वनि का उच्चारण हो। जब किसी व्यञ्जन-संयोग में पूर्ववर्ती वर्ण किसी परवर्ती वर्ग का स्पर्श वर्ण हो और परवर्ती वर्ण किसी पूर्ववर्ती वर्ग का कोई स्पर्श वर्ण हो, तो पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए किये गये उच्चारणावयवों के पारस्परिक स्पर्श को समाप्त होने पर परवर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिये जिह्वा को और अधिक पीछे जाना पड़ता है। जिसके कारण वायु की निरन्तरता के बने रहने से दोनों ही ध्वनियों के मध्य अकार की आंशिक ध्वनि का उच्चारण हो जाता है। च० अ० २।३८ के भाष्य में एक कारिका को उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि वर्गों के विपरीत रूप से उच्चरित होने पर स्फोटन होता है।[2]

---

१. स्फोटनं द्वित्वनाशनम्।—व० प्र० शि० १८५

२. वर्गाणां विपरीतानां सन्निपाते निबोधत। व्यवायो स्फोटनाख्यस्तु यद्गायते निदर्शनम्॥—च० अ० २।३८ पर भाष्य

स्फोटन के स्थलों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी परवर्ती वर्ग के स्पर्श के पश्चात् कवर्ग का कोई स्पर्श होने पर स्फोटन को अच्छा अवसर मिल पाता है। अन्य स्पर्शों के संयोग में वर्गों का विपर्यय होने पर भी स्फोटन को निश्चित नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ—'तत्+टीकते' में तकार का स्फोटन न होकर टकार के साथ समीकरण हो जाता है। इस प्रकार 'तट्टीकते' रूप की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त विवेचन से यही कहा जा सकता है कि स्फोटन के सम्बन्ध में वा० प्रा० का मत अधिक समीचीन है।

स्वरभक्ति

व्यञ्जनों के संयुक्त उच्चारण से होने वाले उच्चारण-वैशिष्ट्यों में स्वरभक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहीं-कहीं संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण में वक्ता को कुछ असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए संयुक्त वर्णों की कतिपय विशेष परिस्थितियों में संयुक्त वर्णों के मध्य एक प्रकार की अतिरिक्त स्वरात्मक ध्वनि को उच्चरित कर दिया जाता है, जिसके कारण व्यञ्जनसंयोग का उच्चारण सरलता से हो जाता है। इसी अतिरिक्त उच्चरित होने वाली ध्वनि को स्वर-भक्ति कहा जाता है। प्रातिशाख्यों में रेफ और लकार के साथ होने वाले व्यञ्जनसंयोग में ही स्वरभक्ति का विधान पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रातिशाख्यों के अनुसार किसी व्यञ्जन-संयोग में रेफ अथवा लकार के बाद व्यञ्जन वर्ण आने पर, रेफ या लकार के बाद, रेफ या लकार के समानस्थानी एक अल्पकालिक स्वर का उच्चारण हो जाता है, जिसके कारण व्यञ्जन-संयोग का उच्चारण आसानी से हो जाता है, यही अतिरिक्त स्वरात्मिका ध्वनि 'स्वरभक्ति' कहलाती है।

स्वरभक्ति का अर्थ

यह शब्द 'स्वर' और 'भक्ति' दो शब्दों के योग से बना है। स्वर का अर्थ है—अकारादि स्वर वर्ण एवं भक्ति का अर्थ है—पृथक्ता या अंश। इस प्रकार स्वरभक्ति शब्द के दो अर्थ हैं—(१) स्वर के द्वारा विभक्त करना तथा (२) स्वर का अंश या भाग। इनके आधार पर स्वरभक्ति की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। (१) रेफ या लकार के बाद व्यञ्जन आने पर रेफ या लकार का उच्चारण सरलता से नहीं हो पाता। इस असुविधा को दूर करने के लिए उन संयुक्त वर्णों की कतिपय विशेष परिस्थितियों में रेफ अथवा लकार के समानस्थानी एक अतिह्रस्व स्वर वर्ण का आगम हो जाता है, जिससे संयुक्त वर्ण दो भागों में

विभक्त हो जाते हैं, इसलिए इस आगम स्वरूप ध्वनि को स्वरभक्ति कहते हैं। (२) ह्रस्व स्वर वर्ण एक मात्रा काल वाला होता है किन्तु स्वरभक्ति ह्रस्व स्वर वर्ण का एक अंश होती है, जिसकी मात्रा $\frac{1}{2}$ अथवा $\frac{1}{4}$ अथवा $\frac{1}{8}$ होती है। इसको स्वर की न्यूनतम मात्रा के एक अंश के बराबर होने से ही (Vowel part) भी कहा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वरभक्ति स्वर के एक अंश के बराबर है, इसलिए इसे 'स्वरभक्ति' कहा जाता है। स्वरभक्ति की व्याख्या आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है—ऋ० प्रा० १।३२ के भाष्य में उवट ने स्वरभक्ति को स्वर का प्रकार बतलाया है।[1] उवट के अनुसार स्वरभक्ति के रूप में आने वाला स्वर सामान्य स्वर से कुछ अंशों में भिन्न होता है। तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० व्याख्या में कहा गया है कि स्वरभक्ति, स्वर की भक्ति है। जो इस रेफ का समान (समान-स्थानी) स्वर है, उसकी भक्ति होती है। ऋकार ही, जिह्वाग्र करण होने से इस 'र्' श्रुति के समान धर्म वाला स्वर है, भक्ति का अर्थ है, अवयव, एक देश। यह कहा गया है—ऋकार का अवयव होती है—यह अर्थ है।[2] त्रिभाष्य-रत्नकार पुनः कहते हैं, कि आचार्य वररुचि के अनुसार ऋकार के आदि में स्वर की अणु मात्रा, मध्य में रेफ की अर्द्ध मात्रा तथा शेष भाग स्वर-भक्ति की ही मात्रा होती है।[3] त्रि० के उपर्युक्त मत के अनुसार रेफ के बाद उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति का स्वरूप उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार ऋकार में स्वरांश होता है। एक मात्रिक ऋकार के मध्य में अर्द्धमात्रिक ध्वनि रेफ होती है। शेष अणुमात्रा आदि में एवं अणुमात्रा अन्त में स्वरभक्ति होती है। इसी प्रकार तै० प्रा० २१।१५ पर वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है—भक्ति का अर्थ है—'धर्म'। स्वर के समान धर्म है जिसका, वह स्वर धर्म वाली स्वरभक्ति कहलाती है।[4] तै० प्रा० के इसी सूत्र पर माहिषेय-भाष्य में भी स्वरभक्ति को ऋकार के स्वरांश के स्वरूप वाली ध्वनि कहा गया है।

---

१. स्वरभक्तिः स्वर प्रकार इत्यर्थः।—ऋ० प्रा० १।३२ पर उवट

२. स्वरस्यभक्तिः स्वरभक्तिः। योऽस्य रेफस्य समानस्वरस्तद्भक्तिः स्यात्, ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन रश्रुत्या च समानधर्मः। भक्तिः अवयव एकदेश इति यावत् एतदुक्तं भवति ऋकारावयवो भवतीत्यर्थः।—तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि०

३. स्वरभक्तिस्वरूपं तु विस्पष्टं व्याचष्टे वररुचिः, ऋकारादिः अणुमात्रारेफो अर्द्धमात्रा मध्ये शेष स्वरभक्तिरिति।—तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि०

४. भज्यते इति भक्तिः धर्मः। स्वरस्यैव च भक्तिर्यस्य स तथोक्तः स्वरधर्मी भवतीति यावत्।—तै० प्रा० २१।१५ पद वैदिकाभरण

स्वरभक्ति के स्थल

स्वरभक्ति के स्थल के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में मतभेद पाया जाता है। ऋ० प्रा० ६।४६ में आचार्य शौनक ने स्वरभक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि स्वर वर्ण पूर्व में हो तथा व्यञ्जन वर्ण बाद में हो जिस रेफ के, उस रेफ से बाद में ऋकारवर्णा स्वरभक्ति होती है।[1] अर्थात् रेफ के बाद एक अल्पमात्रिक ऋकार स्वर का आगम हो जाता है, जिससे परवर्ती व्यञ्जन का उच्चारण सरलता से हो जाता है। उदाहरणार्थ—'र्किह' पद में रेफ से पूर्व स्वर वर्ण अकार है एवं बाद में व्यञ्जन वर्ण हकार है, रेफ के बाद हकार के उच्चारण में कठिनाई होती है। अतः रेफ और हकार के मध्य में एक अति ह्रस्वऋकारसदृश ध्वनि का उच्चारण हो जाने से हकार का उच्चारण सरलता से हो जाता है। इस प्रकार 'र्किह' का उच्चारण 'कर् ऋ हि' के रूप में होता है। आचार्य शौनक ने ऋ० प्रा० ६।४७ में विधान किया है कि सघोष अभिनिधान के बाद में भी स्वरभक्ति उत्पन्न होती है, यदि बाद में स्पर्श अथवा ऊष्म वर्ण हो।[2] उदाहरणार्थ—'अर्वाग् देवा' में सघोष वर्ण गकार ने अभिनिधान को प्राप्त कर लिया है। प्रस्तुत नियम से अभिनिहित 'गकार' के बाद में एक अति ह्रस्वस्वरवर्ण का आगम हो जाता है। इस प्रकार के स्थलों पर आने वाली स्वरभक्ति का कैसा स्वरूप होता है, इस प्रसङ्ग में सूत्रकार मौन हैं। ऋ० प्रा० ६।३६ में सूत्रकार ने गार्ग्य' के मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार यम के बाद में नासिका-स्थान वाली 'स्वर-भक्ति' उत्पन्न होती है।[3] तात्पर्य यह है कि जब किसी व्यञ्जनसंयोग में यम का प्रादुर्भाव होता है, तब 'यमज' ध्वनि के पश्चात् नासिका से उच्चरित होने वाली स्वरभक्ति का उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ—'परिज्मानमिव' में जकार एवं मकार के संयोग में यम का प्रादुर्भाव होता है। इस यम के पश्चात् एक अतिह्रस्व स्वर-ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। जिसका उच्चारण नासिका से होता है। ऋ० प्रा० में सूत्रकार ने केवल रेफ के बाद में ही स्वरभक्ति का विधान किया हैं। कहीं भी लकार के बाद स्वरभक्ति का विधान इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है, किन्तु भाष्यकार उवट ने ६।५२ के भाष्य में स्वरभक्ति के उदाहरण के

---

१. रेफात्स्वरोपहिताद्व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा।—ऋ० प्रा० ६।४६

२. विच्छेदात्स्पर्शोष्मपराच्च घोषिणः।—ऋ० प्रा० ६।४७

३. यमान्नासिक्या स्वरभक्तिरुत्तरा गार्ग्यस्य।—ऋ० प्रा० ६।३६

रूप में 'जल्हवः' पद को प्रस्तुत किया है,[1] जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लकार के बाद भी स्वरभक्ति होती है। इसके अतिरिक्त ऋ० प्रा० १।३२ के भाष्य में उवट ने स्पष्टरूपेण कहा है कि स्वरभक्ति रेफ या लकार के सम्बद्ध होती है। रेफ के बाद वाली स्वरभक्ति रेफ के सदृश होती है एवं लकार के बाद वाली स्वरभक्ति लकार के सदृश होती है।[2] वास्तव में रेफ और लकार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के सम्बन्ध में विहित नियम प्रायः दूसरे पर भी लागू होते हैं। इसलिये भाष्यकार ने लकार के बाद में भी स्वरभक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। वा० प्रा० ४।१७ में सूत्रकार ने यद्यपि स्वरभक्ति संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु स्वरभक्ति के स्वरूप के विषय में विधान किया है। इसके अनुसार स्वर हो बाद में जिसके ऐसा ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर रेफ और लकार सर्वत्र क्रमशः ऋवर्ण एवं लृवर्ण के सदृश ध्वनियों से व्यवहित हो जाते हैं।[3] वा० प्रा० के इसी सूत्र पर भाष्य में उवट ने सूत्र में प्रयुक्त 'सर्वत्र' शब्द का अर्थ संहिता-पाठ, पदपाठ, नाना-पद तथा अन्तः-पद किया है।[4] अर्थात् उपर्युक्त परिस्थिति के उत्पन्न होने पर संहितापाठ में भी स्वरभक्ति का आगम हो जाता है एवं पदपाठ में भी। इसी प्रकार एक ही पद के मध्य में रेफ अथवा लकार के बाद स्वरपरक ऊष्मवर्ण रहने पर स्वरभक्ति का आगम हो जाता है तथा यदि पूर्ववर्ती पद के अन्त में रेफ अथवा लकार हो तथा परवर्ती पद के आदि में स्वरपरक ऊष्म वर्ण हो, तब भी उन दोनों पदों के मध्य में स्वरभक्ति का आगम हो जायेगा। स्वरभक्ति के परिणामस्वरूप जिन ऋकार और लृकारसदृश ध्वनियों का प्रादुर्भाव होता है, वे ध्वनियाँ व्यञ्जन होती है।[5] च० अ० १।१०१, १०२ के अनुसार स्वर है बाद में जिसके, ऐसा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर अकार की आधी मात्रा काल वाली स्वरभक्ति उत्पन्न होती है तथा कतिपय विद्वान् चौथाई मात्रा काल वाली स्वरभक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं। ऊष्म के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जन बाद में होने पर अकार की चौथाई मात्रा अथवा अकार के आठवें भाग के बराबर मात्रा वाली

---

१. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० ६।५२ पर उवट भाष्य

२. सा स्वरभक्तिः पूर्वं रेफं लकारं वा भजते। रेफादुत्तरा रेफसदृशी भवति लकारादुत्तरा लकारसदृशी भवति।—ऋ० प्रा० १।३२ पर उवट

३. रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणिस्वरोदये सर्वत्र।—वा० प्रा० ४।१७

४. सर्वत्र—संहितायां पदे च अन्तःपदे नानापदे च।—वा० प्रा० ४।१७ पर उवट

५. ऋलृस्वरसदृशौ व्यञ्जनावर्धमात्रिकाविति।—वा० प्रा० ४।१७ पर उवट

स्वरभक्ति होती है ।[1] तात्पर्य यह है कि जब रेफ के बाद स्वरपरक ऊष्म वर्ण होगा तब १/२ मात्रा अथवा १/४ मात्रा काल वाली तथा ऊष्म वर्ण के अतिरिक्त वर्ण बाद में रहने पर १/४ मात्रा अथवा १/८ मात्रा काल वाली स्वरभक्ति का आगम होता है । इस प्रकार च० अ० के अनुसार केवल रेफ के बाद में ही स्वर-भक्ति का आगम होता है तथा वह आगम रेफ के बाद ऊष्म-वर्ण रहने पर तो होता ही है, अन्य व्यञ्जन बाद में होने पर भी होता है । तै० प्रा० २१।१५ में केवल रेफ के बाद स्वरभक्ति का विधान किया गया है ।[2] तै० प्रा० २१।१६ में यह भी विधान किया गया है कि ऊष्मवर्ण का द्वित्व होने पर तथा ऊष्मवर्ण के पश्चात् किसी भी वर्ग का प्रथम-स्पर्श होने पर उनके मध्य में स्वरभक्ति नहीं होती ।[3]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि स्वरभक्ति के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्यों के मत किसी न किसी अंश में भिन्नता रखते हैं । केवल ऋ० प्रा० में ही रेफ के पूर्व में स्वर का होना भी अनिवार्य माना गया है । च० अ० तथा वा० प्रा० परवर्ती ऊष्मवर्ण के बाद में स्वर की सत्ता को आवश्यक मानते हैं । इनके अनुसार यदि ऊष्मवर्ण के बाद स्वर नहीं होगा, तो स्वरभक्ति नहीं होगी । परन्तु तै० प्रा० न तो ऊष्मवर्ण के पश्चात् ही स्वर का होना आवश्यक मानता है तथा न तो रेफ के पूर्व ही स्वर का होना आवश्यक मानता है । परन्तु भाष्यकारों ने स्वरभक्ति के उदाहरण के रूप में जिन शब्दों को उद्धृत किया है, उनमें रेफ के पूर्व तो स्वर का होना आवश्यक है, भले ही ऊष्मवर्ण के बाद स्वर न हो । ऋ० प्रा० एवं च० अ० किसी भी व्यञ्जन के बाद में होने पर तथा रेफ पूर्व में होने पर, रेफ और व्यञ्जन के मध्य स्वरभक्ति के उच्चारण को आवश्यक मानते हैं । लकार के बाद स्वरभक्ति के उच्चारण का स्पष्ट विधान केवल वा० प्रा० में ही किया गया है । ऋ० प्रा० में सूत्रकार ने स्वरभक्ति के सम्बन्ध में कतिपय विशिष्ट तथ्यों को बतलाया है । ऋ० प्रा० ६।५० में यह कहा गया है कि कतिपय आचार्य स्वरभक्ति की सत्ता का सर्वत्र अभाव मानते हैं ।[4] उनके अनुसार स्वरभक्ति का

---

१. रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारयार्धं चतुर्थमित्येके अन्यस्मिन्व्यञ्जने चतुर्थ-मष्ट्यं वा ।—च० अ० १।१०१, १०२

२. रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः ।—तै० प्रा० २१।१५

३. न क्रमे प्रथम परे प्रथमपरे ।—२१।१६

४. सर्वत्रैके स्वरभक्तेरभावम् ।—ऋ० प्रा० ६।५०

आगमन न एक पद में होता है और न नाना पदों में ही होता है। ६।५१ में यह बतलाया गया है कि कतिपय आचार्य रेफ से बाद में उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति को विद्यमान मानते हैं।[1] इसी प्रकार ऋ० प्रा० ६।५२ में यह बतलाया गया है कि कतिपय आचार्य स्वरभक्ति की सत्ता को केवल उस स्थान पर स्वीकार करते हैं जहाँ अद्विरुक्त ऊष्म वर्ण बाद में हो।[2] उदाहरणार्थ—र्बहि, अर्दशि, जल्हवः इत्यादि स्थलों पर स्वरभक्ति होती है। परन्तु इन आचार्यों के अनुसार 'वर्ष्ष्यान्' तथा 'अदर्श्शयायती' आदि स्थलों में स्वरभक्ति नहीं होती क्योंकि इन शब्दों में रेफ के बाद में द्विरुक्त ऊष्म वर्ण क्रमशः 'षकार' तथा 'शकार' विद्यमान हैं।

स्वरभक्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से ऐसा स्पष्ट होता है, कि स्वरभक्ति भी अभिनिधान की भाँति वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। भाषा की स्वभाविक प्रवृत्ति नहीं है। वास्तव में संहितापाठ को अविकृत रखना वैदिक-परम्परा का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसी आधार पर आगमस्वरूप स्वरभक्ति का विरोध कतिपय आचार्यों ने किया है परन्तु कतिपय आचार्य ऐसे भी रहे हैं, जिन्होंने इस रूढ़िगत दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है कि कतिपय ऐसे व्यञ्जनसंयोग हैं, जिनका उच्चारण सरलता से नहीं हो पाता है। ऐसे स्थलों के लिए स्वरभक्ति को अपनाया जा सकता है, किन्तु इस प्रक्रिया को किस सीमा तक अपनाया जाना चाहिए इस विषय में मतभेद है। कतिपय आचार्यों का विचार है कि स्वरभक्ति की सहायता केवल वहीं पर लेनी चाहिए, जहाँ संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण करना वास्तव में कठिन है। अर्थात् जहाँ पर बिना किसी स्वर का अतिरिक्त उच्चारण किये उस संयोग को उच्चरित नहीं किया जा सकता। दूसरों आचार्यों का कहना है कि उन सभी स्थलों पर स्वरभक्ति का उच्चारण किया जाना चाहिए, जहाँ पर संयुक्तोच्चारण में थोड़ी भी कठिनता होती हो।

कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों में भी स्वरभक्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियमों का विधान किया गया है। या० शि० में कहा गया है—जहाँ पर रेफ और लकार के बाद स्वरपरक ऊष्म वर्ण हों, वहाँ पर ऊष्म-वर्ण और उस रेफ अथवा लकार के बाद उसी रेफ अथवा लकार के स्वरूप वाली स्वरभक्ति का

---

१. रेफोपधामपरे विद्यमानाम्।—ऋ० प्रा० ६।५१

२. अक्रान्तोष्मप्रत्ययाभावमेके।—ऋ० प्रा० ६।५२

उच्चारण होता है।[1] इसी प्रकार 'प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा' में भी स्वरपरक ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर ही पूर्ववर्ती रेफ अथवा लकार के पश्चात् स्वरभक्ति के उच्चारण का विधान प्राप्त होता है।[2] या० शि० में स्वरभक्ति को पांच प्रकार का बतलाया गया है। रेफ और हकार के मध्य होने वाली स्वरभक्ति 'करिणी', लकार और हकार के मध्य होने वाली 'कुर्विणी' रेफ और शकार के मध्य होने वाली 'हरिणी', लकार और शकार के मध्य होने वाली स्वरभक्ति 'हरिता' तथा रेफ और षकार के मध्य होने वाली स्वरभक्ति 'हंसपदा' कही जाती है। या० शि० में विहित स्वरभक्ति के प्रभेदों को उदाहरण सहित इस प्रकार दिखलाया जा सकता है—

नाम	प्रक्रिया	उदाहरण
करिणी	रेफ+हकार	बर्हिश्च
कुर्विणी	लकार+हकार	उप बल्हेति
हरिणी	रेफ+शकार	दर्शतम्
हरिता	लकार+शकार	शतवल्शः
हंसपदा	रेफ+षकार	वर्षो, वर्षीयसि

ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण वाजसनेयी संहिता में रेफ और लकार के साथ होने वाले ऊष्म वर्णों के संयोग के उपर्युक्त पांच प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। अतः स्वरभक्ति को भी पांच प्रकार का बतलाया गया है।[3] 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में रेफ के बाद ऋकार आने पर भी स्वरभक्ति का विधान किया गया है। इस शिक्षा के अनुसार 'निर्ऋति' पद में भी स्वरभक्ति होती है। परन्तु प्रातिशाख्यों तथा अन्य किसी भी ध्वनि सम्बन्धी ग्रन्थ में रेफ और ऋकार के संयोग में स्वर-भक्ति का विधान नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में 'सम्प्रदाय प्रबोधिनी शिक्षा' का मत उल्लेखनीय है—इसके अनुसार माध्यन्दिनीयों के 'गौड़ सम्प्रदाय' में रेफ एवं ऋकार के योग में स्वरभक्ति का उच्चारण किया जाता है, परन्तु 'दाक्षिणात्य

---

१. रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः। स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते।—या० शि० १६

२. रेफलकारौ ऋलृवर्णाभ्यां ऋलृशब्दश्रुतिभ्यां यथासंख्यं व्यवधीयते।—प्रा० प्र० शि०

३. करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा। तद्वत् हंसपदा नाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः।—या० शि०, करिणीरहयोर्योगे कुर्विणी लहकारयोः। हरिणी-रशयोर्योगे हरिता लशकारयोः॥ या तु हंसपदानाम सा तु रेफषकारयोः। —या० शि०

सम्प्रदाय' में स्वरभक्ति का उच्चारण नहीं किया जाता है।[1] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दोनों ही सम्प्रदायों के अध्येता शतपथ-ब्राह्मण के अध्ययन में रेफ तथा ऋकार के योग में स्वरभक्ति की सत्ता का समादर करते हैं।

स्वरभक्ति की मात्रा

प्रातिशाख्यों में स्वरभक्ति की मात्रा के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म विधान प्राप्त होते हैं। ऋ० प्रा० के अनुसार स्वरभक्ति दो प्रकार की होती है—ह्रस्व एवं दीर्घ। जिस स्वरभक्ति के बाद ऊष्म वर्ण हो वह दीर्घ होती है तथा जब उसी ऊष्म वर्ण का द्वित्व हुआ हो तो, वह ह्रस्व स्वरभक्ति होती है।[2] ऋ० प्रा० १।३५ में ह्रस्व स्वरभक्ति को आधी से कम अर्थात् चौथाई मात्रा काल वाली कहा गया है।[3] तथा ऋ० प्रा० १।३३ में दीर्घ स्वरभक्ति को आधी मात्रा काल वाली कहा गया है।[4] 'कर्हि' एवं 'प्रत्यु अर्दर्शि' आदि पदों में रेफ के बाद क्रमशः हकार तथा शकार हैं। ये ऊष्म वर्ण हैं, अतः इन स्थलों पर उच्चरित होने वाली स्वरभक्ति दीर्घ कही जाती है। इसी प्रकार 'वर्ष्ष्यान्' पद में ऊष्म वर्ण 'षकार' का द्वित्व हुआ है। अतः इस पद में उच्चरित होने वाली स्वरभक्ति ह्रस्व कही जाती है। च० अ० १।१०१, १०२ के अनुसार के रेफ के बाद ऊष्म वर्ण होने पर उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति $\frac{1}{2}$ मात्रा काल वाली 'अकार' ध्वनि के सदृश होती है तथा कतिपय आचार्य $\frac{1}{4}$ मात्रा काल वाली ध्वनि मानते हैं। ऊष्मातिरिक्त व्यञ्जन बाद में होने पर उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति $\frac{1}{4}$ मात्रा काल वाली अथवा $\frac{1}{8}$ मात्रा काल वाली होती है।[5] अन्य प्रातिशाख्यों में स्वरभक्ति के उच्चारण में लगने वाले काल के विषय में किसी प्रकार का विधान नहीं प्राप्त होता है। तै० प्रा० १।१ की व्याख्या में त्रिभाष्यरत्नकार ने स्वरभक्ति को वर्णमाला में स्थान दिया है तथा स्वरभक्ति की गणना व्यञ्जन वर्णों

---

१. ऋकारात् पूर्ववतो रेफो गौडाचार्यैः स्वरश्रुतिः। दक्षिणात्यैर्यथालोकं कथ्यते नु परस्परम्।—सम्प्रदायप्रबोधिनी-शिक्षा १६

२. द्राघीयसी तूष्मपरा। इतरा क्रमे।—ऋ० प्रा० ६।४८, ४६

३. अर्धोनान्या।—ऋ० प्रा० १।३५

४. द्राघीयसी सार्द्धमात्रा।—ऋ० प्रा० १।३३

५. रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धं चतुर्थमित्येके अन्यस्मिन् व्यञ्जने चतुर्थमष्टयं वा।—च० अ० १।१०१, १०२

के अन्तर्गत की है। तै० प्रा० १।३७ में व्यञ्जन वर्णों को अर्धमात्रिक बतलाया गया है।[1] अतः अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वरभक्ति भी व्यञ्जन होने से अर्द्धमात्रा काल वाली होती है। तै० प्रा० २१।१५ की त्रिभाष्य-रत्न व्याख्या में आचार्य वररुचि के मत को उद्धृत किया गया है, इसके अनुसार ऋकार के आदि में अणु अर्थात् $\frac{1}{4}$ मात्रा स्वरभाग होता है तथा अन्त में अणु अर्थात् $\frac{1}{4}$ मात्रा स्वर-भाग होता है। ये आदि और अन्त के अणुमात्रिक भाग स्वरभक्ति नाम वाले हैं। इस प्रकार वह स्वरभक्ति अर्द्धमात्रा काल वाली होती है।[2] मात्रा सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊष्म वर्ण के पूर्व उच्चरित होने वाली स्वरभक्ति की मात्रा अन्य व्यञ्जनों के पूर्व उच्चरित होने वाली स्वरभक्ति की मात्रा की अपेक्षा अधिक होती है।

स्वरभक्ति का उच्चारण

स्वरभक्ति के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के विधान प्राप्त होते हैं। इन विधानों के स्वरूप में मतभेद का कारण शाखाभेद है। अर्थात् वेदों की विभिन्न शाखाओं में स्वरभक्ति का उच्चा-रण विभिन्न प्रकार से किया जाता था। 'केशवी' शिक्षा एवं प्रतिज्ञा परिशिष्ट अनुसार स्वरभक्ति का उच्चारण 'एकार' की भांति करना चाहिए।[3] इस प्रकार 'दर्शतम्' पद में स्वरभक्ति का उच्चारण करने पर इस पद को 'दरेशतम्' के रूप में उच्चरित करना चाहिए। इसी प्रकार 'पर्शव्येन' का उच्चारण 'परेशव्येन' तथा 'शतवल्शः का उच्चारण 'शतवलेशः' के रूप में होना चाहिए। 'लोमशी'-शिक्षा स्वरभक्ति का उच्चारण अकार के रूप में करने का विधान करती है।[4] याज्ञ-वल्क्य एवं माण्डूकी दोनों ही शिक्षाएँ स्वरभक्ति के इकार-सदृश उच्चारण तथा उकार-सदृश उच्चारण एवं 'ग्रस्त' संज्ञक दोष का निषेध करती हैं। इनके अनुसार स्वरभक्ति के उपर्युक्त तीनों प्रकार का उच्चारण दोषपूर्ण कहा जाता है। या०

---

१. द्रष्टव्य।—तै० प्रा० १।१ पर त्रिभाष्यरत्न

२. द्रष्टव्य।—तै० प्रा० २१।१५ पर त्रिभाष्यरत्न

३. अह्लशल्यूर्ध्वरेफस्य सैकारः प्राक्च।—केशवी शि० ४, अथापरान्तस्थस्या-युक्तान्यहलः संयुक्तस्योष्मऋकाररेकार सहितोच्चारणम्। एवं तृतीयान्तस्थस्य क्वचित् ऋकारस्य तु संयुक्तासंयुक्तस्याविशेषेण सर्वत्रैवम्।—प्र० परि० २।४

४. स्वरभक्तेस्तथैव च, अवर्णवत्प्रयोगः। लोमशी शिक्षा।—शि० सं० पृ० ४६०

शि० में स्पष्टतः कहा गया है कि स्वरभक्ति के उच्चारणकर्ता को तीन दोषों से बचना चाहिए। स्वरभक्ति को कभी भी इकार के रूप में, उकार के रूप में एवं ग्रस्त संज्ञक दोष के रूप में उच्चरित नहीं करना चाहिए। 'ग्रस्त'-संज्ञक दोष का तात्पर्य ऋ० प्रा० १४।८ के भाष्य में उवट ने जिह्वामूल का निग्रह बतलाया है। अर्थात् किसी वर्ण को खींचकर जिह्वामूल से उच्चरित कर देना 'ग्रस्त-संज्ञक' दोष है। जिह्वामूल से अकार का उच्चारण होता है, अतः 'ग्रस्त-दोष' का तात्पर्य है—अकार के रूप में उच्चरित होना'। 'ग्रस्त' दोष का तात्पर्य 'अव्यक्तता' भी है। अतः स्वरभक्ति का उच्चारण इस रूप में करना चाहिए, जिससे उसकी ध्वनि अव्यक्त न रहे, व्यक्त हो जाय। या० शि० में स्वरभक्ति के उच्चारण के सम्बन्ध में कहा गया है कि रेफ और ऊष्म वर्ण के संयोग में पूर्ववर्ती रेफ में स्वर वर्ण का आक्रमण अर्थात् संचार करके पढ़ना चाहिए।[1] परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है—यह संचार्यमाण स्वर इकार अथवा उकार नहीं होना चाहिए। वा० प्रा० में ऋकार एवं लृकार की श्रुतिसदृश स्वरभक्ति के उच्चारण का विधान तो किया गया है, परन्तु इसके वास्तविक उच्चारण के प्रसङ्ग में कुछ भी नहीं कहा गया है। ऋ० प्रा० ६।५३ में आचार्य शौनक ने कतिपय आचार्यों के स्वरभक्ति के उच्चारण सम्बन्धी विधानों को स्पष्ट किया है। इसके अनुसार स्वरभक्ति केवल ऋकार रूप ही नहीं होती, अपितु पूर्ववर्ती स्वर अथवा परवर्ती स्वर के रूप वाली होती है।[2] 'धूर्षदम्' में स्वरभक्ति उकार रूप है एवं 'बर्हिषदः' में स्वरभक्ति इकार रूप है। तात्पर्य यह है कि धूर्षदम् का उच्चारण 'धूरुषदम्' एवं बर्हिदः का उच्चारण 'बरिहिषदः' के रूप में करना चाहिए।

कतिपय संहिता ग्रन्थों को देखने से भी स्वरभक्ति के उच्चारण के ऊपर कुछ प्रकाश पड़ता है। मैत्रायणी संहिता (१।१।२) तथा कपिष्ठल संहिता (१।२) में 'शतवल्शम्' का पाठ 'शतवलिशम्' मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इन शाखाओं में स्वरभक्ति का उच्चारण इकार के रूप में किया जाता है। लघु माध्यन्दिनीय शि० २८ में कहा गया है कि सभी स्थलों पर ऋकार का उच्चारण एकार के समान करना चाहिए। अतः इस शिक्षा के अनुसार रेफ के बाद में उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति एकार के सदृश होती है।

वास्तव में उच्चारण के प्रसंग में क्षेत्र-विशेष का उच्चारण दूसरे क्षेत्रों के उच्चारण से कुछ अंशों में भिन्नता अवश्य रखता रहा होगा। तत्कालीन बोलियों

---

१. स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते।—या० शि०
२. पूर्वोत्तरस्वरसरूपतां च।—ऋ० प्रा० ६।५३

में उपरिनिर्दिष्ट सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्तमान रही होंगी, जिससे स्वरभक्ति को किसी स्थल पर एकार के रूप में, किसी अन्य स्थल पर उकार के रूप में तथा किसी स्थल पर अकार के रूप में उच्चरित किया जाता रहा होगा। पालि भाषा में 'अरहा' तथा 'अरिहा' दोनों ही प्रकार के उच्चारण प्राप्त होते हैं, जिनमें अकार तथा इकार दोनों ही रूपों में स्वरभक्ति का उच्चारण होता था। शिक्षायें स्वरभक्ति के एकार के रूप में उच्चारण करने पर विशेष बल देती हैं।[1] परन्तु निश्चित रूप से यह कहना असम्भव है कि स्वरभक्ति का शुद्ध उच्चारण किस प्रकार से करना चाहिए। पालि तथा प्राकृत भाषाओं के रूपों को देखने से तो यही समझ में आता है कि स्वरभक्ति का उच्चारण 'इकार' के रूप में करना अधिक प्रचलित था।

स्वरभक्ति का अक्षरत्व

पूर्ववर्ती अध्याय में स्वरभक्ति के अङ्गत्व के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप में विचार किया जा चुका है। अक्षर का मुख्य आधार स्वर है, तथा स्वरभक्ति स्वर का अंश होती है। अर्द्धमात्रिका अथवा १।४ मात्रिका ध्वनि किसी भी स्थिति में अक्षर का निर्माण नहीं कर सकती। अतः यह भी सिद्ध है कि किसी भी स्थिति में स्वरभक्ति स्वतंत्र अक्षर नहीं हो सकती। यह अपने पूर्ववर्ती स्वर के स्वराघात से सस्वर होती है। स्वरभक्ति के अक्षरत्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब स्वरभक्ति का उच्चारण एकार अथवा इकार के रूप में किया जाता है तब एकार तथा इकार को स्वर होने के कारण स्वरभक्ति को अक्षर भी होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वरभक्ति का एकार अथवा इकार के रूप में होने वाला उच्चारण अर्द्धमात्रिक ध्वनि के रूप में होता है। अर्द्धमात्रिक ध्वनि स्वतः अक्षर का निर्माण कर सकने में असमर्थ होती है। वा० प्रा० ४।१७ के उवट-भाष्य में यह भी कहा गया है कि स्वरभक्ति के रूप में आने वाली ऋकार और ऌकार के सदृश ध्वनि आधी मात्रा वाली है तथा व्यञ्जन है। दूसरे वेदों में वे स्वरभक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं।[2] इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि जब स्वरभक्ति व्यञ्जन है, तो इसके स्वतंत्र अक्षरत्व का प्रश्न असम्भव है। व्यञ्जन होने से स्वरभक्ति अपने पूर्ववर्ती अक्षर का अङ्ग होती है।

---

१. द्रष्टव्य—शि० सं० पृ० २६२-२६४

२. यौ तौ व्यवधायकौ तौ स्वरावुत व्यञ्जनाविति। शृणु! ऋऌस्वरसदृशौ व्यञ्जनावर्द्धमात्रिकाविति ब्रूमः। तौ स्वरभक्तिरित्यन्येषु वेदेषु प्रसिद्धौ। —वा० प्रा० ४।१७ पर उवट

स्वरभक्ति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि इसके द्वारा व्यञ्जन संयोग नष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ—गार्हपत्यम्', वेर्ह्लम् इत्यादि पदों में रेफ और हकार के मध्य स्वरभक्ति का उच्चारण होने से रेफ और हकार के संयोग का विनाश नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्वरभक्ति स्वर के सदृश होती है, परन्तु है वास्तव में व्यञ्जन ही। व्यञ्जन से किसी भी संयोग का विनाश नहीं होता। संयोग के विनाश के लिए उनके मध्य स्वर का होना आवश्यक होता है। दूसरी बात यह भी है कि स्वरभक्ति अल्पकालिक होने से इतना सामर्थ्य नहीं रखती कि संयोग को नष्ट कर सके।

स्वरभक्ति के विषय में विशेष

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित स्वरभक्ति-विषयक विधानों के सम्यक् अवलोकन से हमारे सामने कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि स्वरभक्ति संयुक्त उच्चारण में होने वाली कठिनाई का निराकरण करने के लिए वक्ता द्वारा उच्चरित की जाने वाली अतिरिक्त ध्वनि है। यह ध्वनि वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। अर्थात् वक्ता यदि चाहे तो इस ध्वनि का अतिरिक्त उच्चारण करके संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण करे, अथवा बिना अतिरिक्त उच्चारण किये ही संयुक्त व्यञ्जनों को उच्चरित करे। यदि संयुक्तोच्चारण में स्वरभक्ति का उच्चारण आवश्यक होता तो सभी प्रातिशाख्यों में स्वरभक्ति के सम्बन्ध में समान विधान किया गया होता तथा इसके उच्चारण के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद भी न प्राप्त होता। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि स्वरभक्ति के विषय में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। ऋ० प्रा० ६।५० में कहा गया है कि कतिपय आचार्य सर्वत्र स्वरभक्ति का अभाव मानते हैं।[1] उनके अनुसार कहीं भी स्वरभक्ति नहीं होती। इसी प्रकार ऋ० प्रा० में अन्य भी अनेक प्रकार के मतों को उद्धृत किया गया है, जिनके अनुसार स्वरभक्ति किसी स्थल-विशेष पर ही होती है।

स्वरभक्ति के उच्चारण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यद्यपि रेफ और ऊष्म-वर्ण का उच्चारण करना अपेक्षाकृत कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं है। यदि पर्याप्त सावधानी से उच्चारण किया जाय, तो रेफ अथवा लकार के बाद किसी भी ध्वनि का अतिरिक्त उच्चारण किये बिना ही परवर्ती ऊष्म-वर्ण का उच्चारण हो सकता है। जैसा कि वेदों की कतिपय शाखाओं में होता था। इस प्रसङ्ग में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धारा-प्रवाह पाठ में जब रेफ

---

१. सर्वत्रैके स्वरभक्तेरभावम्।—ऋ० प्रा० ६।५०

अथवा लकार के पश्चात् किसी ऊष्म-ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब रेफ अथवा लकार के उच्चारण में जिह्वा उच्चारण-स्थान के साथ ईषत्स्पर्श की अवस्था में रहती है, जिससे मुखविवर से वायु निरन्तर बाहर निकलती रहती है। पुनः जब परवर्ती ऊष्म-वर्ण के उच्चारण के लिये उच्चारणाङ्ग तैयार होते हैं, तो ऊष्म-वर्णों के उच्चारण के समय वायु की बहिर्गमन क्रिया की निरन्तरता बनी रहने से उस पूर्ववर्ती ध्वनि रेफ अथवा लकार के सवर्णी स्वर के अतिह्रस्व रूप का अन्तर्भाव होकर तब परवर्ती ऊष्म-ध्वनि का उच्चारण होता है। इस प्रक्रिया का प्रधान कारण है दोनों (रेफ, लकार तथा ऊष्म) वर्णों के उच्चारण में वायु की एक ही प्रकार की स्थिति का रहना। अर्थात् रेफ अथवा लकार तथा ऊष्मवर्णों के उच्चारण में वायु मुखविवर द्वारा निरन्तर बाहर निकलती रहती है। स्पर्श-ध्वनियों की अपेक्षा संघर्षी (ऊष्म) ध्वनियों के उच्चारण में वायु का अवरोध कम होता है, इसीलिए संघर्षी ध्वनियों का सम्बन्ध स्वरों के साथ अपेक्षाकृत घनिष्ठ होता है। प्रो० पासी ने तो यहाँ तक कहा है कि सभी संघर्षी-ध्वनियों को स्वरों में परिवर्तित किया जा सकता है, यदि उनके उच्चारण में वायु-मार्ग को विस्तृत कर दिया जाय। इन विवेचनों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि भारतीय भाषाओं में समीकरण की पश्चगामी प्रवृत्ति अधिक जोरों पर थी, जिससे रेफ के स्वरात्मक प्रभाव को अधिक स्पष्ट करने के लिए अनुवर्ती ऊष्म-वर्ण अधिक अनुकूल आधार था। गकार के पूर्व आने वाले स्वर की अपेक्षा हकार से पूर्व आने वाला स्वर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ता है। परन्तु स्वरभक्ति के सम्बन्ध में ध्वन्यात्मक व्याख्या केवल उपर्युक्त तथ्यों से ही पूर्ण नहीं हो पाती। रेफ और लकार के पश्चात् आने वाली स्वरभक्ति के विषय में उपर्युक्त तथ्य कुछ सीमा तक सत्य सिद्ध होता है। ऋ० प्रा० एवं च० अ० में रेफ और लकार के बाद ऊष्म-वर्ण रहने पर होने वाली स्वरभक्ति के मात्राधिक्य के कारण का स्पष्टीकरण इसी बात से हो जाता है कि ऊष्मवर्ण स्वरभक्ति के लिए अधिक प्रबल आधार सिद्ध हुआ है। च० अ० १।१०२ की व्याख्या में ह्विटनी का कथन है कि "दीर्घतर अन्तर्निवेश के लिए संघर्षी-ध्वनि की स्थिति को अधिक महत्व देने का कारण और वह भी तब, जब कोई स्वर पूर्व में हो मुझे स्पष्ट नहीं होता, तथा मैं मानता हूँ कि इस विभेदकता का पता लग सकने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ, किन्तु हिन्दू ध्वनि-वैज्ञानिकों के लिये यह विशेष मान्य है एवं विशेष महत्वपूर्ण है।"[1] प्रस्तुत स्थल पर दीर्घतर अन्तर्निवेश का तात्पर्य है—अधिक काल वाली स्वर-भक्ति। ह्विटनी के उपर्युक्त कथन का आशय ऊष्मवर्ण बाद में होने पर दीर्घ स्वरभक्ति के

---

१. द्रष्टव्य—च० अ० १।१०२ पर ह्विटनी

उत्पन्न होने के कारण की अस्पष्टता ही है। इस प्रश्न का उत्तर सम्भवतः यही हो सकता है, कि ऊष्मवर्ण स्वर के साथ अधिक सामीप्य रखता है, अतः उसके पूर्व में स्थित स्वरभक्ति की मात्रा किञ्चित् दीर्घ हो जाती है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर होने वाली स्वरभक्ति में ऊष्मवर्णों के उच्चारणांश का कुछ भाग सम्मिलित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि पश्चगामी समीकरण के कारण रेफ वर्ण ऊष्म-वर्ण की ओर झुक जाता है, जिसके कारण वह पर्याप्त स्वरात्मकता को प्राप्त कर लेता है। इसी अतिरिक्त स्वरात्मिका ध्वनि को स्वरभक्ति कहा जाता है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार सभी भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जिस संघर्षी-ध्वनि के पूर्व स्वरभक्ति का उच्चारण होता है उसके पश्चात् कोई व्यञ्जन ध्वनि नहीं आना चाहिए।[1] परन्तु ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० में सूत्रकारों ने यह स्पष्टतः नहीं कहा है, कि उस संघर्षी-ध्वनि के बाद स्वर का आना आवश्यक ही है। भाष्यकारों ने स्वरभक्ति के उदाहरण के रूप में ऐसा एक भी शब्द नहीं प्रस्तुत किया है, जिसमें संघर्षी ध्वनि के पश्चात् कोई व्यञ्जन आया हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रातिशाख्यों के काल में संघर्षी-ध्वनियों के बाद स्वर-ध्वनियों का आना आवश्यक नहीं था, जबकि भाष्यकारों के समय तक यह आवश्यक हो गया था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि स्वरभक्ति का सम्बन्ध व्यञ्जनों के संयुक्तोच्चारण से है और वह भी जब रेफ अथवा लकार के पश्चात् कोई ऊष्म-ध्वनि उच्चरित हो रही हो। यद्यपि ऊष्म-ध्वनि के अतिरिक्त जब अन्य कोई भी व्यञ्जन होता था, तब भी स्वरभक्ति का उच्चारण किया जाता था, परन्तु उसकी मात्रा अत्यल्प होती थी। ऊष्मवर्ण जब द्वित्व को प्राप्त कर लेता था तब भी स्वरभक्ति की मात्रा में न्यूनता आ जाती थी। वास्तव में स्वरभक्ति का उच्चारण भाषागत उच्चारण की कठिनता को दूर करने के लिए ही किया जाता था। आज भी हम स्टेशन, स्कूल आदि अंग्रेजी भाषा के शब्दों को एवं स्थान, स्थापन आदि संस्कृत भाषा के शब्दों को बिना उनके पूर्व किसी स्वर का आंशिक उच्चारण किये, उच्चरित करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक इस प्रकार के उच्चारणों को भी स्वरभक्ति-युक्त उच्चारण स्वीकार करते हैं। स्वरभक्ति भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो नहीं कही जा सकती, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि स्वरभक्ति से युक्त करके संयोग का उच्चारण करना अपेक्षाकृत अधिक सरल हो जाता है।

---

१. डॉ० सि० वर्माकृत—A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians

यम

संयोग-विषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य में यम का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में यम के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त विधान किये गये हैं।

यम शब्द का अर्थ

'यम' शब्द नियन्त्रण करना अर्थ वाली 'यम्' धातु से 'घञ्' अथवा 'अच्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—नियन्त्रण। इसकी प्रक्रिया में अननुनासिक स्पर्श और अनुनासिक स्पर्श के संयुक्तोच्चारण में दोनों वर्णों के मध्य एक नासिक्य ध्वनि का आगम हो जाता है, जिसके कारण पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती ध्वनि के साथ संयुक्त होने से नियन्त्रित हो जाती है। वा० प्रा० में यम के लिए 'विच्छेद' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—'भङ्ग होना'। जब अननुनासिक एवं अनुनासिक स्पर्श वर्णों के मध्य एक अतिरिक्त ध्वनि आ जाती है, तब उनके उच्चारण में होने वाले संयोग का विच्छेद हो जाता है। अर्थात् अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के बाद क्रमानुसार अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण होना चाहिए, परन्तु उनके मध्य एक अतिरिक्त ध्वनि के आ जाने से उनके उच्चारण के क्रम का भङ्ग हो जाता है। वा० प्रा० के भाष्यकार उवट एवं अनन्त भट्ट ने 'विच्छेद' शब्द को यम का पर्याय माना है।[1] ह्विटनी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने यम का अर्थ जोड़ा (Twin) किया है। इनके अनुसार यम की प्रक्रिया में पूर्ववर्ती ध्वनि अपने स्वरूप का एक जोड़ा बना लेती है। उस जोड़े में द्वितीय अर्थात् पञ्चम स्पर्श से अव्यवहित-पूर्व उच्चरित होने वाली ध्वनि ही यम कही जाती है। वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा में भी यही तथ्य स्पष्ट किया गया है।[2]

यम का स्वरूप

सभी प्रातिशाख्यों में एक मत से स्वीकार किया गया है कि, जब व्यञ्जन-संयोग में किसी भी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ स्पर्श पूर्व में हो तथा किसी भी वर्ग का पञ्चम स्पर्श बाद में हो तो उन दोनों स्पर्शों के मध्य एक

---

१. विच्छेदो यम इत्यनर्थान्तरम्।—वा० प्रा० ४।१६३ पर उवट, विच्छेदो यम इति पर्यायः।—वा० प्रा० ४।१६३ पर अनन्त भट्ट

२. स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः तस्यैव यम संज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि।—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा १७५

नासिक्य ध्वनि का अतिरिक्त उच्चारण हो जाता है। यही अतिरिक्त उच्चरित होने वाली ध्वनि 'यम' कही जाती है। तात्पर्य यह है कि किसी व्यञ्जन-संयोग में यम का प्रादुर्भाव तभी होता है, जब उस संयोग का पूर्ववर्ती वर्ण किसी भी वर्ग का अपञ्चम स्पर्श हो तथा परवर्ती वर्ण किसी भी वर्ग का पञ्चम स्पर्श हो। यम के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्यों के विधान कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु मूलतः वे सभी विधान एक ही तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वा० प्रा० एवं च० अ० के अनुसार यम का प्रादुर्भाव केवल 'अन्तः पद' में ही होता है। जबकि ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० में इस प्रकार का कोई भी विधान नहीं प्राप्त होता। ऋ० प्रा० एवं तै० प्रा० के भाष्यकारों ने यम का एक भी उदाहरण इस प्रकार का प्रस्तुत नहीं किया है, जिसमें दो पदों के मध्य में यम का प्रादुर्भाव होता हो। दो पदों के उच्चारण में भी जब संहिता के फलस्वरूप पूर्ववर्ती पद का अन्तिम स्पर्श एवं परवर्ती पद का आदि स्पर्श बिना किञ्चित् काल-व्यवधान के उच्चरित किये जाते हैं, तभी उनके मध्य यम का प्रादुर्भाव सम्भव है। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे स्थलों पर भी दोनों पदों की संहिता होने से दोनों पद मिलकर एक पद के समान कार्य करते हैं। अतः सभी प्रातिशाख्यों का मत समान ही सिद्ध होता है। अब क्रमशः प्रत्येक प्रातिशाख्यों एवं उनके भाष्यकारों के यम सम्बन्धी विधानों पर विशद् विचार किया जा रहा है।

ऋ० प्रा० ६।२९ में यह विधान किया गया है, कि अननुनासिक स्पर्श अपने यमों को प्राप्त हो जाते हैं, यदि बाद में अनुनासिक स्पर्श हो।[1] परन्तु ऋ० प्रा० ६।३० में यह भी कहा गया है कि ऊष्म-प्रकृतिक (ऊष्म वर्ण से उत्पन्न होने वाले) स्पर्श अपने यमों को प्राप्त नहीं होते हैं।[2] ऋ० प्रा० में अननुनासिक स्पर्शों को ही यम होने का विधान किया गया है। इस प्रातिशाख्य में स्पष्टरूपेण यह नहीं कहा गया है, कि इन दोनों (अननुनासिक एवं अनुनासिक) स्पर्शों के मध्य यम का प्रादुर्भाव होता है। ऊष्मवर्ण के यम का निषेध या० शि० में भी प्राप्त होता है, परन्तु वहाँ पर यह स्पष्टतः नहीं कहा गया है कि ऊष्मवर्ण यदि परिस्थितिवश स्पर्श-वर्ण में परिवर्तित हो जायँ, तब भी वे यमों को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। या० शि० में कहा गया है कि यदि संघर्षी अथवा अन्तस्थ वर्ण के बाद नासिक्य व्यञ्जन हो तो यम उन्हें उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे मृतक के सम्बन्धी व्यक्ति मृतक के शरीर को श्मशान में छोड़कर चले जाते हैं अथवा जैसे सिंह को

---

१. स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।—ऋ० प्रा० ६।२९

२. न स्पर्शस्योष्मप्रकृतेः प्रतीयाद्यमापत्तिम्।—ऋ० प्रा० ६।३०

देखकर हाथी भाग जाता है।[1] तै० प्रा० २१।१२ में विधान किया गया है कि अनुत्तम-स्पर्श के बाद यदि उत्तम-स्पर्श हो तो अनुत्तम स्पर्श के पश्चात् उसी के आनुपूर्वी नासिक्य ध्वनि का आगम हो जाता है।[2] आनुपूर्व्य का अर्थ त्रिभाष्य-रत्न में 'यथाक्रमात्' बतलाया गया है तथा कहा गया है कि ऐसे अनुत्तम स्पर्श के बाद आनुपूर्व्य रूप से नासिक्य का आगम होता है, जिसके पश्चात् उत्तम-स्पर्श हो। वह नासिक्यागम यथाक्रम से होता है। अर्थात् प्रथम-स्पर्श के बाद प्रथम नासिक्य, द्वितीय-स्पर्श के बाद द्वितीय-नासिक्य का आगम होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।[3] उदाहरणार्थ—'तं प्रत्नथा', 'विद्मा ते' इत्यादि पदों में तकार एवं दकार के पश्चात् क्रमशः नकार एवं मकार नासिक्य-वर्ण आये हैं। इनमें तकार एवं दकार अपञ्चम स्पर्श हैं तथा नकार एवं मकार पञ्चम-स्पर्श हैं। अतः इन दोनों पदों में क्रमशः तकार के स्वरूप की एवं दकार के स्वरूप की नासिक्य ध्वनि का आगम होता है। तै० प्रा० २१।१३ में सूत्रकार ने यह भी स्पष्टरूप से बतला दिया है, कि कतिपय आचार्य इन्हीं नासिक्य ध्वनियों को यम कहते हैं।[4] तै० प्रा० के भाष्यकार भी यम को आगम ही स्वीकार करते हैं। तै० प्रा० में भी अन्तस्थों एवं ऊष्मवर्णों के बाद यम के आगम का विधान नहीं किया गया है, परन्तु तै० प्रा० २१।१३ के वैदिकाभरण भाष्य में किसी शिक्षा से दो कारिकाओं को उद्धृत किया गया है, जिनमें यह स्पष्ट रूप से बतला दिया गया है कि अन्तस्थ-वर्णों एवं श्, ष्, स् के साथ वर्गान्त अर्थात् किसी भी वर्ग के पञ्चम-स्पर्श का संयोग होने पर यम उसी भाँति दूर हट जाते हैं, जैसे सिंह को देखकर हाथी दूर भाग जाता है। इसी प्रकार ऊष्म प्रकृतिक स्पर्श के पश्चात् भी यदि किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो तो यम का आगम नहीं होता।[5] वा०

---

१. पञ्चमा-शषसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि संयुताः। यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः। अथवा (अन्यपाठ)—सिंहं दृष्ट्वा यथा गजः।—या० शि० ९५

२. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः।—तै० प्रा० २१।१२

३. उत्तमपरादनुत्तमात् स्पर्शात् आनुपूर्व्यात् यथाक्रमात् नासिक्यागमाः भवन्ति, प्रथम स्पर्शात् प्रथमनासिक्याः द्वितीयात् द्वितीयः एवम् अन्यत्रापि।—तै० प्रा० २१।१२ पर त्रिभाष्यरत्न

४. तान्यमान्येके।—तै० प्रा० २१।१३

५. वर्गान्तं शषसैस्सार्धमन्तस्थाभिश्च संयुतम्। दृष्ट्वा यमाः निवर्तन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजः। ऊष्मप्रकृतिकात्स्पर्शात्पञ्चमः परतो यदि। तत्र नैव यमापत्तिः इष्यते नात्र संशयः।—तै० प्रा० २१।१३ पर वै०

प्रा० ४।१६३ के अनुसार एक ही पद में अपञ्चम-स्पर्श के बाद पञ्चम-स्पर्श रहने पर अपञ्चम-स्पर्श विच्छेद को प्राप्त हो जाता है।[1] इस प्रसङ्ग में यह कहा जा चुका है, कि वा० प्रा० के दोनों ही भाष्यकारों ने 'विच्छेद' शब्द को यम का पर्याय स्वीकार किया है। वा० प्रा० के सूत्रकार एवं भाष्यकारद्वय यम को आगम नहीं स्वीकार करते हैं। क्योंकि सूत्रकार को यदि यम को आगम-स्वरूप आई हुई ध्वनि कहना अभीष्ट होता तो अपञ्चम शब्द में पञ्चमीविभक्ति का प्रयोग किया गया होता। क्योंकि जिस पद के पश्चात् आगम का विधान होता है, उसमें पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। दूसरा कारण यह भी है कि भाष्यकार उवट ने भाष्य में 'आपद्यते' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आगम नहीं है।[2] वा० प्रा० के इसी सूत्र (४।१६३) के भाष्य में उवट ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात बतलायी है, जिसके अनुसार स्वर से बाद में स्थित संयोगादि स्पर्श का द्वित्व हो जाता है। पुनः इस सूत्र से द्वितीय वर्ण की यम संज्ञा हो जाती है।[3] तात्पर्य यह है कि किसी भी पद में स्वर से परवर्ती संयोगादि-वर्ण का उच्चारण दो बार होता है, इसी दो बार उच्चरित होने वाले वर्णों में से द्वितीय वर्ण को यम कहा जाता है। उवट ने रुक्क्मम् पद को उदाहृत किया है। इसमें सर्वप्रथम ककार का द्वित्व हुआ हैं, पुनः द्वितीय ककार यम को प्राप्त हो गया है। उवट ने 'त्मन्या' पद को प्रत्युदाहरण के रूप में उद्धृत करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार के पदों में द्वित्व न होने से तकार एवं मकार का 'संयोग' है, उनके मध्य में यम नहीं हुआ है। वस्तुतः इस प्रकार के संयोग में वा० प्रा० ४।१०१ के अनुसार द्वित्व होने पर यम का प्रादुर्भाव होता है।[4] इसी दित्वीकृत वर्णों में द्वितीय वर्ण का उच्चारण नासिक्य गुण से युक्त हो जाता है तथा यही ध्वनि यम कहलाती है। यदि किसी व्यञ्जनसंयोग में संयोगादि-वर्ण का किसी कारणवश द्वित्व नहीं होता है, तो अपञ्चम के पश्चात्-पञ्चम स्पर्श आने के बाद भी दोनों स्पर्श-वर्ण संयोग का निर्माण तो कर लेते हैं परन्तु उनके मध्य यम

---

१. अन्तः पदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम्।—वा० प्रा० ४।१६३

२. स्पर्शः पञ्चमेषु स्पर्शेषु प्रत्ययेषु विच्छेदमापद्यते।—वा० प्रा० ४।१६३ पर उवट

३. अत्र स्वरात्संयोगादिः इत्यादिना ककारस्य द्विर्भावे कृतेऽनेनसूत्रेण द्वितीयस्य ककारस्य यम इत्ययं कार्यक्रमः क्रियते।......'त्मन्या' 'समञ्जन' अत्र द्विरुक्त्यभावात् तकारमकारयोः संयोगः।—वा० प्रा० ४।१६३ पर उवट

४. स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र।— वा० प्रा० ४।१०१

का प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। च० अ० १।९९ में यम के विषय में विधान करते हुए कहा गया है कि एक ही पद में अनुत्तमस्पर्श के बाद उत्तमस्पर्श आने पर उनके मध्य क्रम से यमों द्वारा व्यवधान हो जाता है।[1] अर्थात् उत्तम स्पर्श तथा अनुत्तम स्पर्श के मध्य यम का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऋ० तं० १।२ में भी स्पष्ट रूप से यही कहा गया है, कि अपञ्चम वर्ण (अनन्त्य) के साथ पञ्चम वर्ण (अन्त्य) का संयोग होने पर उन दोनों ध्वनियों के मध्य पूर्ववर्ती ध्वनि के गुणों से युक्त यम का प्रादुर्भाव होता है।[2]

यम की प्रक्रिया में होता यह है कि जब किसी व्यञ्जन-संयोग के पूर्व स्वर ध्वनि हो, तथा व्यञ्जन-संयोग का प्रथम वर्ण किसी भी वर्ग का पञ्चम व्यतिरिक्त वर्ण हो तथा साथ ही द्वितीय वर्ण किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण हो, तब सर्वप्रथम संयोगादिवर्ण का द्वित्व होता है। तत्पश्चात् द्वित्वीकृत समूह का दूसरा अवयव परवर्ती नासिक्य ध्वनि के प्रभाव से अनुनासिक गुण से युक्त होकर उच्चरित होता है। इस प्रकार इसी द्वितीय वर्ण की संज्ञा 'यम' हो जाती है। परन्तु ऋ० प्रा० १।२५ एवं वा० प्रा० १।१०३ के उवट-भाष्य को देखने से यम के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ संदेह उत्पन्न होता है। ऋ० प्रा० के उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में उवट ने 'अग्निम्' पद को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है और कहा है कि 'अग्ग्निम्' इस पद में दो गकारों और नकार का संयोग है। इनमें प्रथम गकार क्रमज है, अतः वह पूर्व-स्वर का अङ्ग है और पूर्ववर्ती स्वर के अनुदात्त होने से अनुदात्त के समान सुना जाता है। द्वितीय गकार संयोगादि है, यमीभूत वह गकार पूर्ववर्ती स्वर का भी अङ्ग है और विकल्प पक्ष में परवर्ती स्वर का भी अङ्ग है।[3] उवट के इस विवरण से तो यह स्पष्ट है कि द्वित्वीकृत गकार-समूह में द्वितीय गकार की ही संज्ञा यम है। जबकि वा० प्रा० १।१०३ के भाष्य में 'रुक्क्मम्' पद को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके उवट ने इस पद में दो ककार यम और मकार को संयुक्त व्यञ्जन बतलाया है।[4] इस कथन के आधार पर तो

---

१. समानपदेऽनुत्तमात्स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्।—च० अ० १।९९

२. अनन्त्यान्त्यसंयोगे यमः पूर्वगुणः।—ऋ० तं० १।२

३. अग्ग्निमीळे इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः। तत्र प्रथमो गकारः क्रमजः पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं तस्यचानुदात्तत्वादनुदात्तच्छ्रूयते। द्वितीयः गकारः संयोगादिः स यमीभूतः पूर्वस्य वा स्वरस्याङ्गम् परस्य वा ....।—ऋ० प्रा० १।२५ पर उवट

४. यथा रुक्क्मम्। ककारद्वययममकाराः संयोगः।—वा० प्रा० १।१०३ पर उवट

यह कहना अधिक समीचीन होगा कि यम के रूप में आई हुई ध्वनि द्वितीय ककार और मकार के मध्य में स्थित होती है। वा० प्रा० ४।१६३ के भाष्य में भी उवट ने 'दद्ध्ना' पद को उदाहृत करते हुए इसमें दकार, धकार, यम तथा नकार को संयोग स्वीकार किया है।[1] इससे भी उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। 'वर्णरत्नप्रदीपिका' शिक्षा में भी स्पष्टतः यही कहा गया है कि स्वर के बाद आने वाला संयोगादि वर्ण जब द्वित्व को प्राप्त करता है, तो उसी का दूसरा वर्ण 'यम' कहलाता है।[2] वास्तव में जब किसी व्यञ्जन-संयोग में पूर्ववर्ती वर्ण अपञ्चम-स्पर्श होता है तथा परवर्ती वर्ग पञ्चम-स्पर्श होता है एवं संयोग के पूर्व कोई स्वर ध्वनि होती है, तब स्वर के प्रभाव से संयोगादि वर्ण द्वित्व को प्राप्त कर लेता है। इस द्वित्वीकृत समूह का द्वितीय अवयव अपने परवर्ती नासिक्य ध्वनि के प्रभाव के कारण नासिक्य-गुण से युक्त होकर उच्चरित हो जाता है। इस प्रकार 'रुक्मम्' का उच्चारण रुक्क॑मम् के रूप में होता है। 'वर्णरत्नप्रदीपिका' शिक्षा में यम से युक्त संयोग को 'लौह पिण्ड' के समान बतलाया गया है तथा यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार लौहपिण्ड को आसानी से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इन ध्वनियों को अलग-अलग करके उच्चरित करना अत्यन्त कठिन है। इस संयोग में पूर्ववर्ती ध्वनि का परवर्ती ध्वनि के साथ इतना घनिष्ठ संयोग रहता है कि पूर्ववर्ती ध्वनि भी परवर्ती ध्वनि के प्रभाव से नासिक्यता-युक्त होकर उच्चरित होती है और पूर्ववर्ती ध्वनि में नासिक्यता आ जाने से उसे यम की संज्ञा प्रदान की गई है।[3] वा० प्रा० ४।१६४ में भी संघर्षी ध्वनि के बाद यम का निषेध किया गया है।[4] शिक्षा-ग्रन्थों में संघर्षी ध्वनि से युक्त व्यञ्जन-संयोग को ऊर्णापिण्ड के समान बतलाया गया है।[5] जिस प्रकार ऊन के गोले में दो तागों का परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, दोनों ही परस्पर पृथक्-पृथक् रहते हैं उसी

---

१. 'दद्ध्ना'। दकारधकारयमौ नकारश्च संयोगः।—वा० प्रा० ४।१६३ पर उवट

२. स्वरात्संयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः। तस्यैव यम संज्ञा स्यात् पञ्चमैरन्वितो यदि॥—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा १७५

३. स्पर्शानां पञ्चमैर्योगे चत्वारो ये यमाः स्मृताः। अयस्पिण्डेन ते तुल्याः घनबन्धाः प्रकीर्तिताः।—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा १७६

४. ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः।—वा० प्रा० ४।१६४

५. यमास्तदा निवर्तन्ते ऊष्मामध्ये भवेद् यदि। ऊर्णापिण्डेन ते तुल्या……।
—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा १७७

प्रकार उपर्युक्त संयोग में दोनों ही ध्वनियाँ परस्पर पृथक्-पृथक् रहती हैं। एक के प्रभाव से दूसरी ध्वनि में किसी प्रकार का विकार नहीं होने पाता।

ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में यम के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले विधानों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में यम को आगम ध्वनि माना गया है। पा० शि० ४ पर पञ्जिकाभाष्य में यम-सम्बन्धी व्याख्याओं को प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है कि नारद तथा औदव्रजि प्रभृति आचार्यों ने यम को आगम माना है, किन्तु आचार्य शौनक यम को वर्णापत्ति मानते हैं।[1] इसी प्रसङ्ग में पाश्चात्य वैदिक विद्वान् मैक्समूलर और प्रसिद्ध ध्वनि-वैज्ञानिक रेग्नियर के यम सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कर देना भी श्रेयस्कर होगा। प्रो० मैक्समूलर ने ऋ० प्रा० के यम-विधायक सूत्र की व्याख्या में स्पष्टतः कहा है कि जब अननुनासिक स्पर्श के बाद अनुनासिक स्पर्श आता है, तब अनुनासिक स्पर्श के पूर्व में एक नासिक्य ध्वनि का आगम हो जाता है, जिसे यम कहते हैं। यही तथ्य रेग्नियर को भी मान्य है।

परन्तु विचार करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त दोनों पाश्चात्य विद्वान् यम के स्वरूप को ठीक से नहीं समझ सके हैं। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि पाणिनि-सम्प्रदाय के वैयाकरणों तथा प्रातिशाख्यकारों का मत है कि पञ्चमी विभक्ति से विहित कार्य उस पञ्चम्यन्त पद से बाद स्थित अवयव को होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिन सूत्रों में पञ्चमी का प्रयोग है, उनके अनुसार उस स्पर्श के बाद में यम का आगम स्वीकार किया गया है तथा जिन सूत्रों में प्रथमा का प्रयोग है, उनके अनुसार उसी प्रथमान्त को ही यमापत्ति होती है। ऋ० प्रा० के यम-विधायक सूत्र में 'स्पर्शाः' शब्द को प्रथमान्त होने के कारण यम को कभी उस प्रथमान्त से पूर्व नहीं माना जा सकता। दूसरा कारण यह है कि जब दो स्पर्शों के संयोग में यम का प्रादुर्भाव होता है, तो जिस प्रकार स्वरभक्ति, अभिनिधान, स्फोटन आदि विशिष्टतायें संयुक्त होने वाले दोनों वर्णों के मध्य में आती हैं, उसी प्रकार यम को भी संयुक्त होने वाले दोनों वर्णों के मध्य आना चाहिए। इस प्रसङ्ग में डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री का कथन है कि—"यह बात ध्यान में रखने की है कि तै० प्रा० और च० अ० दोनों प्राति-

---

१. नारदौदव्रज्योर्मतेन यमो वर्णागम इति विधीयते।······अन्ये तु यमं वर्णापत्तिमन्यन्ते। तथा च शौनकः स्पर्शायमाऽननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।—पा० शि० ४ पर पञ्जिका भाष्य

शाख्य यम ध्वनि को पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श एवं परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के मध्य में आगमात्मक ध्वनि मानते हैं। इस सूत्र (ऋ० प्रा० ६।२९) की शब्दावली यह बतलाती है कि वे यम अननुनासिक स्पर्शों के स्थान पर आने वाले वर्ण हैं। जो कुछ भी हो यमों को अननुनासिक स्पर्शों के पूर्व में संलग्न कदापि नहीं माना जा सकता है, जैसा कि मैक्समूलर और रेग्नियर का मत है।''[1]

च० अ० १।९९ की व्याख्या में ह्विटनी ने यम की अन्वर्यता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि प्रत्येक अनुनासिकपूर्व अननुनासिक स्पर्श अपने स्वरूप का एक जोड़ा हो जाता है। मौलिक स्पर्श का जो भाग बचा रहता है, वह जोड़े में से एक है और इसका नासिक्य भाग जोड़े का दूसरा अवयव है। उन दोनों में बाद वाला यम है, जिसे जोड़ा बनाने के लिए जोड़ दिया जाता है।[2] ऋ० प्रा० ६।२९ में यह विधान किया गया है, कि यम अपने मूलभूत व्यञ्जन के सदृश होता है।[3] तात्पर्य यह है कि जो अननुनासिक स्पर्श यमत्व को प्राप्त हो जाता है उस अननुनासिक स्पर्श के समान ही वह यम भी होता है। भाष्यकार उवट ने इस तथ्य को इस प्रकार समझाया है—'पलिक्क्नी' में यम को ककाररूप जानना चाहिए, 'अग्ग्मन्' में यम को गकार रूप जानना चाहिए, 'जघ्घ्नथुः' में यम को घकार रूप जानना चाहिए, 'परिज्ज्मानम्' में यम को जकार रूप जानना चाहिए और 'अप्प्नस्वतीम्' में यम को पकार रूप जानना चाहिए।[4] ऋ० प्रा० ६।३४ में विधान किया गया है कि कार्य के विषय में यम मूलभूत व्यञ्जन से अभिन्न होता है।[5] तात्पर्य यह है कि यम मूलभूत व्यञ्जन के ही कार्यों को प्राप्त करता है। यही कारण है कि 'उपद्ध्मातेव स्मसि' में ऋ० प्रा० ६।२ के अनुसार यम अपने मूलभूत व्यञ्जन धकार के समान दकार के साथ एक बार उच्चरित होता है। ऋ० प्रा० ६।३३ में यम के मूलभूत व्यञ्जन के रूप में दिखलाई पड़ने का कारण बतलाते हुए कहा गया है कि यम के उच्चारण-काल में ही मुख में एक स्पर्शात्मक ध्वनि का उच्चा-

---

१. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० तृतीय जिल्द, पृ० सं० १९२, डॉ० मंगलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित

२. द्रष्टव्य—च० अ० १।९९ पर ह्विटनीकृत अंग्रेजी व्याख्या

३. यमः प्रकृत्यैव सदृक् ।—ऋ० प्रा० ६।२९

४. पलिक्क्नीः इत्यत्र ककाररूपो यमो वेदितव्यः, अग्ग्मन् इति गकाररूपः, जघ्घ्नथुः इति घकाररूपः ।—ऋ० प्रा० ६।२९ पर उवट

५. अनन्यस्तु प्रकृतेः प्रत्ययार्थे ।—ऋ० प्रा० ६।३४

रण हो जाता है।[१] अर्थात् यम वर्ण के नासिक्य उच्चारण के साथ ही साथ मुख में मूलभूत व्यञ्जन के अनुरूप स्पर्शात्मक ध्वनि का उच्चारण भी होता है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अननुनासिक स्पर्श ही नासिक्य-गुण से युक्त होकर यम का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। परन्तु यह यम ध्वनि मूलभूत अननुनासिक स्पर्श के अतिरिक्त ध्वनि के रूप में आ जाती है, जिसे तै० प्रा० तथा च० अ० में आगम के रूप में स्वीकार किया गया है। तै० प्रा० २१।१२ पर अपनी अंग्रेजी व्याख्या में ह्विटनी ने कहा है, कि यम एक संक्रामिका ध्वनि है तथा यह अनुत्तम-स्पर्श एवम् उत्तम-स्पर्श के मध्य आती है। इसके स्वरूप के विषय में ह्विटनी का कथन है कि यह ध्वनि अनुत्तम-स्पर्श की नासिक्य स्वरूप (नासिक्य प्रतिलिपि) है। इसीलिए यह ध्वनि यम अथवा जोड़ा कहलाती है।[२] ह्विटनी ने तै० प्रा० २१।१२ की व्याख्या में एक रुचिकर बात बतलायी है। उसके अनुसार 'प्रत्नथा', 'विद्मा ते' इत्यादि उदारणों में सर्वप्रथम संयोगादि स्पर्श का द्वित्व हुआ है। पुनः द्वित्वीकृत स्पर्श एवं अनुनासिक स्पर्श के मध्य अननुनासिक स्पर्श के स्वरूप वाले यम का आगम हुआ है। इस बात का स्पष्टीकरण ह्विटनी के उस कथन से होता है, जिसमें उसने स्पष्टतः कहा है कि इस प्रकार के संयोगों को हम लोग इस रूप में पढ़ और विभाजित कर सकते हैं—प्रत्नथा = प्रत्त् + तँ्नथा, विद्मा = विद्द् + द्ँमा।[३] ह्विटनी के इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि संयोगादि वर्ण का द्वित्व उस स्थिति में भी हो जाता है, जब संयोग का द्वितीय अवयव अननुनासिक स्पर्श होता है। इसलिए यम के रूप में आने वाला वर्ण द्वित्व से उत्पन्न वर्ण के अतिरिक्त ही होगा। उवट ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० के भाष्यों में परस्पर विरोधी विचारों का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार किसी स्थल पर द्वित्व से उत्पन्न वर्ण के अतिरिक्त आने वाली ध्वनि यम कही जाती है तथा किसी स्थल पर द्वित्वसमूह में ही द्वितीय वर्ण यम को प्राप्त हो जाता है। विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि उवट ने 'रुक्क्मम्' पद में दो ककार

---

१. श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला।—ऋ० प्रा० ६।३३

२. They are transition sounds, assumed to intervence between nonnosal and following nosal, as a kind of nossal Counter-part to the non-nosal, and therefore called its yama or twins.
—whitney on T. P. 21/12

३. We are to read and divide (प्रत्त् + तँ्नथा, विद्द् + द्ँमा)
—whitney on T. P. 21/12

यम और मकार का संयोग इसलिए स्वीकार किया है कि यम तो वस्तुतः अनुनासिक स्पर्श के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली उस नासिक्यता को ही कहना चाहिए, जो अननुनासिक स्पर्श के साथ संयुक्त होकर उसे भी अनुनासिक बना देती है। वास्तव में यम नासिक्यता को ही कहना चाहिए क्योंकि स्पर्श का द्वित्व हो जाना तो भाषा की सामान्य प्रवृत्ति है। अनुनासिक वर्ण के प्रभाव से केवल निरनुनासिक वर्ण में ही अनुनासिकता आती है, अतः उसी अनुनासिकता को यम कहना अधिक युक्ति-युक्त है।

यम का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही स्पर्श-वर्णों के संयोग की उच्चारण-प्रक्रिया के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। स्पर्श-वर्णों के संयोग में जब अननुनासिक स्पर्श के पश्चात् अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण किया जाता है, तब इस उच्चारणप्रक्रिया में कई क्रियायें होती हैं। सर्वप्रथम अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए उच्चारणाङ्गों का स्पर्श होता है, जिससे वायु का उसी स्थान पर अवरोध हो जाता है। इस अवरोध की स्थिति में ध्वनि स्फुट नहीं होती है। पुनः जब परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए प्रयत्न किया जाता है तब, पूर्ववर्ती स्पर्श के उच्चारण के लिए किए गए उच्चारणाङ्गों के स्पर्श द्वारा अवरुद्ध वायु को स्फोटन का अवसर प्राप्त हो जाता है। क्योंकि किसी भी स्पर्श वर्ण के लिए किये गये प्रयत्न द्वारा अवरुद्ध वायु का स्फोटन उसी स्थिति में हो पाता है, जब उस स्पर्श ध्वनि के पश्चात् ऐसी ध्वनि उच्चरित की जाय, जिसके उच्चारण में वायु निरन्तर बाहर निकलती रहे, अर्थात् जिसके उच्चारण में वायु का अवरोध न हो रहा हो। ध्वनियों के उच्चारण के प्रसङ्ग में यह बतलाया जा चुका है कि अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में वायु निरन्तर नासिकाविवर द्वारा बाहर निकलती रहती है। नासिक्य ध्वनि (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) के उच्चारण में मुखविवर में उच्चारणाङ्गों का स्पर्श होता है, परन्तु स्पर्शकाल में ही कोमल तालु नीचे झुक जाता है, जिसके कारण वायु उच्चारणावयवों के स्पर्शकाल में भी बाहर निकलती रहती है। इस प्रकार प्रथमतः अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए किये गये स्पर्श के पश्चात् जब अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए प्रयत्न किया जाता है, तो अनुनासिक ध्वनि के लिए स्पर्श होते ही अननुनासिक स्पर्श के लिए किये गये प्रयत्न द्वारा अवरुद्ध वायु नासिका-विवर से निकलने लगती है। चूँकि अवरुद्ध वायु अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए मुखविवर में आई हुई थी तथा इसी वायु के स्फोटन हो जाने से अननुनासिक स्पर्श का पूर्ण उच्चारण भी सम्भव हो जाता है, अतः जब अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए द्वितीय

प्रयत्न की अवस्था में वायु को नासिका द्वारा स्फुट होने का अवसर प्राप्त हो जाता है, तब पूर्ववर्ती स्पर्श का पूर्ण उच्चारण तो हो जाता है, परन्तु वायु का स्फोटन नासिका-द्वारा होने से पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श में नासिक्य गुण आ जाता है। यही नासिक्यता यम कही जाती है। उदाहरणार्थ—'रुक्ममम्' पद में द्वित्व हो जाने के पश्चात् द्वितीय ककार के उच्चारण के लिये जिह्वामूल से कोमलतालु प्रदेश पर स्पर्श करके वायु को मुखविवर से बाहर निकलने में अवरोध उत्पन्न कर दिया जाता है। पुनः वायु को स्फुट होने के पूर्व ही परवर्ती अनुनासिक ध्वनि 'मकार' के उच्चारण के लिए दोनों ओष्ठ पारस्परिक स्पर्श की अवस्था का निर्माण कर लेते हैं। ओष्ठों के स्पर्श का प्रारम्भ होते ही कोमलतालु कुछ नीचे झुक जाता है, जिससे वायु को नासिकाविवरमार्ग से बाहर निकलने का अवसर प्राप्त हो जाता है। परिणामतः ककार का स्फोटन हो जाता है। इस स्फोटन में वायु नासिका-विवर मार्ग से बाहर निकलती है। अतः ककार ध्वनि में अनुनासिकता आ जाती है। इस प्रकार 'रुक्ममम्' का उच्चारण 'रुक्क्ँमम्' के रूप में हो जाता है।

संस्कृत भाषा में पश्चगामी समीकरण का प्राधान्य है। किसी भी व्यञ्जन-संयोग में परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनि को प्रभावित करके उसे अपने अनुरूप बना लेती है। इस तथ्य का संकेत च० अ० १।५० में प्राप्त होता है, जहाँ पर स्पष्टतः कहा गया है कि किसी भी व्यञ्जन-संयोग में संयुक्त होने वाले प्रथम तत्त्व की परवर्ती आधी मात्रा द्वितीय तत्व के उच्चारण-स्थान एवं करण से उच्चरित हो जाती है।[1] उदाहरणार्थ—'आत्मा' शब्द में तकार और मकार का संयोग है। यहाँ पर तकार की परवर्ती आधी मात्रा मकार के स्थान और करण से उच्चरित हो जाती है। जिसके कारण तकार का उच्चारण नासिक्यगुण से युक्त हो जाता है। इस प्रकार 'आत्मा' का उच्चारण 'आत्त्ँमा' के रूप में हो जाता है। यम के उच्चारण के सम्बन्ध में इसी प्रकार के ध्वनि-वैज्ञानिक सिद्धान्त कार्य करते हैं।

आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक अननुनासिक स्पर्श के बाद अनुनासिक स्पर्श आने पर अननुनासिक स्पर्श को ही यम हो जाने की विचारधारा को पुष्ट मानने के पक्ष में हैं। परन्तु विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में यम की उच्चारण-प्रक्रिया में होता यह है कि अननुनासिक स्पर्श एवं अनुनासिक स्पर्श के मध्य पूर्ववर्ती स्पर्श के गुण वाली एक विशेष प्रकार की नासिक्य-ध्वनि आ जाती है। 'रुक्ममम्' में ककार के उच्चारण के लिए किये गये प्रयत्न द्वारा अवरुद्ध वायु जब नासिकाविवर द्वारा निकलती है, तब ककार के कण्ठस्थानीय वर्ण होने

---

१. पूर्वरूपस्य मात्रार्द्धं समानकरणं परम्।—च० अ० १।५०

से तथा वायु के नासिकामार्ग द्वारा बाहर निकलने से ककार एवं मकार के मध्य एक अघोष 'ङकार' ध्वनि का अन्तर्निवेश हो जाता है। इसका कारण यह है कि 'ककार' ध्वनि अघोष है, अतः उसके स्वरूप वाली नासिक्य ध्वनि अघोष 'ङकार' ही होगी। इसी प्रकार 'पद्‌मम्' में 'दकार' के स्वरूप वाली सघोष 'नकार' ध्वनि का अन्तर्निवेश हो जाता है। इसी ध्वनि को 'यम' कहना अधिक समीचीन है। ऋ० प्रा० ६।३२ में कहा गया है कि 'यम' अपने प्रकृतिभूत व्यञ्जन के सदृश होता है।[1] इस सूत्र का तात्पर्य है कि यम अपने मूलभूत व्यञ्जन के समान अघोषता अथवा सघोषता से युक्त होता है। 'ककार' अघोष ध्वनि है। अतः उसके बाद आने वाली 'यम' ध्वनि अघोष होगी। इसी प्रकार 'दकार' सघोष ध्वनि है। अतः उसके बाद आने वाली 'यम' ध्वनि सघोष होगी। 'रुक्क्ँमम्' 'पद्द्ँमम्' इत्यादि में 'कँ' तथा 'द्ँ' को यम कहना भी समीचीन ही है, क्योंकि 'कँ'='क्' +'ङ्' (अघोष) तथा 'द्ँ'='द्'+'न्' (अघोष) ध्वनि का संयोग ही है।

ध्यातव्य है कि प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में केवल अननुनासिक स्पर्श के ही 'यम' होने का विधान प्राप्त होता है। अन्तस्थ वर्णों एवं ऊष्मवर्णों के 'यम' होने का विधान कहीं भी नहीं किया गया है। हकार के बाद नासिक्य-ध्वनि आने पर इन दोनों ध्वनियों के मध्य एक अतिरिक्त नासिक्य ध्वनि के आगम का विधान च० अ० १।१०० तथा तै० प्रा० २१।१४ में प्राप्त होता है।[2] परन्तु इसे यम की संज्ञा किसी भी ग्रन्थ में नहीं दी गई है। तै० प्रा० के भाष्यकार (त्रिभाष्यरत्नकार) के अनुसार 'हकार' सानुनासिक हो जाता है।[3] उदाहरणार्थ—'जह्‌म', 'ब्रह्म' आदि शब्दों में हकार का उच्चारण सानुनासिक होता है। किन्तु शिक्षायें स्पष्टतः किसी भी संघर्षी ध्वनि के नासिक्य स्फोटन का निषेध करती हैं। चारायणीय शिक्षा में स्पष्टरूपेण कहा गया है कि हकार तथा मकार के संयोग में हकार के उच्चारण में वायु का स्फोटन नासिकारन्ध्रों से नहीं किया जाना चाहिए।[4] यम के लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति स्पर्श+अनुनासिक स्पर्श ही है, क्योंकि इसी प्रकार की स्थिति में पूर्ववर्ती ध्वनि का स्फोटन नासिकारन्ध्र से होगा। अन्तस्थों एवं ऊष्मवर्णों के उच्चारण में उच्चारणावयवों द्वारा पूर्णतः स्पर्श न हो

---

१. यमः प्रकृत्यैव सदृक्।—ऋ० प्रा० ६।३२

२. हकारान्नासिक्येन।—च० अ० १।१००, हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्। —तै० प्रा० २१।१४

३. नासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः।—तै० प्रा० २१।१४ पर त्रिभाष्यरत्न

४. न वायुं हमसंयोगे नासिकाभ्यां समुत्सृजेत्।—चारायणीय शिक्षा

सकने से वायु-प्रवाह को पूर्णतः अवरुद्ध नहीं होना पड़ता है। अतः इस प्रकार की ध्वनियों के पश्चात् अनुनासिक-स्पर्श होने पर भी वायु को नासिका द्वारा स्फुट होने की आवश्यकता नहीं होती। वायु का जब अवरोध ही नहीं होता, तो स्फोटन भी नहीं होगा। नासिका द्वारा वायु का स्फोटन न होने से ध्वनियों के उच्चारण में नासिक्य गुण भी नहीं आ पाता है।

यम का उच्चारण-स्थान

ऋ० प्रा० १।४८ में विधान किया गया है, कि नासिक्य यम तथा अनुस्वार इन ध्वनियों को छोड़कर शेष ध्वनियाँ ओष्ठ्य हैं।[1] इस सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि ये ध्वनियाँ नासिक्य हैं—अर्थात् नासिका से उच्चरित होती हैं।[2] ऋ० प्रा० १।५० में सूत्रकार का कथन है कि यमों के उच्चारण-स्थान का निर्देश पूर्व-विहित स्थान-विधायक सूत्रों में कहे गये स्थानों में किया जाना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि सभी यमों का नासिका एक निश्चित स्थान है और प्रकृति पर आश्रित जो दूसरा स्थान है, वह तो यम को प्राप्त होने वाले स्पर्श का उच्चारण-स्थान ही होना चाहिए। इस प्रकार आचार्य शौनक के मतानुसार यम के दो उच्चारण-स्थान होते हैं—प्रथम—नासिका और द्वितीय-प्रकृतिभूत स्पर्श का उच्चारण-स्थान। उदाहरणार्थ—'रुक्क्ँमम्' में यम का उच्चारण कण्ठ तथा नासिका दोनों स्थानों के सहयोग से होगा। इसी प्रकार 'पद्द्ँमम्' में उत्पन्न होने वाला यम ओष्ठ तथा नासिका दोनों स्थानों के सहयोग से उच्चरित होगा। वा० प्रा० १।७४ में यम का उच्चारण-स्थान नासिका को बतलाया गया है।[4] तथा वा० प्रा० १।८२ में नासिका-मूल को यम का कारण माना गया है।[5] ऋ० प्रा० ६।३३ के विधान से भी यही स्पष्ट होता है कि यम के दो उच्चारण-स्थान होते हैं। इस विधान के अनुसार यम के नासिक्य उच्चारण के साथ ही साथ मुख में मूलभूत व्यञ्जन के अनुरूप एक स्पर्शात्मक ध्वनि का उच्चारण भी होता है। तै० प्रा० २।४९ में नासिक्य ध्वनियों का उच्चारण-स्थान नासिका बतलाया गया

---

१. नासिक्य यमानुस्वारान्।—ऋ० प्रा० १।४८

२. इति नासिक्यः। कँ, खँ, गँ, घँ इत्यादयो यमाः।......अं इत्यनुस्वारः। एते नासिक्यः।—ऋ० प्रा० १।४८ पर उवट

३. अत्र यमोपदेशः।—ऋ० प्रा० १।५०

४. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके।—वा० प्रा० १।७४

५. नासिकामूलेन यमाः।—वा० प्रा० १।८२

है।[१] यम भी नासिक्य ध्वनि है। अतः इसका उच्चारण भी नासिका से ही होगा। परन्तु २।५० के अनुसार नासिक्य ध्वनियों को मुख और नासिका दोनों स्थानों के सहयोग से उच्चरित करने का निर्देश दिया गया है।[२] तै० प्रा० २।५१ में नासिक्य वर्णों के करण का निर्देश भी कर दिया गया है। इसके अनुसार जिस वर्ण के बाद यम का आगम होता है, उसका जो करण है वही करण यम ध्वनि का भी होता है।[३] तै० प्रा० २।५२ में यह भी विधान किया गया है, कि अनुनासिकता को नासिकाविवर से उच्चरित करना चाहिए।[४] त्रिभाष्यरत्न में अनुनासिक के लिए 'रंग' शब्द का प्रयोग किया गया है।[५] अनुनासिकता के लिए रंग शब्द के प्रयोग का कारण यह है कि जिस ध्वनि को अनुनासिक उच्चरित किया जाता है, वह ध्वनि उसी प्रकार अनुनासिकता से प्रभावित हो जाती है, जैसे—जल में कोई रङ्ग मिला देने से जल का प्रत्येक बिन्दु रङ्गयुक्त हो जाता है। इसी प्रकार जो ध्वनि यम के स्वरूप को ग्रहण करती है, उसका उच्चारण सर्वांश में अनुनासिक गुण से युक्त होता है। तै० प्रा० का यह विधान कि अनुनासिक का उच्चारण नासिकाविवर द्वारा होता है, उचित ही है। च० अ० १।२६ में भी नासिका को ही नासिक्य वर्णों का उच्चारण-स्थान बतलाया गया है।[६] इस सूत्र के भाष्य में एक कारिका उद्धृत की गई है, जिसमें यम को नासिका से उच्चरित होने का विधान किया गया है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, कि सभी प्रातिशाख्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यम के दो उच्चारण-स्थानों का संकेत करते हैं। इनमें प्रथम उच्चारण-स्थान नासिका तथा द्वितीय-उच्चारण

---

१. नासिक्याः नासिकास्थानाः।—तै० प्रा० २।४९

२. मुखनासिक्या वा।—तै० प्रा० २।५०

३. वर्गवच्चैषु।—तै० प्रा० २।५१

४. नासिकाविवरणादानुनासिक्यं नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्।—तै० प्रा० २।५२

५. नासिकाविवरणाद्घ्राणबिलाद् आनुनासिक्यं रङ्गादिं कर्तव्यम्।—तै० प्रा० २।५२ पर त्रिभाष्यरत्न

६. नासिक्यानां नासिका।—च० अ० १।२६

७. नासिक्ये नासिकास्थानं तथानुस्वार उच्यते। यमः वर्गोत्तमश्चापि यथोक्तं चैव ते मतः।—च० अ० १।२६ पर भाष्य

स्थान व्यञ्जन-संयोग में स्थित अननुनासिक ध्वनि का उच्चारण-स्थान है । जिन प्रातिशाख्यों में केवल नासिका को ही यम का उच्चारण-स्थान स्वीकार किया गया है, उनमें यम का अर्थ अनुनासिक के प्रभाव से निरनुनासिक ध्वनि में होने वाली अनुनासिकता है । वास्तव में सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय में इस प्रकार की ध्वनि नहीं प्राप्त होती, जिसके उच्चारण में मुखविवर के अङ्गों का कोई उपयोग न होता हो । नासिक्य-ध्वनियों के उच्चारण के लिए भी मुख में स्थित अङ्गों को किसी-न-किसी रूप में सक्रिय अवश्य होना पड़ता है । फेफड़े से चली हुई वायु स्वर-तन्त्रियों में प्रथम-विकार को प्राप्त करके द्वितीय-विकार को प्राप्त करने के लिये मुख-विवर में आती है, प्रथम-विकार द्वारा वायु को श्वास, नाद अथवा उभयात्मक रूप प्रदान किया जाता है । इससे वायु 'वर्ण' का रूप नहीं ग्रहण कर पाती । वायु को वर्ण का रूप ग्रहण करने के लिए मुखविवर में स्थित उच्चारणाङ्गों द्वारा द्वितीय-विकार प्राप्त करना अत्यावश्यक है । यह द्वितीय-विकार तभी हो पाता है, जब वायु को मुखविवर में स्थित अङ्गों द्वारा अवरुद्ध करके उसके प्रवाह में न्यूनाधिक बाधा पहुँचाई जाय । नासिका-विवर में इस प्रकार का एक भी अङ्ग नहीं है, जिससे वायु के स्वाभाविक प्रवाह में अवरोध उत्पन्न किया जा सके । इससे यह स्पष्ट होता है कि यम के उच्चारण के लिए भी मुखविवर में स्थित किसी न किसी अङ्ग द्वारा वायु को अवरुद्ध किया जाता है । जिन ग्रन्थों में यम को नासिका से ही उच्चरित होने वाली ध्वनि कहा गया है, वहाँ अननुनासिक स्पर्श की अनुनासिकता को ही यम माना गया है । वस्तुतः ध्वनियों में अनुनासिकता नासिका की सहायता द्वारा ही उत्पन्न की जाती है । इस प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में कोमलतालु नीचे झुककर वायु को नासिका-विवर से निकलने के लिए मार्ग प्रदान कर देता है ।

यमों की संख्या

यमों की संख्या के विषय में प्रातिशाख्यों में मतभेद है । ऋ० प्रा० में सूत्रकार ने यमों की संख्या के प्रसङ्ग में कुछ भी नहीं कहा है । ऋ० प्रा० ६।२९ के उवटभाष्य में भाष्यकार को चार ही यम स्वीकार्य हैं । इस स्थल पर उवट का कथन है कि "इस सूत्र के आधार पर यमों की संख्या २० हो सकती है, क्योंकि अननुनासिक स्पर्शों की संख्या बीस होने से इन बीस स्थानों के स्थान पर आदेश रूप यम भी बीस होंगे" । यह न हो, अतः यम चार ही हैं । प्रथम वर्ग के स्पर्श वर्णों का प्रथम यम, द्वितीय वर्ग के स्पर्शों का द्वितीय यम, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ग

के स्पर्शों का क्रमशः तृतीय एवं चतुर्थ यम होता है।[1] ऋ० प्रा० १।५० के भाष्य में उवट का कथन है कि ऋग्वेदियों के यम संख्या में २० होते हैं। परन्तु वे स्वरूप से चार ही हैं।[2] ऋ० प्रा० ६।३२ पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार को यम की संख्या बीस ही स्वीकार्य है, क्योंकि इस सूत्र में यम को उसकी प्रकृति (मूलभूत व्यञ्जन) के सदृश माना गया है। मूलभूत व्यञ्जनों के बीस होने से यम भी बीस सिद्ध होते हैं। भाष्यकार ने यम को चार ही माना है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है, कि ये चार ही क्यों है?[3] ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी वर्गों के प्रथम-स्पर्शों को एक इकाई मानकर, द्वितीय-स्पर्शों को द्वितीय इकाई मानकर तृतीय-स्पर्शों को तृतीय इकाई मानकर तथा चतुर्थ-स्पर्शों को चतुर्थ इकाई मानकर—उसके आधार पर यमों की संख्या चार बतलाते हैं। तै० प्रा० १।१ एवं च० अ० १।२६ के भाष्यों में भी यमों की संख्या चार मानी गई है।[4] वा० प्रा० ८।२४ में सूत्रकार ने कुँ, खुँ, गुँ, घुँ—इन चार यमों को स्वीकार किया है, परन्तु भाष्यकार उवट ने इसी सूत्र के भाष्य में यमों की संख्या बीस स्वीकार की है।[5] भाष्यकार उवट स्वयं चार ही यमों की सत्ता के पक्षपाती होकर बीस यमों को क्यों स्वीकार करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भाष्यकार ने कहीं भी नहीं दिया है। वा० प्रा० के अनुसार यमों की संख्या का निर्धारण वा० प्रा० ८।२५ के आधार पर किया जा सकता है। वा० प्रा० ८।२५ में कहा गया है कि सम्पूर्ण वाङ्मय में ६५ वर्ण है।[6] इस प्रातिशाख्य में कथित पैंसठ संख्या तभी संगत होगी जब यमों की संख्या चार ही स्वीकार की जाय। ऋ० प्रा० की 'जर्मन भाषा' में की गई अपनी व्याख्या में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने यमों की संख्या

---

१. तस्मादिह स्पर्शायमाननुनासिका इत्युच्यमाने विंशतित्वात्स्थानिनामादेशानामपि यमानां विंशतित्व प्रसङ्गः। स भा भूत्। चतुर्णामेव यमानां प्रथमाः प्रथमं, द्वितीया द्वितीयमेवमापञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते।—ऋ० प्रा० ६।२९ पर उवट

२. एवं विंशतिर्यमाः वह्वृचानां भवन्ति। स्वरूपैश्चत्वार एव।—ऋ० प्रा० १।५० पर उवट

३. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० ६।३२ पर उवट

४. द्रष्टव्य—तै० प्रा० १।१ पर त्रिभाष्यरत्न एवं वैदिकाभरण तथा च० अ० १।२६ पर ह्विटनीकृत अंग्रेजी व्याख्या

५. कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इति यमाः।—वा० प्रा० ८।२४ एवं इसी सूत्र पर उवट

६. एते पञ्चषष्टिवर्णाः ब्रह्मराशिरात्मवाचः।—वा० प्रा० ८।२५

चार ही स्वीकार की है। प्रो० वेबर के अनुसार भी यम संख्या में चार ही होते हैं, बीस नहीं।[1] शिक्षा-ग्रन्थों में भी यमों की संख्या चार ही स्वीकार की गई है। इन चार यमों को प्रयत्न के अनुसार इस प्रकार स्पष्ट रूपेण दर्शाया जा सकता है—

१—अघोष अल्पप्राण यम—कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ्।
२—अघोष महाप्राण यम—खँ्, छँ्, ठँ्, थँ्, फँ्।
३—सघोष अल्पप्राण यम—गँ् जँ् डँ् दँ्, बँ्।
४—सघोष महाप्राण यम—घँ्, झँ् ढँ् धँ्, भँ्।

यम के विषय में विशेष

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी अननुनासिक स्पर्श के पश्चात् अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण किया जाने पर, दोनों ध्वनियों के मध्य में एक विशेष प्रकार की नासिक्य-ध्वनि का अन्तर्निवेश हो जाता है। यह ध्वनि पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श के स्वरूप वाली होती है। अर्थात् यदि अननुनासिक-ध्वनि सघोष होगी, तो यम भी सघोष होगा तथा यदि अननुनासिक ध्वनि अघोष होगी, तो यम भी अघोष होगा। वस्तुतः यम के रूप में आई हुई ध्वनि से संयोग का किञ्चित् विच्छेद हो जाता है। वा० प्रा० ४।११५ में कहा गया है कि यम बाद में होने पर पूर्ववर्ती वर्ण, द्वित्व को नहीं प्राप्त करता।[2] इसका कारण यह है कि यम के आ जाने से संयोग का विच्छेद हो जाता है, अतः संयोगादि वर्ण के द्वित्व की प्राप्ति भी असम्भव हो जाती है। जब व्यञ्जनों का संयोग ही नहीं रहेगा, तो फिर उसके आदि वर्ण के रूप में किस वर्ण को स्वीकार किया जायेगा। इसीलिए शिक्षा-ग्रन्थों में पहले द्वित्व करके तब यमापत्ति करने का विधान किया गया है। यम के प्रसङ्ग में विशेष ध्यातव्य यह है, कि यमों को मुद्रित-ग्रन्थों में दिखलाया नहीं जाता, केवल उच्चारण किया जाता है। यही स्वरभक्ति आदि के प्रसङ्ग में भी लागू होती है। 'कोषग्रन्थों' में 'यम' का अर्थ 'जोड़ा' दिया गया है। जिसका कारण यह ज्ञात होता है कि यम की प्रक्रिया में सर्वप्रथम अननुनासिक स्पर्श का द्वित्व होता है तत्पश्चात् द्वित्वीकृत

---

1. द्रष्टव्य—प्रो० मैक्समूलर और वेबर के मत के लिये च० अ० १।९९ पर ह्विटनी-व्याख्या एवं पादटिप्पणी
2. यमश्च।—वा० प्रा० ४।११५

वर्णों में से परवर्ती वर्ण अनुनासिक उच्चरित होता है। द्वित्व से उत्पन्न वर्ण अपने स्वरूप का जोड़ा बन जाता है, अतः यम को भी 'जोड़ा' कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में यमों की लेखन-प्रणाली उसके उच्चारण को ध्यान में रखकर प्रदर्शित की गई है। वास्तव में यम ध्वनि कँ्, खँ्, गँ्, घँ् इत्यादि ही हैं। परन्तु स्वर के बिना किसी भी व्यञ्जन का उच्चारण असम्भव होने से इसको कँ, खँ, गँ, घँ और कुछ ग्रन्थों में कुँ, खुँ, गुँ, घुँ के रूप में दिखलाया गया है।

कर्षण

'कर्षण' शब्द 'खीचना' अर्थ वाली 'कृष्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—'खींचना' अथवा 'तानना'। ध्वनियों के उच्चारण के प्रसङ्ग में कर्षण शब्द का अर्थ है—खींचकर अधिक देर तक उच्चारण करना। च० अ० २।३९ में 'कर्षण' का विधान करते हुए कहा गया है—चवर्ग बाद में आने पर टवर्ग का स्फोटन न होकर काल-विप्रकर्ष (अधिक काल तक उच्चारण) होता है, आचार्यों ने इसे ही कर्षण कहा है।[1] व्यञ्जनों के संयुक्तोच्चारण में यदि पूर्ववर्ती वर्ण टवर्गीय स्पर्श हो और परवर्ती वर्ण चवर्गीय स्पर्श हो तो, टवर्गीय स्पर्श का उच्चारण अधिक काल तक होता है तथा इसके उच्चारण में वायु का स्फोटन नहीं होता है। च० अ० २।३८ में सामान्य नियम का विधान किया गया है कि जब भी किसी व्यञ्जन-संयोग में वर्गों के क्रम से परवर्ती वर्ग का 'स्पर्श' पूर्व में होगा तथा पूर्ववर्ती वर्ग का 'स्पर्श' बाद में होगा तो, पूर्ववर्ती ध्वनि के उच्चारण में वायु मुखविवर द्वारा स्फुट हो जायेगी, परन्तु प्रस्तुत सूत्र (२।३९) यह विधान करता है कि यदि चवर्गीय वर्ण बाद में हो तो टवर्गीय स्पर्श का उच्चारण स्फोटन द्वारा न होकर उच्चारणावयवों के स्पर्श को अपेक्षाकृत अधिक समय तक बनाये रखकर किया जायेगा। च० अ० के इसी सूत्र की व्याख्या में ह्विटनी ने कहा है कि जब किसी व्यञ्जन-संयोग में चकार के पूर्व टकार अथवा जकार के पूर्व डकार आये तो इनके उच्चारण में उच्चारणावयवों का पृथक्करण न होकर अपेक्षाकृत अधिक समय तक स्पर्श को बनाये रखा जाता है। उदाहरणार्थ—'शट् च' के उच्चारण में टकार का अधिक देर तक उच्चारण करते हैं।

---

१. न टवर्गस्य चवर्गे कालविप्रकर्षस्तत्र भवति तमाहुः कर्षण इति।—च० अ० २।३९

ह्विटनी के अनुसार उपर्युक्त दो प्रकार के व्यञ्जन-संयोगों में ही कर्षण की प्राप्ति होती है।

वास्तव में 'शट् च' के संयुक्तोच्चारण में टकार का उच्चारण करने के लिए जिह्वा को मूर्धा पर स्पर्श कराते हैं, तत्पश्चात् जब चकार के उच्चारण के लिए जिह्वा तालुस्थान पर आने के लिए तैयार हो जाती है, तब पूर्ववर्ती वर्ण के उच्चारण-स्थान के साथ किये गये स्पर्श को नष्ट किये बिना ही घसीटती हुई तालु-स्थान पर पहुँच जाती है, जिसके कारण टकार के उच्चारण में वायु स्फोटित नहीं हो पाती। इसी प्रक्रिया को कर्षण कहने का तात्पर्य यह भी है कि इस प्रक्रिया में जिह्वा घसीटती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है।

ध्रुव

'ध्रुव' का शाब्दिक अर्थ है 'निश्चित'। परन्तु इसका पारिभाषिक अर्थ—'अभिनिधान के बाद में उच्चरित होने वाला 'नाद विशेष' है। ऋ० प्रा० ६।२९ में 'ध्रुव' का विधान करते हुए कहा गया है कि सघोष व्यञ्जन के अभिनिधान के बाद में उसी अभिनिधान के उच्चारण-काल तक रहने वाले नाद का आगम होता है, जिसे 'ध्रुव' कहते हैं।[1] ऋ० प्रा० ६।४० के अनुसार अघोष अभिनिधान के बाद में आने वाला 'ध्रुव' सुनाई नहीं पड़ता है।[2] ऋ० प्रा० ६।४१ में कहा गया है, कि यदि अनुनासिक अभिनिधान से बाद में 'ध्रुव' का आगम हो, तो 'ध्रुव' नासिका-स्थान वाला होता है।[3] ऋ० प्रा० ६।४२ के अनुसार अन्तस्था वर्ण के बाद में आने वाला ध्रुव अन्तस्था के स्वरूप वाला होता है।[4] ऋ० प्रा० के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में 'ध्रुव' के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विधान नहीं प्राप्त होता है।

ऋ० प्रा० ६।२९ के भाष्य में भाष्यकार उवट ने कतिपय कारिकाओं को उद्धृत किया है, जिनमें 'ध्रुव' के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं। इन कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है—विद्वान् लोगों का कहना है कि अल्प होने के कारण ध्रुव के काल का निर्देश नहीं किया जा सकता। यदि काल का

---

१. नादः परोऽभिनिधानाद् ध्रुवं तत्तत्कालस्थानम्।—ऋ० प्रा० ६।३९

२. अश्रुति त्वघोषात्।—ऋ० प्रा० ६।४०

३. नासिकास्थानमनुनासिकाच्चेत्।—ऋ० प्रा० ६।४१

४. अन्तस्थायाः पूर्वस्वरूपमेव।—ऋ० प्रा० ६।४२

भेद किया जाय तो, वह ध्रुव अणुमात्रा अर्थात् चौथाई मात्रा के एक अंश के बराबर होगा। अभिनिधान के द्वारा दबाया जाने पर भी यह 'ध्रुव' संज्ञक नाद विनष्ट नहीं होता है। इसलिए अभिनिधीयमान वर्ण के काल के बाद उसका उच्चारण होता है। कतिपय विद्वान् उस 'ध्रुव' का पूर्णतया लोप मानते हैं। अनुनासिक-अभिनिधान से बाद में विद्यमान 'ध्रुव' नासिकास्थान वाला होता है। इसलिये उसका नासिक्य उच्चारण करना चाहिए। सप्तमी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट होने पर अव्यवहित पूर्ववर्ती ध्वनि का विधान अभीष्ट होता है, एवं पञ्चमी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट होने पर अव्यवहित परवर्ती ध्वनि का विधान अभीष्ट होता है। इसलिए अभिनिधान के बाद में ही ध्रुव का उच्चारण होता है, चाहे उसका काल कितना ही अल्प हो।[1]

ध्रुव संज्ञक नाद सघोष तथा अघोष दोनों प्रकार के व्यञ्जनों के अभिनिधान के बाद आता है, अन्तर केवल इतना है, कि सघोष व्यञ्जनों के बाद आने वाला ध्रुव सुनाई पड़ता है किन्तु अघोष व्यञ्जनों के बाद आने वाला ध्रुव सुनाई नहीं पड़ता है।

द्वित्व (Doubling)

परिस्थिति-विशेष में जब किसी व्यञ्जन से पूर्व उसी व्यञ्जन का आगम हो जाता है, तो उसे द्वित्व कहते हैं। द्वित्व का परिणाम होता है कि मूलभूत व्यञ्जन से पूर्व उसी व्यञ्जन का एक अतिरिक्त उच्चारण हो जाता है। द्वित्व के फलस्वरूप उच्चरित होने वाले वर्ण को 'क्रमज' तथा 'द्विरुक्तिज' कहा जाता है। द्वित्व के लिए 'क्रम', द्विरुक्ति तथा द्विर्भाव शब्दों का प्रयोग भी प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

---

१. ध्रुवकालमनिर्देश्यमल्पत्वात्कवयो विदुः।
यद्धि प्रागणुमात्रायाः कालेभेदेऽपि तत्समम्॥
नादो ह्यभिनिधानेन पीड्यमानो न नश्यति।
तस्मादुच्चार्यते तस्य यावद्वर्णात्मनः परम्॥
एकान्तलोपं कवयो वर्णयन्ति ध्रुवस्य च।
नासिका स्थानं रक्तस्य तथा रूपेण निर्दिशेत्॥
सप्तमीकालनिर्दिष्टे पूर्वस्य विधिरिष्यते।
पञ्चम्यास्तूरारस्याहुस्तस्मात्कृच्छ्रस्त्वणुर्भवेत्॥—ऋ० प्रा० ६।३६ पर उवट

द्वित्व का विधान

ऋ० प्रा० ६।१ से ६।१५, तै० प्रा० १४।१ से १४।७, वा० प्रा० ४।१०१ से ४।१०७ तथा ४।११० से ४।११८ एवं चतुरध्यायिका ३।२६ से ३।३२ तक के सूत्रों में द्वित्व-सम्बन्धी विधान प्राप्त होते हैं।

अब प्रातिशाख्यों में प्राप्त होने वाले द्वित्व सम्बन्धी विधानों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

क—स्वर के बाद आने वाले संयोगादि वर्ण का द्वित्व—सभी प्रातिशाख्य एवं शिक्षा-ग्रन्थ एक मत से स्वीकार करते हैं कि उस संयोगादि-वर्ण का द्विरुच्चारण होता हैं, जिसके पूर्व स्वर हो।[1] अर्थात् स्वर+व्यञ्जन+व्यञ्जन समूह में पूर्ववर्ती व्यञ्जन का उच्चारण दो बार होता है। दूसरे शब्दों में स्वर के पूर्व में होने पर संयोग का प्रथम व्यञ्जन दो बार उच्चरित होता है। उदाहरणार्थ—'मुक्त' पद में उकार के बाद संयुक्त व्यञ्जन ककार तथा तकार हैं, यहाँ ककार संयोगादि होने से द्वित्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार 'मुक्त' का उच्चारण 'मुक्क्त' के रूप में होगा। ऋ० प्रा० के अनुसार अनुस्वार के बाद आने वाले संयोगादि वर्ण का भी द्वित्व हो जाता है। परन्तु च० अ० ३।३०, वा० प्रा० ४।११२ तथा तै० प्रा० १४।२३ में विधान किया गया है कि संयोग के दोनों ही अवयव सस्थानी होने पर संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[2] तै० प्रा० १४।२५ से १४।२७ तक सूत्रों में कतिपय आचार्यों के मतों का उल्लेख करता है। जिनके अनुसार हकार, शकार तथा वकार के पूर्व आने वाला लकार द्वित्व को नहीं प्राप्त करता तथा स्पर्श बाद में होने पर स्पर्श-वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता।[3] तै० प्रा० १४।२७

---

१. स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः स क्रमोऽविक्रमे सन्।—ऋ० प्रा० ६।१०, संयोगादि स्वरात्।—च० अ० ३।२८, स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्।—तै० प्रा० १४।१, स्वरात् संयोगादिः द्विरुच्यते सर्वत्र।—वा० प्रा० ४।१०१, स्वरपूर्वमियाद् द्वित्वं व्यञ्जनं व्यञ्जने परे।—व्यास शिक्षा, संयोगादिस्वराद्द्वित्वं प्राप्नोतीति विदुर्बुधाः।—वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा

२. सस्थाने च।—च० अ० ३।३०, सवर्णे।—वा० प्रा० ४।१२२, सवर्ण-सवर्गीयपरः।—तै० प्रा० १४।२३

३. अथैकेषामाचार्याणाम्। लकारोहशवकारपरः। स्पर्श स्पर्शपरः।—तै० प्रा० १४।२५-२७

पर वैदिकाभरण में कहा गया है कि यदि स्पर्श-वर्णों का ही परस्पर संयोग होता है, तो उसमें पूर्ववर्ती-स्पर्श श्रुतिगोचर नहीं हो पाता ।[1] अर्थात् ऐसे संयोग में पूर्ववर्ती स्पर्श का अभिनिधान हो जाता है, जिससे वह स्पर्श स्वयं हीनश्वासनाद होकर, द्विरुच्चारित होने की सामर्थ्य से रहित हो जाता है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उन आचार्यों को स्पर्श + स्पर्श के संयोग में अभिनिधान की प्रवृत्ति का आभास हुआ होगा । वस्तुतः स्पर्श वर्णों के संयोग में द्वित्व को कम अवसर मिलता है । ऋ० प्रा० ६।४ व ५ के अनुसार यदि किसी व्यञ्जन-संयोग का प्रथम वर्ण रेफ अथवा लकार हो तो रेफ तथा लकार का द्वित्व न होकर संयोग के द्वितीय अवयव का द्वित्व हो जाता है ।[2] तै० प्रा० १४।२ में पौष्करसादि आचार्य के मत को उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार लकार तथा वकार के बाद आने वाला स्पर्श द्वित्व को प्राप्त कर लेता है ।[3] परन्तु तै० प्रा० १४।३ में इस बात पर अधिक बल दिया गया है, कि लकार एवं वकार के बाद आने वाला स्पर्श ही द्वित्व को प्राप्त करता है[4] स्वयं लकार एवं वकार द्वित्व को नहीं प्राप्त करते हैं । इन दोनों सूत्रों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यञ्जनों के संयोग में कभी तो लकार एवं वकार का ही द्वित्व होता है तथा कभी स्पर्श वर्ण का द्वित्व हो जाता है । स्वर के बाद आने वाले रेफ के साथ व्यञ्जनों का संयोग होने पर सभी प्रातिशाख्यों के अनुसार स्पर्श व्यञ्जन ही द्विरुच्चारित होते हैं । उदाहरणार्थ—अर्कम् = अर्क्कम्, अर्चन्ति = अर्च्चन्ति । इन पदों में रेफ के बाद क्रमशः ककार एवं चकार आये हैं, अतः उनका द्वित्व हो गया है । ऋ० प्रा० ६।३ में विधान किया गया है कि स्वर वर्ण से परवर्ती छकार यदि संयोग के आदि में न भी आया हो, तब भी उसका द्वित्व होता है ।[5] उदाहरणार्थ—उप छायामिव = उपच्छायामिव । ऋ० प्रा० ६।६ के अनुसार ऊष्म वर्ण के बाद में आया हुआ स्पर्श विकल्प से द्वित्व को प्राप्त करता है ।[6] जबकि वा० प्रा० ४।१०३ के अनुसार ऊष्म एवं अन्तस्थ के बाद में आने

---

१. परस्परेण संयोगस्पर्शानां तु भवेद्यदि । तत्पूर्वस्य श्रुतिर्नास्ति प्राहुस्तेषामिदं मतम् ।—तै० प्रा० १४।२७ पर वैदिकाभरण

२. परं रेफात्, स्पर्श एवं लकारात् ।—ऋ० प्रा० ६।४, ५

३. लवकारपूर्वस्पर्शश्च पौष्करसादेः ।—तै० प्रा० १४।२

४. स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम् ।—तै० प्रा० १४।३

५. असंयोगादिरपिच्छकारः ।—ऋ० प्रा० ६।३

६. ऊष्मणो वा ।—ऋ० प्रा० ६।६

वाला स्पर्श नित्य ही द्विरुच्चारित होता है ।[1] वा० प्रा० ४।१०६ में यह भी स्पष्ट रूप से विधान किया गया है कि उस ऊष्म एवं अन्तस्थ के पूर्व स्वर का होना नितान्त आवश्यक है, जिसके बाद में स्थित स्पर्श का द्विरुच्चारण विहित है ।[2] यदि ऊष्म और अन्तस्थ वर्णों के पूर्व व्यञ्जन होगा तब स्पर्श वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त कर सकेंगे । ऋ० प्रा० ६।८ में विधान किया गया है कि 'रेफ' द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है ।[3] अर्थात् यदि रेफ संयोगादि वर्ण हो तथा उसके पूर्व स्वर-ध्वनि भी आई हो, तब भी रेफ का द्वित्व नहीं होता है । उदाहरणार्थ—'अर्द्धं वीरस्य' में रेफ का द्वित्व नहीं होता है, जबकि उसके पूर्व स्वर भी है तथा वह संयोग का आदि वर्ण भी है । ऋ० प्रा० ६।११ के अनुसार वह संयोगादि व्यञ्जन जिसके बाद द्विरुक्त व्यञ्जन हो, द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है ।[4] उदाहरणार्थ—महत्तदुल्ब्बम् में बकार का द्वित्व हुआ है । अतः उसके पूर्व-स्थित संयोगादि वर्ण लकार का द्वित्व नहीं होता है । आचार्य शाकल के मत से दीर्घ स्वर के बाद में विद्यमान संयुक्त वर्ण का प्रथम अयवय द्वित्व को प्राप्त नहीं करता ।[5] वा० प्रा० ४।१०२ में विधान किया गया है कि रेफ और हकार से परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व होता है[6] परन्तु रेफ और हकार संयोगादि वर्ण हो तब भी उनका द्वित्व नहीं होता है ।

ख—पदान्त व्यञ्जनों का द्वित्व—च० अ० २।२६ के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में पदान्त-व्यञ्जन के द्वित्व का विधान नहीं किया गया है ।[7] परन्तु विचार करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि संस्कृत में संधिस्थ संयोजन के अतिरिक्त इस प्रकार के द्वित्व अन्यत्र नहीं मिलते । प्राकृत एवं पालि भाषाओं में अन्त्य व्यञ्जन का अधिकतर स्थानों पर लोप हो जाता था । परन्तु सभी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि ह्रस्व-स्वर के बाद तथा किसी भी स्वर से पूर्व आने वाले 'न्' तथा 'ङ्' का द्वित्व हो जाता है[8] । यथा—प्रत्यङ्+आत्मा=प्रत्यङ्ङात्मा, सन्+अच्युतः=सन्नच्युतः । पारि-शिक्षा एवं

---

१. ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः ।—वा० प्रा० ४।१०३
२. नास्वरपूर्वा ऊष्मान्तस्था ।—वा० प्रा० ४।१०६
३. न रेफः ।—ऋ० प्रा० ६।८
४. न परक्रमोपधा ।—ऋ० प्रा० ६।११
५. संयुक्तं तु व्यञ्जनं शाकलेन ।—ऋ० प्रा० ६।१४
६. परं तु रेफहकाराभ्याम् ।—वा० प्रा० ४।१०२
७. पदान्ते व्यञ्जनं द्विः ।—च० अ० २।२६
८. ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे ।—च० अ० २।२७, पदान्तीयोह्रस्वपूर्वो ङकारो नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे ।—ऋ० प्रा० ६।१५, ङनौ चेद्ध्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ ।—वा० प्रा० ४।१०८

व्यास शि० का कथन है कि इस प्रकार के स्थलों पर यद्यपि अन्त्य व्यञ्जन द्वित्व रूप में लिखे जाते हैं, परन्तु उनका उच्चारण केवल एक ही बार किया जाना चाहिए।[1] इस प्रकार का द्वित्व भी वास्तव में संधि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

ग—स्वरान्तर्वर्ती व्यञ्जनों का द्वित्व—वा० प्रा० ४।१४४ में विधान किया गया है कि एकपद में स्वरों के मध्य आने वाले दो वर्णों को श्वास का अवरोध करके एक वर्ण के समान उच्चरित करना चाहिए।[2] उदाहरणार्थ—'कुक्कुट' में दो स्वरों के मध्य दो ककार आये हैं, अतः उनका उच्चारण एक ही ककार की भाँति किया जाना चाहिए। इस प्रकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती वर्ण के उच्चारण में वायु का स्फोटन न होने से तथा उसके ठीक बाद द्वितीय वर्ण के उच्चरित हो जाने से प्रथम वर्ण न सुनाई पड़ने की भाँति हो जाता है। इसी प्रकार का विधान ऋ० प्रा० ६।२ में भी प्राप्त होता है। उसके अनुसार महाप्राण वर्ण अपने पूर्ववर्ती अल्पप्राण वर्ण के सहित एक ही बार उच्चरित होता है।[3] उदाहरणार्थ—'अब्भ्रातेव' पद में बकार के साथ भकार केवल एक ही श्वासाघात में उच्चरित हो जाता है। वास्तव में किसी भी प्रातिशाख्य में स्वरान्तर्वर्ती व्यञ्जनों के द्वित्व का विधान स्पष्टतः नहीं किया गया है। जहाँ कहीं स्वरों के मध्य में किसी व्यञ्जन का द्वित्व रूप दिखलाई पड़ता है, वहाँ वास्तविक द्वित्व न होकर दो व्यञ्जनों का संयोग है, जिसमें द्वित्व के रूप में प्रतिभासित होने वाला व्यञ्जन या तो किसी प्रत्यय का अंश होता है अथवा संधि के परिणामस्वरूप आ जाता है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इस सम्बन्ध में वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं अन्यान्य संस्कृत-भाषा में लिखित ग्रन्थों में पाये जाने वाले शब्दों को उद्धृत करके उनमें द्वित्व के रूप में दिखलाई पड़ने वाले वर्णों के वास्तविक कारण की ओर संकेत किया है।[4]

---

१. ह्रस्वात्परो नाद इह द्विरूपो वर्णक्रमे तं सकृदुच्चरेद् ज्ञः, ह्रस्वात्परो नादोऽवसानेऽपञ्चमो वर्णो द्विरूपवर्गी भवति तथापि वर्णक्रमे वर्णक्रमोक्तिकाले तं नादं सकृदेकबारमुच्चरेत् ब्रूयात्। पारिशिक्षा। ह्रस्व द्विरूपवन्नादो यदेतं सकृदुच्चरेद्, वर्णक्रमोद्वितकाले तु नान्य संयोगमुच्चरेत्।—व्यास-शिक्षा

२. द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे।—वा० प्रा० ४।१४४

३. सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत्स्वेन।—ऋ० प्रा० ६।२

४. डॉ० सि० वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians, P 67-68

द्वित्व-सम्बन्धी कतिपय अन्य विधान

क—जिह्वामूलीय और उपध्मानीय से परवर्ती स्पर्श का द्वित्व होता है।[1] उदाहरणार्थ—'व ⌣ कामधरणम् = वक्कामधरणम्'। या ⌣ फलिनी = या प्फलिनी'। प्रस्तुत उदाहरणों में जिह्वामूलीय के बाद आने वाला ककार द्वित्व को प्राप्त हो गया है तथा उपध्मानीय के बाद आने वाला फकार भी द्वित्व को प्राप्त हो गया है।

ख—पूर्व में कोई वर्ण न हो तो संयुक्त ऊष्म वर्ण विकल्प से द्वित्व को प्राप्त करता है।[2] उदाहरणार्थ—'श्चोतन्ति कोशाः' का उच्चारण द्वित्व होने पर 'श्श्चोतन्ति कोशाः, के रूप में होता है।

ग—प्रातिशाख्यों में द्वित्व सम्बन्धी कतिपय निषेधमूलक विधान भी प्राप्त होते हैं। उन विधानों के आधार पर यह कहा जाता है कि द्वित्व सम्बन्धी पूर्वोक्त स्थितियों के होने पर भी इन पदों या वर्णों के साथ उच्चरित होने वाले वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करते हैं। वा० प्रा० ४।११३ के अनुसार ऋवर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती व्यञ्जन द्वित्व को नहीं प्राप्त करता।[3] 'अनिष्कृतः' पद में 'ऊष्म-वर्णों और अन्तस्थ-वर्णों' से भी परवर्ती स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है[4]—इस सूत्र से द्वित्व की प्राप्ति होने पर प्रस्तुत नियम से उसका निषेध किया जा रहा है। इसी प्रकार वा० प्रा० ४।११४ तथा ४।११५ के अनुसार क्रमशः लृवर्ण बाद में होने पर तथा यम बाद में होने पर द्वित्व का निषेध किया गया है।[5] उदाहरणार्थ—'क्लृप्तम्' पद में 'लृ' से पूर्व ककार के द्वित्व का निषेध हो गया है तथा 'सक्थ्थँना' पद में थकार रूप यम ध्वनि के पूर्व थकार के द्वित्व की प्राप्ति होने पर भी उसका निषेध किया गया है। वा० प्रा० ४।११३ में यह भी विधान प्राप्त होता है कि अपने ही वर्ग का अनुत्तम (पञ्चम से अन्य) स्पर्श बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्पर्श द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।[6] इसी प्रकार

---

१. जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां च।—वा० प्रा० ४।१०४

२. वोष्मा संयुक्तोऽनुपधः।—ऋ० प्रा० ६।९

३. ऋवर्णे।—वा० प्रा० ४।११३

४. ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः।—वा० प्रा० ४।१०३

५. लृवर्णे।—वा० प्रा० ४।११४, यमे।—वा० प्रा० ४।११५

६. स्ववर्गीये चानुत्तमे।—वा० प्रा० ४।११७

विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार का द्वित्व नहीं होता है। तीन या अधिक व्यञ्जनों के संयोग में संयुक्त होने वाला कोई भी वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है। कतिपय आचार्य अवसान में आने वाले व्यञ्जनों के द्वित्व को नहीं स्वीकार करते हैं।[1]

द्वित्व के विषय में विशेष

द्वित्व के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में अनेक मत प्राप्त होते हैं। आचार्य शाकल्य के मत से किसी भी परिस्थिति में द्वित्व नहीं होता। परन्तु आचार्य शाकल्य का तात्पर्य लिप्यात्मक द्वित्व से था अथवा ध्वन्यात्मक द्वित्व से, यह बात प्रातिशाख्यों के विधानों से स्पष्ट नहीं हो पाती। दो सस्थानी एवं सवर्णी व्यञ्जनों के संयोग में संयोगादि-व्यञ्जन का द्वित्व इसलिये नहीं हो पाता, कि उनके उच्चारण में प्रथम व्यञ्जन के उच्चारण के लिए किया गया आभ्यन्तर-प्रयत्न ही कालाधिक्य के साथ द्वितीय व्यञ्जन के उच्चारण का कारण बन जाता है। आचार्य शाकटायन ने तीन व्यञ्जनों के संयोग में द्वित्व को नहीं स्वीकार किया है।[2] शाकटायन के कथन का अभिप्राय सम्भवतः यही है, कि'तीन या तीन से अधिक व्यञ्जनों के संयोग का उच्चारण श्वास के एक ही आघात के साथ कर पाना अत्यन्त कठिन है। परन्तु 'गौतमी शिक्षा में 'युङ्क्ष्क्ष्व' पद को उद्धृत किया गया है, जिसमें कुल छः व्यञ्जनों का संयोग है। यद्यपि इस पद का उच्चारण कर पाना कठिन ही है। वा० प्रा० में ऋवर्ण, लृवर्ण, तथा यम के पूर्व स्थित व्यञ्जन के द्वित्व का निषेध किया गया है, इनमें से ऋवर्ण एवं लृवर्ण के पूर्ववर्ती व्यञ्जन के द्वित्वनिषेध का ध्वन्यात्मक कारण स्पष्ट नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है, कि ऋवर्ण एवं लृवर्ण में स्वरात्मक अंश के साथ-ही-साथ किञ्चित् व्यञ्जनात्मक अंश होने के कारण ही ऐसी ध्वन्यात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई होगी। इस प्रकार वा० प्रा० का यह मत निरपवाद रूप से नहीं स्वीकार किया जा सकता। 'यम' ध्वनि से पूर्व उच्चरित होने वाले व्यञ्जन के द्वित्व-निषेध में कुछ ध्वन्यात्मक कारण अवश्य था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि यम का वास्तविक अर्थ 'जोड़ा' है तथा वा० प्रा० ४।१६३ के भाष्य में यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि 'रुक्क्ँमम्' में सर्वप्रथम 'स्वरात् संयोगादि' (वा० प्रा० ४।१०१) से ककार का द्वित्व होने पर

---

१. विसर्जनीयः।—वा० प्रा० ४।११६, अवसितं च।—वा० प्रा० ४।११८, नानुस्वारः।—वा० प्रा० ४।१११

२. त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य।—पा० सू० ८।४।५०

द्वितीय ककार यम की अवस्था को प्राप्त करता है। इससे ऐसा लगता है कि प्रातिशाख्यकार को यह ज्ञात था कि यम तभी होता है, जब व्यञ्जन का द्वित्व हो चुका हो। अतः एक बार द्वित्व हो जाने पर दुबारा उसी स्थल पर द्वित्व करना उचित नहीं होगा। दूसरी बात यह भी हो सकती है, कि स्वयं सूत्रकार कात्यायन ने वा० प्रा० ४।११२ में सवर्णी वर्ण बाद में होने पर द्वित्व का निषेध किया है। इसलिए यम को प्राप्त करने वाला व्यञ्जन अपने पूर्ववर्ती वर्ण का सवर्णी होने से उसके द्वित्व में बाधक अवश्य होगा। इस प्रकार प्रातिशाख्यों द्वारा विहित सभी विधान मन्त्रों के पाठों (उच्चारण-प्रक्रियाओं) को दृष्टि में रखकर किये गये प्रतीत होते हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यही स्पष्ट होता है कि प्रातिशाख्यों में प्राप्त होने वाले वे सभी विधान जो व्यञ्जनों के संयुक्तोच्चारण से सम्बन्धित हैं, भाषा की सामान्य प्रवृत्ति के कारण ही विहित हैं। मन्त्रों के उच्चारण में होने वाली विशिष्टताओं के सम्बन्ध में सभी आचार्यों के मत समान नहीं हैं। यदि भाषा में इन विशिष्टताओं की उत्पत्ति निश्चित होती तो सभी प्रातिशाख्य इनके सम्बन्ध में समान विधान अवश्य करते। इन संयोगविषयक उच्चारण-वैशिष्ट्यों को मुद्रित-ग्रन्थों में दिखलाया नहीं जाता केवल मन्त्रपाठ में इनका उच्चारण ही किया जाता है। इनमें कतिपय विशिष्टतायें ऐसी हैं, जो भाषा की सामान्य प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती हैं। किसी भी स्थिति में वक्ता इन विशिष्टताओं से रहित उच्चारण कर ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ—यदि अननुनासिक स्पर्श के पश्चात् अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण किया जाय तो अननुनासिक स्पर्श को किसी भी प्रकार से न्यूनाधिक अनुनासिकता से बचाया नहीं जा सकता। उसमें अवश्य ही किञ्चित् नासिक्य गुण आ जायेगा। इसीलिए यम से युक्त व्यञ्जन-संयोग को लौहपिण्ड (अयः पिण्ड) के समान कहा गया है। 'अभिनिधान' के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वक्ता कितना भी सावधान होकर वर्णों के संयोग को उच्चरित करे, उसके उच्चारणावयव उच्चार्यमाण ध्वनि को 'संधारण' और 'संवरण' की क्रिया से पूर्णतः बचा नहीं सकते। इसी प्रकार द्वित्व की प्रक्रिया भी अत्यन्त स्वाभाविक है, बिना प्रयास के भी वर्णों का द्विरुच्चारण कुछ निश्चित स्थलों पर ही हो जाता है। स्वरभक्ति तो व्यञ्जन संयोग के उच्चारण में सुगमता लाने के लिए ही आ जाती है, परन्तु वक्ता यदि न चाहे तो इसके अभाव में भी उस संयोग को उच्चरित कर ही सकता है। 'कर्षण' के विषय में यही कहना अधिक युक्तिसङ्गत होगा कि किसी व्यञ्जनसंयोग में टवर्गीय वर्ण के बाद चवर्गीय वर्ण आने पर प्रथम वर्ण को

अधिक काल तक खींच कर उच्चरित करते हैं। यह उच्चारण-प्रक्रिया पूर्णतः ऐच्छिक है, वक्ता न चाहे तो 'कर्षण' का आविर्भाव नहीं हो सकता है। 'ध्रुव' संज्ञक उच्चारण-वैशिष्ट्य का विधान केवल ऋक्प्रातिशाख्य में प्राप्त होता है। सम्भव है वह विशेषता केवल ऋचाओं के पाठ में ही आ पाती हो। कतिपय विशिष्टताओं के सम्बन्ध में किसी प्रातिशाख्य विशेष में कोई विधान न प्राप्त होने का कारण यही है कि उस वेद से सम्बन्धित उच्चारण-प्रक्रिया में उस 'विशिष्टता का अस्तित्व नहीं दिखलाई पड़ता था।



पञ्चम अध्याय

नासिक्य ध्वनियाँ

प्रातिशाख्यों में नासिक्य ध्वनियों के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होते हैं। जिन ध्वनियों के उच्चारण में नासिका का योगदान होता है उन्हें नासिक्य ध्वनि कहा जाता है। अनुस्वार, अनुनासिक आदि ध्वनियाँ 'नासिक्य' कहलाती हैं। ये सभी ध्वनियाँ सघोष होती हैं। इनके उच्चारण में वायु-प्रवाह निरन्तर बना रहता है। इसीलिए नासिक्य ध्वनियों को 'सप्रवाह' ध्वनि भी कहा जाता है। नासिक्य ध्वनियों का उच्चारण अन्य व्यञ्जनों से अपेक्षाकृत अधिक काल तक होता रहता है। अब क्रमशः नासिक्य ध्वनियों के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

अनुस्वार

यह शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'स्वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगने से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वह ध्वनि जिसका उच्चारण अन्य वर्ण के पश्चात् होता है। अनु=पश्चात् अन्य वर्णान्तरं, स्वर्यते=उच्चार्यते इत्यनुस्वारः। पा० शि० १।५ पर पञ्जिकावृत्ति में कहा गया है—अनुस्वार वह ध्वनि है जो किसी स्वर के बाद आती है।[1] तै० प्रा० १।१८ पर वैदिकाभरण भाष्य में अनुस्वार का निर्वचन इस प्रकार दिया गया है—अनुस्वार का बाद वाला आधा भाग स्वर के समान उच्चरित होता है इसलिए इसे अनुस्वार कहा जाता है।[2] चारायणीय शिक्षा उन सोलह पराश्रित ध्वनियों में अनुस्वार की गणना करती है जिनमें विसर्जनीय, यम, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि ध्वनियों को रखा गया है। इस शिक्षा के अनुसार ये सभी वर्ण अशरीरी हैं तथा अपने आश्रयभूत किसी स्वर के माध्यम से

---

१. स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः।—पा० शि० ५ पर पञ्जिकावृत्ति

२. अनुस्वर्यते पश्चार्द्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः।—तै० प्रा० १।१८ पर वैदिकाभरण

ही अपने स्वरूप का प्रदर्शन कर पाते हैं।[1] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अनुस्वार वह ध्वनि है, जो किसी स्वर के आश्रित होकर ही उच्चरित होती है। स्वर का अनुगमन करने के कारण ही कतिपय विद्वान् अनुस्वार को अनुगामी ध्वनि (After Sound) भी कहते हैं।

प्रातिशाख्यों में अनुस्वार के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्राप्त होते हैं। ऋ० प्रा० ४।१५ तथा वा० प्रा० ४।१ में रेफ और ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती मकार के अनुस्वार हो जाने का विधान किया गया है।[2] तै० प्रातिशाख्य १३।१-३ में मकार के लोप का विधान किया गया है। इसके अनुसार रेफ और ऊष्म-वर्ण से पूर्ववर्ती मकार का लोप हो जाता है तथा कतिपय आचार्यों के अनुसार यकार तथा वकार से भी पूर्व आने वाला मकार लुप्त हो जाता है।[3] पुनः तै० प्रा० १५।१ में विधान किया गया है कि नकार को रेफ, ऊष्म-वर्ण अथवा यकार में परिवर्तित हो जाने पर अथवा लोप हो जाने पर तथा मकार का भी लोप हो जाने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[4] तात्पर्य यह है कि जब पदान्त मकार का लोप हो जाता है अथवा नकार का रेफ, ऊष्म अथवा यकार में परिवर्तन हो जाता है अथवा लोप हो जाता है, तभी उस मकार अथवा नकार से पूर्वस्थित स्वर अनुनासिक होता है, अन्यथा नहीं। तै० प्रा० १५।२-३ में यह भी कहा गया है कि कतिपय आचार्य इसे अनुनासिक होना नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार उपर्युक्त स्थिति में अनुस्वार का आगम हो जाता है।[5] च० अ० २।२३ में विधान किया गया है कि अन्तस्थ और ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर मकार का लोप हो जाता है।[6]

---

१. अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुताः यमाः। जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रयाः। अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः। अन्यं वर्णं समाश्रित्य दर्शयन्ति निजं वपुः।—चारायणीय शिक्षा

२. रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः।—ऋ० प्रा० ४।१५ अनुस्वारं रोष्मसु मकारः।—वा० प्रा० ४।१

३. अथमकारलोपः, रेफोष्मपरः, यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम्।—तै० प्रा० १३।१-३

४. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः।—तै० प्रा० १५।१

५. नैकेषाम्, ततस्त्वनुस्वारः।—तै० प्रा० १५।२-३

६. अन्तस्थोष्मसु लोपः।—च० अ० २।३२

इसी प्रकार च० अ० २।३३, ३४ के अनुसार एक ही पद में वर्तमान ऊष्म-वर्ण से पूर्ववर्ती मकार अथवा नकार का लोप हो जाता है।[1] च० अ० १।६७ में यह भी विधान किया गया है कि नकार अथवा मकार का लोप हो जाने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[2] पा० सू० ८।३।२२ में कहा गया है कि किसी भी व्यञ्जन से पूर्व में आने वाले पदान्त मकार का अनुस्वार हो जाता है।[3] इसी प्रकार पा० सू० ८।३।२४ में यह कहा गया है कि अपदान्तीय नकार और मकार का भी अनुस्वार हो जाता है, यदि उनके बाद अन्तस्थ और अनुनासिक वर्णों के अतिरिक्त कोई भी व्यञ्जन हो।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पद के अन्त में आने वाला अनुस्वार मकारजन्य होता है तथा पद के मध्य में आने वाला अनुस्वार मकारजन्य भी हो सकता है तथा नकारजन्य भी। पदान्त में आने वाला नकार किसी भी स्थिति में अनुस्वार का रूप नहीं ग्रहण कर सकता। च० अ० में इसी तथ्य को अन्य प्रकार से स्पष्ट किया गया है, उसके अनुसार नकार और मकार अनुस्वार में परिवर्तित नहीं होते हैं, अपितु उनका लोप होकर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है। स्मर्तव्य है कि च० अ० में कहीं भी अनुस्वार शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अनुनासिक शब्द से ही अनुस्वार का भी बोध हो जाता है। च० अ० १।८३-९१ तक नौ सूत्रों में अनुनासिक के ह्रस्व एवं दीर्घ होने का विधान किया गया है।[5] भाष्यकार ने उदाहरण-स्वरूप 'परूंषि' तथा 'यजूंषि शब्दों को प्रस्तुत किया है। इन शब्दों में अनुस्वार है, अनुनासिक नहीं। च० अ० के अतिरिक्त किसी भी प्रातिशाख्य में अनुनासिक के ह्रस्व और दीर्घ का विधान नहीं प्राप्त होता। नासिक्य ध्वनियों में अनुस्वार ही ऐसी ध्वनि है, जिसके विषय में ह्रस्व एवं दीर्घ का विधान सम्भव है, अन्य ध्वनियों के सम्बन्ध में नहीं। प्रातिशाख्यों में ह्रस्व स्वर से परवर्ती अनुस्वार को अधिक मात्राकाल में उच्चरित

---

१. ऊष्मस्वेवान्तःपदे, नकारस्य च।—च० अ० २।३३, ३४

२. नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः।—च० अ० १।६७

३. मोऽनुस्वारः।—पा० सू० ८।३।२३

४. नश्चापदान्तस्य झलि।—पा० सू० ८।३।२४

५. अनुनासिकोऽन्तः पदे ह्रस्वः, दीर्घोनपुंसकबहुवचने, पांसुमांसादीनाम्, हनिगम्योः सनि, शान्मान्दानाम्, वस्वन्तस्य पञ्चपद्याम्, ईयसश्च, विदेश्च, पुंसश्च।—च० अ० १।८३-९१

होने वाला तथा दीर्घ स्वर से परवर्ती अनुस्वार को कम मात्राकाल में उच्चरित होने वाला कहा गया है, जिसका विवेचन मात्रा के प्रसङ्ग में किया जायेगा। ऋ० तं० में तो स्पष्टतः कहा गया है कि दीर्घ स्वर के बाद में आने वाला अनुस्वार ह्रस्व होता है तथा ह्रस्व स्वर के बाद आने वाला अनुस्वार दीर्घ होता है।[1] वास्तव में अनुनासिकता तो स्वर का धर्म है, अतः उसकी मात्रा उसके धर्मी-स्वर की मात्रा से पृथक् नहीं होती। इसलिए अनुनासिक के विषय में ह्रस्व एवं दीर्घ का विधान सङ्गत नहीं है।

इससे यह ज्ञात होता है कि च० अ० में अनुनासिक का प्रयोग अन्य प्रातिशाख्यों में विहित अनुस्वार और अनुनासिक दोनों ध्वनियों के लिए किया गया है। परन्तु ह्रस्व एवं दीर्घ का विधान अन्य प्रातिशाख्यों में कही गयी अनुस्वार संज्ञक ध्वनि के विषय में ही लागू होता है।

ऋ० प्रा० के वर्गद्वय श्लोकों पर अपनी वृत्ति में विष्णुमित्र ने अनुस्वार (अं) की गणना व्यञ्जनों में की है, तथा अनुस्वार के लिए अनुस्वार और अनुनासिक दोनों संज्ञाओं का प्रयोग किया है।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुमित्र अनुस्वार और अनुनासिक में भेद नहीं मानते। परन्तु ऋ० प्रा० के सूत्रों का अध्ययन करने से विष्णुमित्र की उपर्युक्त धारणा गलत सिद्ध हो जाती है। ऋ० प्रा० १४।३७ में उच्चारण-दोषों का विवेचन करते समय अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार के उच्चारण को दोष बतलाया गया है।[3] यदि ऋ० प्रा० को अनुस्वार और अनुनासिक में भेद स्वीकार्य न होता, तो एक के स्थान पर दूसरे के उच्चारण को दोष न कहा जाता। इसी प्रकार अन्य भी अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुस्वार और अनुनासिक में अभेद नहीं है। ऋ० प्रा० में कहा गया है कि अनुस्वार व्यञ्जन भी है और स्वर भी है।[4] इसी सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि अनुस्वार स्वर के कतिपय गुणों को धारण करता है एवं व्यञ्जनों के कतिपय गुणों को धारण करता है। जैसे ह्रस्व होना, दीर्घ होना, प्लुत होना, उदात्त होना, अनुदात्त होना, स्वरित होना—ये स्वर के धर्म हैं। इसी प्रकार अर्द्धमात्रा काल का होना, स्वर के वश में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित

---

१. ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घात् ह्रस्वः।—ऋ० तं० १।३

२. अः, ⁐क, ⁐प, अं। इति वर्णराशिः क्रमश्च अकाराद्यनुनासिकान्तः। —ऋ० प्रा० वर्गद्वय श्लोक १० तथा इसी पर विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति

३. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० १४।३ तथा इसी पर उवट-भाष्य

४. अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा।—ऋ० प्रा० १।५

होना तथा संयोग प्राप्त करना—ये व्यञ्जन के धर्म हैं, इसलिए स्वर एवं व्यञ्जन दोनों के गुणों को धारण करने के कारण दोनों के स्वभाव वाला अनुस्वार स्वर और व्यञ्जन से भिन्न वर्ण है। इसी प्रकार इसका ग्रहण न तो स्वर कहने से होता है और न व्यञ्जन कहने से होता है। अनुस्वार शब्द के ग्रहण से ही इसका ग्रहण होता है।[1] इससे भी यही कहा जाना उचित है कि अनुस्वार स्वर और व्यञ्जन से भिन्न वर्ण है। ऋ० प्रा० १।४८ में अनुस्वार का उच्चारण-स्थान नासिका बतलाया गया है। इस सूत्र के आधार पर अनुस्वार को शुद्ध नासिक्य ध्वनि कहा जाता है। परन्तु कोई भी व्यञ्जन शुद्ध नासिक्य नहीं होता है। अतः अनुस्वार को भी व्यञ्जन नहीं कहा जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ऋ० प्रा० १३।२५ में सूत्रकार ने कहा है कि कतिपय आचार्य सघोष व्यञ्जनों का घोष अकार को बतलाते हैं एवं अनुनासिक व्यञ्जनों का घोष अनुस्वार को बतलाते हैं।[2] इसी सूत्र पर उवट ने कहा है कि इसका तात्पर्य यह है—अकार अपने स्थान से आकर सघोष व्यञ्जनों में घोषत्व को उत्पन्न करता है और अनुस्वार अपने स्थान से आकर अनुनासिक व्यञ्जनों में घोषत्व को उत्पन्न करता है।[3] इस विवरण के आधार पर भी अनुस्वार को स्वर कहा जा सकता है, क्योंकि अनुस्वार भी अकार की भाँति कार्य करता है। दोनों ही ध्वनियाँ व्यञ्जनों में घोषत्व को उत्पन्न करती हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर अनुस्वार को स्वर वर्ण कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है, परन्तु स्वयं ऋक्प्रातिशाख्यकार ने ही कतिपय ऐसे सूत्रों का निर्माण किया है, जिनके आधार पर अनुस्वार को स्वर नहीं कहा जा सकता। ऋ० प्रा० में अनुस्वार की गणना आठ ऊष्म-वर्णों के अन्तर्गत की गई है।[4] ये ऊष्म-वर्ण स्वर न होकर व्यञ्जन हैं। अतः अनुस्वार भी व्यञ्जन ही होगा। अनुस्वार का उच्चारण भी बिना स्वर की सहायता के नहीं हो सकता, जबकि स्वर

---

१. ......तद्यथा ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं प्लुतत्वमुदात्तत्वं स्वरितत्वमिति स्वरधर्माः तथा अर्द्धमात्राकालता स्वरवशेनोदात्तानुदात्तस्वरितत्वं संयोगश्चेति व्यञ्जन-धर्माः। तत्रोभयधर्मयोगादुभयस्वभावं स्वरव्यञ्जनयोरन्यद् वर्णान्तरं प्रकाशयति।......वर्णग्रहणेन च गृह्यते।—ऋ० प्रा० १।५ पर उवट

२. आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम्।—ऋ० प्रा० १३।१५

३. घोषवत्स्वकारः स्वस्थानादागत्य घोषत्वं जनयति।—ऋ० प्रा० १३।१५ पर उवट

४. उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः।—ऋ० प्रा० १।१०

स्वतः उच्चरित हो जाते हैं। अतः अनुस्वार स्वर नहीं है। अनुस्वार की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करने से भी यही सिद्ध होता है कि अनुस्वार को स्वर नहीं कहा जा सकता। अनुस्वार दो अवस्थाओं में उपलब्ध होता है—पद के अन्त में और पद के मध्य में। पद के अन्त में उत्पन्न होने वाला अनुस्वार मकारजन्य है तथा पद के मध्य में उत्पन्न होने वाला अनुस्वार मकारजन्य भी होता है तथा नकारजन्य भी। मकार एवं नकार व्यञ्जन हैं। अतः उनके स्थान पर आने वाला अनुस्वार भी व्यञ्जन होगा। इसी प्रकार अनुस्वार परिस्थितिवश ङकार, ञकार, णकार एवं नकार में परिवर्तित हो जाता है,[1] ये वर्ण भी व्यञ्जन ही हैं। अतः इस आधार पर भी अनुस्वार को व्यञ्जन कहना उचित है।

ऋ० प्रा० १३।३२, ३३ में उपधा-सहित अनुस्वार के उच्चारण-काल का विधान करते हुए कहा गया है कि कतिपय आचार्य कहते हैं कि अनुस्वार के पूर्व में स्थित ह्रस्व-स्वर वर्ण आधी स्वरभक्ति से न्यून होता है और ह्रस्व स्वरवर्ण से बाद में स्थित वह अनुस्वार आधी स्वरभक्ति से अधिक होता है। दीर्घ स्वरवर्ण से बाद में स्थित अनुस्वार को चौथाई मात्रा से न्यून बतलाते हैं और अनुस्वार के पूर्व में स्थित उस दीर्घ स्वर वर्ण को चौथाई मात्रा वाला बतलाते हैं।[2]

उपर्युक्त दोनों सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनुस्वार तथा पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। यदि अनुस्वार के पूर्व ह्रस्व स्वरवर्ण है, तब पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरवर्ण के उच्चारण में ३।४ मात्रा का समय लगता है तथा अनुस्वार के उच्चारण में १$\frac{1}{4}$ मात्रा का समय लगता है। यदि अनुस्वार के पूर्व दीर्घ स्वर वर्ण है तब, पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर-वर्ण के उच्चारण में १$\frac{1}{4}$ मात्रा का समय लगता है और अनुस्वार के उच्चारण में ३।४ मात्रा का समय लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से कतिपय विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अनुस्वार के उच्चारण में स्वर-वर्णों के समान ही समय लगता है, अतः अनुस्वार स्वर है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अनुस्वार के उच्चारण-काल में वृद्धि

---

१. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।—पा० सू० ८।४।५८

२. ह्रस्वामर्धस्वरभक्त्यासमाप्तामनुस्वारस्योपधामाहुरेके। अनुस्वारं तावतैवाधिकं च ह्रस्वोपधम्॥—ऋ० प्रा० १३।३२, दीर्घपूर्वं तदूनम्।—ऋ० प्रा० १३।३३

होने से उसे स्वर कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि अनुस्वार का अधिक काल में उच्चरित होना तो उसके पूर्ववर्ती स्वर के प्रभाव के कारण है।

ऋ० प्रा० १।५ के भाष्य में उवट ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है कि व्यञ्जन के ग्रहण से ही अनुस्वार का ग्रहण होना चाहिए, ऐसा मानने से ये लाभ होंगे—(१) ऋ० प्रा० १।५ के निर्माण की आवश्यकता न होती। (२) ऋ० प्रा० १८।३२, १।२२ तथा १।२१ में व्यञ्जन शब्द के साथ ही साथ अनुस्वार पद का भी ग्रहण न करना पड़ता। (३) ऐसा मानने से कोई अनिष्ट रूप सिद्ध न होता।

इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया गया है कि अनुस्वार को व्यञ्जन मानना ठीक होता, यदि सूत्रकार द्वारा अनुस्वार का स्वरूप न कहा गया होता। किन्तु सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में अनुस्वार के स्वरूप का कथन कर दिया है। इसलिए अनुस्वार स्वर और व्यञ्जन से भिन्न एक अन्य वर्ण है। यह बतलाने के लिए ही इस सूत्र का निर्माण किया गया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋक्प्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक को अपनी समकालीन बोलियों में यह तथ्य दृष्टिगत हुआ होगा, जिसमें कुछ बोलियों में तो अनुस्वार के व्यञ्जनात्मक तत्त्व का प्राधान्य था एवं कुछ बोलियों में स्वरात्मक तत्त्व का प्राधान्य था। इस तथ्य का विवेचन सूत्रकार ने उच्चारण-दोष पटल अर्थात् ऋ० प्रा० के चौदहवें पटल में किया है। ऋ० प्रा० १४।६ में कहा गया है कि नासिकाओं का प्रभाव होने पर अनुनासिक दोष उत्पन्न हो जाता है।[2] ऋ० प्रा० १४।५४ में विधान किया गया है कि स्वर है पूर्व में जिसके, ऐसे अनुनासिक से पूर्व में अनुस्वार को उच्चरित कर देते हैं या पूर्ववर्ती स्वर को अन्य वर्ण में परिवर्तित कर देते हैं, यदि अनुनासिक से बाद में सोष्मवर्ण या यम हो।[3] इसी प्रकार कुछ लोगों में अनुनासिकीकरण की प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि अनुनासिकीकृत आकार अथवा अनुनासिकीकृत ऋकार के बाद आने वाले विसर्ग का भी अनुनासिकीकरण कर

---

१. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० १।५ पर उवट

२. नासिकयोस्त्वनुषङ्गेऽनुनासिकम् ।—ऋ० प्रा० १४।६

३. अनुस्वारमुपधां वान्यवर्णां स्वरोपधात्सोष्मयमोदयश्चेत् । तङ्घ्नन्त्यञ्ज्मो जङ्घ्नत ईङ्खयन्तीः सञ्ज्ञातरूपोऽथ सञ्ज्ञानमिन्द्रः ।—ऋ० प्रा० १४।५४

डालते थे ।[१] इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी थे जो अनुस्वार के व्यञ्जनात्मक तत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर बोलते थे। ऋ० प्रा० १४।३४ में कहा गया है कि कुछ लोग अनुनासिक वर्ण है बाद में जिसके, ऐसे अघोष ऊष्मवर्ण के बाद में यम का उच्चारण करते हैं।[२] ऐसे व्यक्ति पृश्निः का शब्द उच्चारण यम ध्वनि से युक्त करके करते हैं। जिससे शकार किञ्चित् अनुनासिक उच्चरित हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें व्यञ्जन को किञ्चित् दीर्घ करके उसे अनुनासिक उच्चरित कर देते हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ लोग 'पृश्निः' एवं 'विष्णुः' शब्दों का उच्चारण क्रमशः 'पृश्श्ँनः' एवं 'विष्ष्ँणुः' के रूप में करते थे एवं कुछ लोग 'तंघ्नन्ति' का उच्चारण 'तङ्ँघ्नन्ति,' तथा 'जंघ्नतः' का उच्चारण 'जङ्ँघ्नतः' करते थे।

उपर्युक्त विवरण के परिप्रेक्ष्य में ऋ० प्रा० ११५ सूत्र के निर्माण के उद्देश्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सूत्र-निर्माणकाल में अनुस्वार को स्वर तत्त्व मानने वाले एवं व्यञ्जनतत्त्व मानने वाले दोनों वर्ग विद्यमान थे तथा ऐसा प्रचलन केवल अशिक्षितों तक ही सीमित नहीं था, अपितु शिक्षित-वर्ग भी इस प्रकार की उच्चारण-प्रक्रिया से बच नहीं पाया था। ऐसे समय में सूत्रकार के समक्ष एक ही मार्ग था—वह यह कि अनुस्वार की एक ऐसी उच्चारण-प्रक्रिया की स्थापना की जाय, जो दोनों पक्षों को मान्य हो सके। परिणामतः सूत्रकार ने अनुस्वार को स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त, किन्तु दोनों से भिन्न एक तीसरी कोटि का वर्ण स्वीकार किया।

सभी प्रातिशाख्य अनुस्वार की गणना व्यञ्जनों में ही करते हैं। वा० प्रा० एवं ऋ० प्रा० में अनुस्वार की गणना अयोगवाह संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत की गई है। अयोगवाह वर्ण भी व्यञ्जन हैं, स्वर नहीं। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त है कि अनुस्वार स्वर के कतिपय गुणों को धारण करता है एवं व्यञ्जन के कतिपय गुणों को धारण करता है। जिस प्रकार अन्तस्था वर्णों में सानुनासिकता वाचनिक धर्म है, स्वाभाविक धर्म नहीं। उसी प्रकार आधी मात्रा से अधिक काल में उच्चरित होना अनुस्वार का वाचनिक धर्म है, स्वाभाविक धर्म नहीं। इसीलिए वा० प्रा० ४।१५० के भाष्य में उवट का कथन है कि संयोग से पूर्ववर्ती अनुस्वार का काल

---

१. रक्तात्तु नासिक्यमपीतरस्मात् ।—ऋ० प्रा० १४।३२
२. परं यमं रक्तपरादघोषात् ।—ऋ० प्रा० १४।३४

आधी मात्रा है।[1] उवट के इस कथन से भी ऐसा प्रतीत होता है कि अनुस्वार का व्यञ्जन से अधिक काल में उच्चरित होना वाचनिक धर्म है, स्वाभाविक धर्म नहीं। यदि स्वाभाविक धर्म होता, तो सदैव अनुस्वार का उच्चारण समान मात्रा में ही होता। परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि पूर्ववर्ती स्वर की मात्रा के अनुसार अनुस्वार की मात्रा भी घट-बढ़ सकती है। वाचनिक धर्म से तात्पर्य है—वह धर्म जिसका सम्बन्ध उच्चारण से हो अर्थात् उच्चारण की परिस्थिति के आधार पर परिवर्तित हो सकने वाला धर्म वाचनिक धर्म कहलाता है।

ऋ० प्रा० १।५ का अनुवाद प्रायः यह किया जाता है—अनुस्वार या तो स्वर है या व्यञ्जन। परन्तु उपर्युक्त सभी विवरणों के आधार पर यही कहना उचित है कि अनुस्वार स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त ध्वनि है। अतः इस सूत्र में 'वा' का प्रयोग वैकल्पिक न होकर समुच्चयार्थक है।

तै० प्रा० २।३० पर वैदिकाभरण में अनुस्वार के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि अन्य शाखाध्यायियों का मत है कि अनुस्वार स्वर भी है और व्यञ्जन भी है—इस मत का निराकरण करने के लिये यह कहा जाता है कि हमारी शाखा में अनुस्वार भी वर्गों के अन्तिम वर्णों की भाँति व्यञ्जन है तथा इसका उच्चारण अर्द्ध गकार के सदृश होता है।[2] इससे ज्ञात होता है कि तैत्तिरीय शाखा में अनुस्वार को व्यञ्जन माना गया है। परन्तु इसी सूत्र में अनुस्वार को नासिका की सहायता से उच्चरित होने वाली ध्वनि कहा गया है। अतः इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनुस्वार का वास्तविक उच्चारण गकारव्यञ्जन-सहित सानुनासिक होता था। तै० प्रा० १७।१ में शैत्यायन आचार्य के मत को उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार अनुस्वार में अनुनासिक-गुण तीव्रतर होता है।[3] अर्थात् अनुस्वार में बहुत अधिक अनुनासिकता रहती है। जबकि तै० प्रा० १७।२,३ में क्रमशः कौहलीपुत्र एवं भारद्वाज के मतों को प्रस्तुत किया गया है, जिनके अनुसार अनुस्वार में

---

१. नानुस्वार इत्यनेन सूत्रेण संयोगपरस्यानुस्वारस्यार्द्धमात्राकाल इत्यवधारितम्।
—वा० प्रा० ४।१५० पर उवट

२. अनुस्वारश्च उत्तमश्च आनुनासिक्यगुणयुक्ताः भवन्ति। अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरोवेति परमतम्। तन्निरासार्थमिदमुच्यते। अनुस्वारोप्युत्तमवद्व्यञ्जनमेव अस्मच्छाखायाम्। अर्द्धगकार सदृशत्वात्।—तै० प्रा० २।३० पर वैदिकाभरण

३. तीव्रतरमानुनासिक्यमनस्वारोत्तमेष्विति शैत्यायनः।—तै० प्रा० १७।१

आनुनासिक्य की मात्रा अधिक नहीं होती।[1] तै० प्रा० के विधानों से तो यही कहा जा सकता है कि इस शाखा में अनुस्वार व्यञ्जन ही है। तै० प्रा० १।३४ के अनुसार अनुस्वार का उच्चारणकाल एक मात्रा है।[2] जिसके आधार पर कतिपय विद्वानों की यह धारणा हो गई है कि एक मात्रा में उच्चरित होना स्वर का धर्म है, व्यञ्जन का उच्चारणकाल तो आधी मात्रा है। अतः अनुस्वार व्यञ्जन नहीं, स्वर है। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अनुस्वार के उच्चारण में जो मात्राधिक्य होता है, वह स्वरों के प्रभाव के कारण है, अर्थात् वह अनुस्वार का स्वाभाविक उच्चारणकाल न होकर वाचनिक है। अतः मात्र इसी एक सूत्र (तै० प्रा० १।३४) के आधार पर अनुस्वार को स्वर कहना उचित नहीं है। तै० प्रा० १।१८ पर वैदिकाभरण भाष्य में कहा गया है कि अनुस्वार का परवर्ती आधा भाग स्वर के समान उच्चरित होता है। अतः इस ध्वनि को अनुस्वार कहा गया है।[3] इसके आधार पर भी अनुस्वार को स्वर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुस्वार का पूर्ववर्ती आधा भाग व्यञ्जन ही है, केवल परवर्ती आधा भाग स्वर की भाँति उच्चरित होता है।

'सर्वसम्मत शिक्षा' और 'पारि शिक्षा' भी अनुस्वार को अर्द्धगकार से युक्त नासिक्य ध्वनि स्वीकार करती है।[4] तै० प्रा० १।३७ में व्यञ्जनों के उच्चारण काल का विधान किया गया है। इसी सूत्र पर वैदिकाभरण में अवसानगत ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म् ध्वनियों के उच्चारण में कालाधिक्य का विधान किया गया है। उसके अनुसार ह्रस्व-स्वर से बाद में आने वाले नासिक्य-वर्ण दो मात्रा-काल में उच्चरित होते हैं तथा दीर्घ-स्वर एवं प्लुत-स्वर के बाद में आने वाले नासिक्य-वर्ण एक मात्रा-काल में उच्चरित होते हैं।[5] इस प्रकार यह कहना उचित नहीं होगा कि आधी मात्रा-काल से अधिक काल में उच्चरित होना उच्चार्यमाण ध्वनि के स्वरत्व की ओर संकेत करता है। क्योंकि नासिका से उच्चरित होने वाली ध्वनि केवल मुख से उच्चरित होने वाली ध्वनि की अपेक्षा अधिक समय में उच्चरित हो पाती

---

१. समं सर्वत्रेति कौहलीपुत्रः। अनुस्वारेऽण्विति भारद्वाजः।—तै० प्रा० १७।२३

२. अनुस्वारश्च।—तै० प्रा० १।३४

३. अनुस्वर्यते पश्चार्द्धे स्वरवदुच्चार्यत इत्यनुस्वारः।—तै० प्रा० १।१८ पर वै०

४. यजुष्यनुस्वार इहापि यत्र भवेदध्यर्द्धगकारयुक्तः।—सर्व० शि० ४३

५. ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते। दीर्घात्प्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः॥—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से व्यञ्जनों के उच्चारण में लगने वाले समय की ठीक-ठीक मात्रा का पता लगा लिया है। उनके अनुसार भी अन्य ध्वनियों की अपेक्षा नासिका की सहायता से बोली जाने वाली ध्वनियों में मात्रा का आधिक्य होता है। अतः तै० प्रा० के मात्र एक सूत्र (१।३४) के आधार पर अनुस्वार को स्वर कहना उचित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में अनुस्वार के सम्बन्ध में तीन प्रकार की धारणायें थीं। प्रथम धारणा के अनुसार अनुस्वार शुद्ध अनुनासिक स्वर था, जैसा कि चतुरध्यायिका को मान्य है। द्वितीय धारणा अनुस्वार को स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त परन्तु दोनों से पृथक् एक तीसरी कोटि की ध्वनि स्वीकार करती थी। तृतीय धारणा के अनुसार अनुस्वार व्यञ्जन था स्वर नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे प्रबल तथ्य के रूप में यही कहा जा सकता है कि अनुस्वार भी अन्य व्यञ्जनों की भाँति व्यञ्जन ही है, स्वर नहीं। सभी प्रातिशाख्यों मे अनुस्वार के अङ्गत्व का विधान प्राप्त होता है, यदि अनुस्वार स्वर होता तो वह स्वयं अक्षर का आधार बनकर कार्य करता। किसी अन्य स्वर का अङ्ग न बनता। इसी प्रकार स्वर होने पर उसके उच्चारण में भी हम स्वरों के उच्चारण की भाँति अधिक मात्रा में उच्चारण करने लिए स्वतन्त्र होते। प्रातिशाख्यों एवं व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले सन्धि-विधानों के आधार पर भी अनुस्वार को स्वर नहीं कहा जा सकता। 'प्रतिज्ञा-सूत्र' के अनुसार अनुस्वार का उच्चारण लगभग अनुवर्ती व्यञ्जन के सवर्गीय नासिक्य व्यञ्जन की भाँति किया जाना चाहिए।[1] पाणिनि भी इस तथ्य के समर्थक थे। पा० सू० ८।४।५८ में विधान किया गया है कि ऊष्म-वर्णों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यञ्जन के पूर्व आने वाला अनुस्वार परवर्ती व्यञ्जन के सवर्णी नासिक्य-ध्वनि में परिवर्तित हो जाता है।[2] तात्पर्य यह है कि जब अनुस्वार के बाद स्पर्श-ध्वनि होगी तो अनुस्वार उसी स्पर्श के सवर्गीय नासिक्य ध्वनि में परिणत हो जायेगा तथा यदि अनुस्वार के बाद अन्तस्थ वर्ण होगा तो अनुस्वार उसी अन्तस्थ के स्वरूप वाले अनुनासिक अन्तस्थ में परिवर्तित हो जायेगा। उदाहरणार्थ—'अंकितः' तथा 'संचितः' का उच्चारण क्रमशः अङ्कितः तथा सञ्चितः के रूप में करने का विधान किया गया है। इससे तो यही स्पष्ट होता है कि अनुस्वार का परिवर्तन किसी भी स्थिति में स्वर के रूप में नहीं होता। अतः अनुस्वार निश्चय ही व्यञ्जन-ध्वनि

---

१. परसवर्ण ईषत्प्रकृत्या चान्यत्र।—प्रतिज्ञा-सूत्र
२. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।—पा० सू० ८।४।५८

है। जहाँ तक अनुस्वार के स्वर और व्यञ्जन दोनों ही गुणों से युक्त होने का प्रश्न है—इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि अनुस्वार को स्वर और व्यञ्जन दोनों ही रूपों में उच्चारण करने की प्रवृत्ति लौकिक संस्कृत तथा साथ ही साथ अन्य बोलियों में चलती रही होगी। अनुस्वार के विषय में उसे स्वर तथा व्यञ्जन दोनों ही विचार-धाराओं को मानने वाले लोग वर्तमान थे और वे सभी लोग अपने-अपने विचारों की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण भी प्रस्तुत करते थे। विचारणीय बात यह है कि अनुस्वार का निश्चित क्षेत्र क्या था तथा इसका वास्तविक उच्चारण किस रूप में होता था। संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषाओं को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है, कि संस्कृत में अनुस्वार का क्षेत्र पालि, प्राकृत की अपेक्षा सीमित था। संस्कृत में अनुस्वार किसी भी स्वर से पूर्व नहीं आता। यदि उसी अनुस्वार के पश्चात् अवसान हो तब भी अनुस्वार मकार के रूप में स्थित रहता है। इसी प्रकार किसी स्पर्श के पूर्व भी अनुस्वार नहीं आ पाता। स्पर्श-वर्ण के पूर्व आने वाला अनुस्वार उसी स्पर्श के सवर्गीय नासिक्य वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। अन्तस्थ वर्ण से पूर्व-स्थित अनुस्वार उसी अन्तस्थ के अनुनासिक रूप अर्थात् अनुनासिक अन्तस्थ में परिवर्तित हो जाता है। कतिपय आचार्य यह भी मानते हैं कि अनुस्वार विकल्प से स्पर्श से पूर्व भी पदान्त में आ सकता है।[1] सभी प्रातिशाख्य एवं वैयाकरण इस बात में एकमत हैं कि अनुस्वार निश्चित रूप से केवल वहीं पर आ सकता है, जहाँ पर उसके अव्यवहित बाद कोई संघर्षी ध्वनि हो अथवा रैफ हो। परन्तु बाद के ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ तथा पाणिनि-व्याकरण अनुस्वार को उन सभी स्थलों पर विद्यमान मानते हैं, जहाँ अनुस्वार के बाद कोई भी व्यञ्जन वर्ण हो तथा वह अनुस्वार पदान्त में हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के विकास के साथ अनुस्वार के प्रयोग-स्थल भी बढ़ते गये और अन्त में अनुस्वार की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई कि अनुस्वारयुक्त पदों की अग्रिम पद के साथ संधि का होना बन्द सा हो गया। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में पद के अन्त में अनुस्वार को प्रदर्शित किया गया है, उसके बाद में चाहे कोई भी व्यञ्जन हो। इसका परिणाम यह भी हुआ कि वैदिक भाषा के ग्रन्थों—संहिता, ब्राह्मणों आदि में भी पदान्त मकार को अनुस्वार के रूप में दिखलाया गया है, जबकि उसके बाद कोई भी व्यञ्जन आ रहा हो। यजुर्वेदियों में अनुस्वार के स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय विशेषताएँ पाई जाती हैं—यजुर्वेद में रेफ और ऊष्म-वर्णों से पूर्व-स्थित अनुस्वार के उच्चारण के लिए विशिष्ट प्रकार के विधान हैं। मुद्रित यजुर्वेद-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

---

१. वा पदान्तस्य।—पा० सू० ८।४।५९

सभी ग्रन्थों में रेफ और ऊष्मवर्ण से पूर्व अनुस्वार के लिए विशेष चिह्न का प्रयोग प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पालि और प्राकृत भाषाओं में विराम के पूर्व भी अनुस्वार आ जाता था तथा सभी प्रकार के व्यञ्जनों के पूर्व तो निश्चित रूप से आता ही था।

अनुस्वार का उच्चारण

आधुनिक युग में अनुस्वार का ठीक-ठीक उच्चारण ज्ञात नहीं है। यद्यपि कुछ विद्वान् इसका उच्चारण प्रातिशाख्य-विहित नियमों के अनुसार करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु किसी भी प्रातिशाख्य में स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है कि अनुस्वार को किस रूप में उच्चरित किया जाय। 'प्रतिज्ञा सूत्र' का विधान है कि अनुस्वार का उच्चारण लगभग अनुवर्ती व्यञ्जन के सवर्गीय नासिक्य व्यञ्जन के समान किया जाना चाहिये।[1] इस प्रकार 'त्वं जानन्' के अनुस्वार का उच्चारण 'ञकार' के समान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्त शिक्षा' के अनुसार वेदों में 'त्वं' का उच्चारण 'त्वङ्' के रूप में किया जाना चाहिये। इसी प्रकार यह शिक्षा कतिपय अन्य शब्दों की भी परिगणना कराती है, जिनमें अनुस्वार को 'ङ्' की भाँति उच्चरित किया जाता है। आधुनिक युग में भी अनुस्वार को 'ङ्' की भाँति उच्चरित करने की प्रवृत्ति अधिक प्रचलित है। रेफ और ऊष्मवर्णों से पूर्ववर्ती अनुस्वार के उच्चारण के लिए 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में 'गूं' का विधान किया गया है, इसके अनुसार रेफ और ऊष्म वर्णों से पूर्वस्थित अनुस्वार 'गूं' के रूप में उच्चरित होता है। 'ग्वङ्', 'गूङ्' तथा 'गुङ्' ध्वनिसमूह के रूपों में अनुस्वार के उच्चारण करने की प्रवृत्ति भी यजुर्वेदी पाठाध्यायियों के यहाँ प्रचलित है।[2] इस प्रकार के विधानों के मूल में तथ्य यही प्रतीत होता है कि यजुर्वेदीय सम्प्रदाय में अनुस्वार को व्यञ्जन मानने की प्रवृत्ति थी। इसलिए तै० प्रा० के वैदिकाभरण भाष्य में अनुस्वार को अर्द्धगकार के रूप में उच्चरित करने का विधान प्राप्त होता है। अनुस्वार के ग्वङ्, गुङ् तथा 'गूङ् के रूप में उच्चारण करने की प्रक्रिया पर आक्षेप करते हुए पं० युधिष्ठिर मीमांसक इस प्रकार की उच्चारण-प्रक्रिया को अशुद्ध स्वीकार करते हैं।[3] उनका कथन है कि अर्द्धमात्रिक वर्ण अनुस्वार को सार्द्धमात्रिक (डेढ़मात्रिक)

---

१. परसवर्ण ईषत् प्रकृत्या चान्यत्र।—प्रतिज्ञासूत्र वेबरकृत संस्करण

२. अनुस्वारस्य गूं इत्यादेशः शषसहरेषु।—प्रतिज्ञा परिशिष्ट ३।१

३. द्रष्टव्य—युधिष्ठिर मीमांसककृत 'माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठः', परिशिष्ट

वर्ण के रूप में उच्चरित करना उचित नहीं है। पण्डित जी का यह तर्क ठीक नहीं है। क्योंकि अनुस्वार की मात्रा प्रातिशाख्यों में व्यञ्जन की मात्रा से अधिक बतलाई गई है। वैदिकाभरण में तो यह भी कहा गया है, कि अवसान में आने वाले नासिक्य वर्णों की मात्रा भी एक या दो मात्रा होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुस्वार को 'गुङ्' या 'ग्वङ्' के रूप में उच्चरित करना मात्रा की दृष्टि से असङ्गत नहीं है। प्रातिशाख्यों में अनुस्वार का उच्चारण-स्थान नासिका बतलाया गया है। अर्थात् अनुस्वार के उच्चारण में वायु नासिकाविवर-मार्ग से ही बाहर निकल जाती है। वायु को मुखविवर में किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती। फेफड़े से आती हुई वायु को कोमलतालु द्वारा मुखविवर में आने से रोक दिया जाता है। प्रातिशाख्यों में अनुस्वार के उच्चारण में नासिका को ही करण और स्थान दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रातिशाख्यों के अनुसार अनुस्वार केवल वहीं पर आना चाहिए, जहाँ पर मकार ध्वनि के बाद श्, ष्, स्, ह् अथवा रेफ ध्वनि आती हो। परन्तु अद्यावधि उपलब्ध संहिताओं एवं अन्य वैदिक-ग्रन्थों (ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि) को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है कि इन ग्रन्थों में उन सभी स्थलों पर अनुस्वार को मुद्रित किया गया है, जहाँ पदान्त मकार के बाद कोई भी व्यञ्जन आता है। प्रो० वेबर ने अपने द्वारा सम्पादित संहिताओं में सभी पदान्त मकार को अनुस्वार के रूप में छपवाया है। अनुस्वार को परवर्ती वर्ण के साथ संधि को प्राप्त न कराकर उसे ज्यों का त्यों छोड़ दिया है। इसमें दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वैदिक संहिताएँ जिस युग में प्रकाशित हो रही थीं, उस युग में पाणिनि-व्याकरण का इतना जोर था कि वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन भी उसी रीति से हुआ, जिससे लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों का प्रकाशन हो रहा था। मुद्रण-सम्बन्धी कतिपय दुरूहतायें भी इस अशुद्ध मुद्रण में कारण हुई होंगी।

अनुस्वार की लेखन प्रणाली

रेफ और ऊष्म-वर्णों के पूर्व आने वाले अनुस्वार को ँ तथा ँ चिह्न द्वारा प्रदर्शित करने की परम्परा यजुर्वेदियों में प्रचलित है। प्र० परि० ३।२ के अनुसार अनुस्वार का ह्रस्व, दीर्घ एवं गुरु भेद से तीन प्रकार का उच्चारण प्रचलित था।[1] प्राचीन आचार्यों द्वारा विहित तीसरा भेद अब लुप्तप्राय हो गया है।

---

१. तस्य त्रैविध्यमाख्यातं ह्रस्वदीर्घगुरुभेदैः। दीर्घात् परो ह्रस्वो ह्रस्वात् परो दीर्घो गुरोः परे गुरुः।—प्रतिज्ञा परिशिष्ट ३।२

प्रतिज्ञा परि० ३।२ के भाष्य में भाष्यकार अनन्त का कथन है कि वास्तव में अनुस्वार के इस गुरु एवं दीर्घ रूप में कोई भेद नहीं है, अपितु उपाधि भेद से यह भेद जानना चाहिए। यहाँ संज्ञाभेद और लिपिभेद उपाधि का कार्य करते हैं।[1]

अनुस्वार के लिये प्रातिशाख्यों में 'अं' का प्रयोग किया गया है (अं इत्यनुस्वारः)। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि 'अ' के साथ (ं) मिलाकर ही (अं) को अनुस्वार कहा जा सकता है। वास्तव में अनुस्वार केवल (ं) ही है। अकार को उसे उच्चरित करने के लिए सम्पृक्त कर दिया गया है। वा० प्रा० ८।२१ के भाष्य में अनन्त भट्ट ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि 'अं' यह स्वरपूर्व अनुस्वार को प्रदर्शित करता है।[2] अर्थात् 'अं' में अनुस्वार के साथ ही साथ अकार भी मिला हुआ है।

इस प्रकार अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि है। इसके उच्चारण में कोमलतालु नीचे झुककर सम्पूर्ण वायु को नासिकामार्ग से निकलने के लिए विवश कर देता है। इसके वास्तविक स्वरूप के विषय में ऊपर पर्याप्त विवेचन किया गया है। अनुस्वार एक ऐसी ध्वनि है, जो व्याडि जैसे आचार्यों के भी मष्तिष्क को परेशान कर रखी थी। आचार्य व्याडि के अनुसार अनुस्वार नासिका-स्थान वाला अथवा मुखनासिका स्थान वाला वर्ण है।[3] परन्तु प्रातिशाख्यों एवं अन्यान्य संस्कृत-ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट होता है, कि अनुस्वार भी अन्य व्यञ्जनों की भाँति व्यञ्जन है। ऋक्प्रातिशाख्यकार आचार्य शौनक ने अनुस्वार को स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त इसलिये कहा कि तत्कालीन कतिपय क्षेत्रीय बोलियों में अनुस्वार को स्वरतत्त्व एवं व्यञ्जनतत्त्व मानने वाले दोनों ही वर्ग विद्यमान थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अनुस्वार स्वर और संघर्षी-व्यञ्जन अथवा रेफ के मध्य उच्चरित होने वाले मकार का विकृत रूप है। परवर्ती काल में अनुस्वार के (ं) चिह्न का प्रयोग भाषा में अधिकता से होने लगा। जिसके कारण आज भी उपलब्ध वैदिक संहिताओं में स्वर और किसी भी व्यञ्जन के मध्य आने वाले पदान्त मकार को अनुस्वार के (ं) चिह्न से दिखलाया

---

१. वस्तुतस्तु गुरुदीर्घयोर्भेदो नास्ति तथापि उपाधिभेदात् भेदो मन्तव्यः। अस्ति चात्रोपाधिः संज्ञाभेदो लिपिभेदश्च। तृतीयस्तु इदानीं प्रायशः परिभ्रष्टः, तथापि प्राचीनसम्प्रदायानुरोधाज्ज्ञायते।—प्र० परि० ३।२ पर अनन्त भट्ट

२. इति स्वरपूर्वं अनुस्वारं दर्शयति।—वा० प्रा० ८।२१ पर अनन्त भट्ट

३. व्याडिर्नासिक्यमनुनासिकं वा।—ऋ० प्रा० १३।३७

जाता है। अनुस्वार का वास्तविक उच्चारण ऊष्म-वर्णों और रेफ के पूर्व ही होता है। अनुस्वार के उच्चारण के सम्बन्ध में ऐसा स्पष्ट होता है कि यजुर्वेदीय सम्प्रदाय में इसको ग् + ङ् के योग के समान उच्चरित किया जाता है। यही उच्चारण प्रातिशाख्य-सम्मत भी है। इस रूप में उच्चारण करना कुछ कठिन होने के कारण ही अनुस्वार को 'ग्वङ्' या 'गुङ्' के रूप में उच्चरित करने की प्रथा चल पड़ी होगी।

अनुनासिक

अनुनासिक का अर्थ है—ऐसा वर्ण जिसके उच्चारण के लिये मुख में स्थित उच्चारणाङ्गों के साथ ही साथ नासिका की भी अपेक्षा होती है। प्रातिशाख्यों में अनुनासिक वर्णों को मुख और नासिका दोनों ही अङ्गों की सहायता से उच्चरित होने वाला कहा गया है। अनुनासिक वर्णों के उच्चारण में फेफड़े से आयी हुई वायु का कुछ भाग मुख से एवं कुछ भाग नासिका से एक साथ ही निःसृत होता है। ऋ० प्रा० १।३६ में अनुनासिक वर्णों के लिए 'रक्त' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[1] ऋ० प्रा० १३।२० में 'रक्त' वर्णों को मुख तथा नासिका दोनों के सहयोग से उच्चरित होने वाला स्वीकार किया गया है।[2] तै० प्रा० २।५२, वा० प्रा० १।७५, च० अ० १।२७ एवं पा० सू० १।१।८ में विधान किया गया है कि अनुनासिक वर्णों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों के सहयोग से होता है।[3] ऋ० प्रा० १।१४ के भाष्य में उवट ने स्पष्ट कहा है कि जो वर्ण अपने स्थान के साथ-साथ नासिका से निष्पन्न होता है उसे अनुनासिक कहा जाता है।[4] तै० प्रा० २।३० पर त्रि० में इसी तथ्य को इस प्रकार कहा गया है—जो वर्ण नासिका का अनुवर्तन (अनुगमन) करता है वह अनुनासिक कहा जाता है।[5] तात्पर्य यह है

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः।—ऋ० प्रा० १।३६

२. रक्तो वचनोमुखनासिकाभ्याम्।—ऋ० प्रा० १३।२०

३. नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्।—तै० प्रा० २।५२, मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः।—वा० प्रा० १।७५, अनुनासिकानां मुखनासिकम्।—च० अ० १।२७, मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।—पा० सू० १।१।८

४. नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिकः। —ऋ० प्रा० १।१४ पर उवट

५. नासिकामनुवर्तन्त इत्यनुनासिकाः।—तै० प्रा० २।३० पर त्रि०

कि अनुनासिक वर्णों के उच्चारण में मुख के साथ-ही-साथ नासिका का भी योगदान आवश्यक है।

प्रातिशाख्यों एवं अन्य ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों में अनुनासिक शब्द का प्रयोग निम्नलिखित तीन अर्थों में प्राप्त होता है, (१) वर्गों के अन्तिम वर्णों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) के लिये, (२) स्वर-वर्णों के विशेषण के रूप में तथा (३) रेफव्यतिरिक्त अन्तस्थ वर्णों के विशेषण के रूप में।

वर्ग के अन्तिम वर्ण के लिये अनुनासिक का प्रयोग सभी प्रातिशाख्यों में प्राप्त होता है। ऋ० प्रा० १।१४, तै० प्रा० २।३०, वा० प्रा० १।८९, च० अ० १।११ एवं ऋ० तं० २।१७ में प्रत्येक वर्ग के अन्तिम वर्ण को अनुनासिक कहा गया है।[1] वर्गों के अन्तिम वर्णों के उच्चारण में उस वर्ग के स्थान के साथ-साथ नासिका का भी योगदान रहता है। अनुनासिकेतर स्पर्शों के उच्चारण के समय 'कौवा' (UVULA) तन कर खड़ा हो जाता है और श्वास-नलिका से आई हुई वायु को नासिका-विवर में जाने से रोक देता है। जिसके कारण सारी वायु मुखविवर-मार्ग से बाहर निकल जाती है। अनुनासिक स्पर्शों के उच्चारण के समय कौवा नासिकाविवर को बन्द नहीं करता, जिसके कारण वायु दो भागों में बँटकर कुछ भाग मुख से तथा कुछ भाग नासिका से बाहर निकल जाती है। अनुनासिक स्पर्शों के उच्चारण में सम्बद्ध अङ्गों का स्पर्श तो अन्य स्पर्शों के उच्चारण की भाँति होता है, किन्तु स्पर्श होने के अनन्तर वायु गूँजती हुई नासिकाविवर से बाहर निकल जाती है। इस प्रकार अनुनासिक स्पर्शों के उच्चारण में दो स्थान कार्य करते हैं— (१) उस वर्ग का स्थान तथा (२) नासिका। अनुनासिक वर्णों का विवेचन तद्वर्गीय स्पर्श+अनुनासिकता के रूप में भी किया जा सकता है।

अन्तस्था-वर्णों के विशेषण के रूप में अनुनासिक का प्रयोग ऋ० प्रा० ४।७, तै० प्रा० ५।२८, वा० प्रा० ४।१० तथा च० अ० २।३५ में किया गया है।[2]

---

१. अनुनासिकोऽन्त्यः।—ऋ० प्रा० १।१४, अनुस्वारोत्तमानुनासिकाः।—तै० प्रा० २।३०, अनुनासिकाश्चोत्तमाः।—वा० प्रा० १।८९, उत्तमानुनासिकाः। —च० अ० १।११, अन्त्योऽनुनासिकः।—ऋ० तं० २।१७

२. अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु।—ऋ० प्रा० ४।७, अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्।—तै० प्रा० ५।२८, अन्तःस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्।—वा० प्रा० ४।१०, उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः। —च० अ० २।३५

रेफ के अतिरिक्त अन्य अन्तस्था वर्ण (य्, ल्, व्) के उच्चारण में कोमलतालु थोड़ा नीचे झुककर जब वायु को नासिका-विवर से भी निकलने के लिए मार्ग प्रदान कर देता है, तब ये वर्ण भी अनुनासिक उच्चरित हो जाते हैं। यह स्थिति तभी सम्भव है, जब मकार के बाद रेफ के अतिरिक्त कोई अन्तस्थ वर्ण आता है। अन्तस्थ वर्ण की संधि में मकार ही अनुनासिक अन्तस्था में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—'यम् यम् युजुम्' में संहिता होने पर 'ययँ् ययँ् युजम्' रूप निष्पन्न होता है। इसमें मकार अनुनासिक यकार हो गया है।

स्वर-वर्णों के विशेषण के रूप में अनुनासिक का प्रयोग प्रातिशाख्यों में अनेकशः प्राप्त होता है।[1] अनुनासिक स्वर के लिए ही ऋ० प्रा० एवं अनेक शिक्षा-ग्रन्थों में 'रक्त', 'राग', 'रङ्ग' इत्यादि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। इसकी उच्चारण-प्रक्रिया को भी शिक्षा-ग्रन्थों में अनेकशः समझाने का प्रयत्न किया गया है। 'सर्वसम्मत शिक्षा' में कहा गया है कि 'रङ्ग' के उच्चारण में काँसे के पात्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है, तथा यह ध्वनि हृदय-प्रदेश से निकलती है। जिस प्रकार सौराष्ट्र की ग्वालिनें दही बेचते समय 'तक्राँ' की आवाज करती हैं, उसी प्रकार 'रङ्ग' का उच्चारण करना चाहिए।[2] पारिशिक्षाटिका यजुष्भूषण (पाण्डु० सं० ६२४ मद्रास) में रङ्ग के उच्चारण के विषय में महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई गई हैं, इसके अनुसार रङ्ग का उद्भव दोनों नथुनों से होता है। इसकी ध्वनि घण्टियों की ध्वनि के समान मधुर तथा सिंह के गर्जन की भाँति गम्भीर होती है तथा इसका उच्चारण किसी प्रकार ङकार के व्यञ्जनतत्त्व के योग के बिना

---

१. अष्टावाद्यानवसाने प्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान् ।—ऋ० प्रा० १।६३, सचादयो या विहिता विवृत्तयः प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधाः ।—ऋ० प्रा० २।६७, नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्तस्थानादनुनासिकः स्वरः ।—ऋ० प्रा० ४।८०, नाकारं प्रागतोऽननुनासिकम् ।—ऋ० प्रा० १०।१०, नासिकयोत्वनुषङ्गेऽनुनासिकम् ।—ऋ० प्रा० १४।६, नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्यते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः ।—तै० प्रा० १५।१, उकारोऽपृक्तोदीर्घमनुनासिकम् ।—वा० प्रा० ४।६२
इसी प्रकार अन्य अनेक सूत्रों में भी अनुनासिक का प्रयोग स्वर वर्णों के विशेषण के रूप में हुआ है।

२. काँस्यध्वनिसमोरङ्गः हृदयादुत्थितं भवेत्। यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्राँ३ इत्यभिभाषते ।—सर्वसम्मत शिक्षा

किया जाना चाहिए।[1] डॉ० सि० वर्मा ने एक हस्तलिखित ग्रन्थ 'शिक्षा-पाठ' को खोज निकाला है, जिसके अनुसार जिस प्रकार इन्द्रनील मणि की कान्ति से अभिभूत मोती नीला हो जाता है, उसी प्रकार नासिक्य-गुण से युक्त-स्वर भी पूर्णतया रङ्गत्व को प्राप्त कर लेता है।[2] इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनुनासिक स्वर (रङ्ग) में अनुनासिकता और स्वरात्मकता का मेल दुग्ध और जल की भाँति होता है। जिस प्रकार दुग्ध और जल के मिश्रण में उसकी प्रत्येक बूंदें दुग्ध और जल दोनों तत्वों से युक्त होती हैं, उसी प्रकार अनुनासिक स्वर के प्रत्येक अंश में अनुनासिकता समाहित रहती है। यह अनुनासिकता स्वर-वर्णों का स्वाभाविक धर्म नहीं है, अपितु वैकल्पिक धर्म है और रेफ के अतिरिक्त अन्तस्था वर्णों का वाचनिक धर्म है। जैसा कि वा० प्रा० १।७५ पर अपने भाष्य में उवट और अनन्त भट्ट दोनों ही भाष्यकारों ने कहा है।[3] इस विधान का वास्तविक अर्थ क्या है, यह समझ में नहीं आता, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर वर्णों को अनुनासिक उच्चरित करने में वक्ता स्वतन्त्र होता है। वह किसी भी स्थल पर यदि चाहे तो स्वर को अनुनासिक भी उच्चरित कर सकता है तथा अनुनासिकता से रहित रूप में भी उच्चरित कर सकता है। परन्तु अन्तस्थ वर्णों का उच्चारण अनुनासिक गुण से युक्त रूप में वहीं पर किया जा सकता है, जहाँ पर अन्तस्थ वर्णों को पूर्ववर्ती मकार के साथ संधि करके उनका उच्चारण एकश्वासपरिधि में किया जायेगा। ऐसा न करने पर अनुनासिक अन्तस्था वर्ण उच्चरित ही नहीं होंगे। संधि करके उच्चारण करने पर पूर्ववर्ती मकार ही अनुनासिक अन्तस्था में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के अनेक विधान संधियों के प्रकरण में प्रातिशाख्यों में विहित हैं। इस प्रकार उच्चारण (वचन) से सम्बन्धित होने के कारण ही अनुनासिकता अन्तस्थों का वाचनिक धर्म कही गई है।

---

१. रङ्गे मुखे व्याघ्ररुतोपमं स्यात् मात्राद्वयं हृज्जनितं त्वनास्यम्······इह कांस्य घण्टानादः। नादः सकम्पः स तु मूर्धजातः। नासिक्यरन्ध्रद्वयनिःसृतोऽन्त्ये स्यादेकमात्रः स तु काकली स्यात्।—पारिशिक्षाटिका (पाण्डुलिपि सं० ९२४, मद्रास)

२. यथेन्द्रनीलप्रभयाभिभूतः मुक्तामणिर्याति हि नीलभावम्। तथैव नासिक्यगुणेन युक्तः स्वरोऽपि रङ्गत्वमुपैति कृत्स्नः।—शिक्षापाठ

३. स्वराणामयं वैकल्पिको धर्मः। अन्तस्थानां रेफवर्जितानां च वाचनिकश्चायं धर्मः।—वा० प्रा० १।७५ पर उवट एवं अनन्त भट्ट

इस प्रकार अनुनासिक उन्हीं ध्वनियों को कहा जाता है, जिनके उच्चारण में मुख और नासिका दोनों की अपेक्षा होती है। जब अन्तस्था-वर्णों को मुख और नासिका दोनों की सहायता से उच्चरित किया जाता है, तो वे अनुनासिक अन्तस्था कहे जाते हैं। इसी प्रकार जब स्वर-वर्णों को मुख और नासिका दोनों की सहायता से उच्चरित करेंगे तो वे अनुनासिक स्वर कहे जायेंगे। शेष व्यञ्जनों में प्रत्येक वर्गों के अन्तिम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) ही अनुनासिक हैं। ये ही पाँच वर्ण स्वरूप से भी अनुनासिक हैं; अर्थात् अनुनासिकता इन वर्णों का स्वाभाविक धर्म है, वैकल्पिक अथवा वाचनिक धर्म नहीं है। इनका उच्चारण बिना नासिका की सहायता के नहीं हो सकता। ध्यातव्य है कि रेफ को भी अनुनासिक गुण से युक्त करके उच्चरित नहीं किया जा सकता।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अनुनासिक-अन्तस्थ उसी स्थिति में उत्पन्न होता है, जब मकार के साथ अन्तस्थ की संधि होती है। इसका ध्वन्यात्मक कारण यह है कि मकार के उच्चारण में फेफड़े से आई हुई वायु ओष्ठों के पारस्परिक स्पर्श के परिणामस्वरूप मुखविवर में रुक जाती है और परवर्ती अन्तस्थ वर्ण के उच्चारण के लिए द्वितीय प्रयत्न की अपेक्षा होने पर ओष्ठों का पृथक्करण हो जाने से वायु को स्फोटित होने का अवसर प्राप्त हो जाता है। यह स्फोटन अन्तस्थ के उच्चारण के लिए किये जाने वाले पृथक्करण के कारण होता है और उच्चारणावयवों की सक्रियता अन्तस्थों के उच्चारण के लिए ही रहती है। अतः मकार ध्वनि में विद्यमान रहने वाला स्पर्शांश अन्तस्थ में परिणत हो जाता है, जिससे मकार ध्वनि अनुनासिक अन्तस्थ में परिवर्तित हो जाती है। ध्वनियों का अनुनासिक गुण से युक्त होना कोमलतालु की स्थिति पर आधारित है। जब कोमलतालु कुछ नीचे झुककर वायु के कुछ भाग को मुखविवर से एवं कुछ भाग को नासिकाविवर से निकलने के लिए मार्ग प्रदान कर देता है, तो वायु के मुखविवर और नासिकाविवर दोनों मार्गों द्वारा निकलने से ध्वनि अनुनासिक हो जाती है। यह अनुनासिकता कहीं तो पूर्ण रूप में सुनाई पड़ती है तथा कहीं पर अत्यल्प रूप में सुनाई पड़ती है। अनुनासिक-स्पर्शों के उच्चारण में अनुनासिकता क्षीण रूप में या अल्प रूप में सुनाई पड़ती है तथा अनुनासिक स्वर-वर्णों के उच्चारण में अनुनासिकता अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप मेंसुनाई पड़ती है।

अनुस्वार और अनुनासिक में भेद

अनुस्वार और अनुनासिक के पारस्परिक अन्तर के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में विभिन्न विचार प्राप्त होते हैं। ऋ० प्रा० १३।३७ में आचार्य शौनक ने आचार्य

व्याडि के मत को उद्धृत किया है। जिसके अनुसार आचार्य व्याडि अनुस्वार को नासिक्य अथवा अनुनासिक मानते हैं।[1] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य व्याडि को अनुस्वार और अनुनासिक में भेद स्वीकार नहीं था। उनके अनुसार अनुस्वार नासिका से भी उच्चरित होता है, एवं मुख तथा नासिका दोनों के सहयोग से भी उच्चरित होता है। इस प्रकार अनुस्वार को जब मुख और नासिका दोनों से उच्चरित होने वाला वर्ण मान लिया जायेगा तो अनुस्वार और अनुनासिक दोनों संज्ञाओं का प्रयोजन क्या होगा ? ऋ० प्रा० के तेरहवें पटल में कतिपय ऐसे सूत्र हैं, जिनमें स्वतन्त्र पद में स्थित अनुस्वार का विधान है। ऋ० प्रा० १३।२२ पर भाष्य में उवट ने पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष के द्वारा यही स्पष्ट किया है कि कुछ लोग ऐसे भी थे, जो एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण को उच्चरित कर देते थे।[2] वे लोग अनुस्वार के स्थान पर ङकार का उच्चारण कर देते थे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उस समय ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो अनुस्वार के उच्चारण को अनुनासिक की भाँति कर देते थे।

तै० प्रा० १५।१-३ सूत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है, कि तै० प्रा० में भी अनुस्वार और अनुनासिक में भेद माना गया है। इन सूत्रों में विधान किया गया है, कि नकार जब रेफ, ऊष्मवर्ण अथवा यकार में परिवर्तित होता है तब पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है। इसी प्रकार मकार के लोप होने पर भी पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है। साथ ही अगले दो सूत्रों में यह कहा गया है कि कतिपय आचार्य ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार ऐसी स्थिति में अनुस्वार का आगम हो जाता है।[3] तै० प्रा० १।१ पर त्रि० में तो स्पष्टतः कहा गया है कि काल-विशेष का आश्रय लेने के कारण यह अनुस्वार धर्मी है, अनुनासिक की भाँति धर्म नहीं है।[4] प्रातिशाख्यों में अनुस्वार के अङ्गत्व के विषय में तथा मात्रा के विषय में पर्याप्त विधान किये गये हैं, परन्तु किसी भी प्रातिशाख्य एवं अन्य ध्वनिवैज्ञानिक ग्रन्थों में अनुनासिक के अङ्गत्व और उच्चारणकाल के सम्बन्ध में किसी प्रकारका विधान प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि तै० प्रा० २।३० में यह कहा गया

---

१. व्याडिर्नासिक्यमनुनासिकं वा।—ऋ० प्रा० १३।३७

२. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० १३।२२ पर उवट-भाष्य

३. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः।—तै० प्रा० १५।१, नैकेषाम्।—तै० प्रा० १५।२, ततस्त्वनुस्वारः।—तै० प्रा० १५।३

४. कालविशेषाश्रयत्वादसौ धर्मी न त्वनुनासिकवद्धर्मः।—तै० प्रा० १।१ पर त्रि०

है कि अनुस्वार और वर्गों के अन्तिम वर्ण अनुनासिक हैं।[1] परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रातिशाख्य को अनुस्वार तथा अनुनासिक में भेद मान्य नहीं है। यदि अनुस्वार तथा अनुनासिक में भेद स्वीकार्य न होता, तो इस प्रातिशाख्य में अनुस्वार और अनुनासिक दोनों शब्दों का प्रयोग ही न किया गया होता। इस सूत्र का तात्पर्य यही है कि अनुस्वार और वर्गों के अन्तिम वर्ण नासिका की सहायता से उच्चरित होते हैं। जिसमें अनुस्वार का उच्चारण नासिका से ही होता है, और वर्गोत्तम वर्णों के उच्चारण में नासिका और मुख दोनों ही कार्य करते हैं। वा० प्रा० १।७४-७५ में अनुस्वार और अनुनासिक वर्णों के उच्चारण-स्थानों का पृथक्-पृथक् विधान किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रातिशाख्य को अनुनासिक और अनुस्वार का भेद स्पष्टतः ज्ञात है।[2] च० अ० में एक भी स्थान पर अनुस्वार शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसमें अनुनासिक के अन्तर्गत ही अनुस्वार और अनुनासिक दोनों का अन्तर्भाव कर लिया गया है। अनुस्वार के प्रसङ्ग में च० अ० के इस विचार को स्पष्ट किया जा चुका है।

अनुस्वार और अनुनासिक दोनों ही पराश्रित ध्वनियाँ है। दोनों ही किसी अन्य ध्वनि पर आश्रित होकर अपने स्वरूप का ज्ञान कराती हैं। परन्तु अनुस्वार स्वर-वर्ण पर आधारित एक पृथक् ध्वनि है। यह केवल अपने उच्चारण के लिए स्वर को अपना आधार बनाती है। तै० प्रा० के वैदिकाभरण-भाष्य में तथा अन्य कतिपय शिक्षाओं में इसे अर्द्धगकार के सदृश कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार अन्य व्यञ्जन अपने उच्चारण के लिए स्वर की सहायता लेते हैं, उसी प्रकार अनुस्वार भी स्वर की सहायता से ही उच्चरित होता है। परन्तु अनुनासिक तो अपने आश्रयी-वर्ण के बिना अपने स्वरूप को स्पष्ट भी नहीं कर पाता। इसीलिए अनुनासिक के उच्चारण-काल का विधान किसी भी ग्रन्थ में नहीं किया गया है तथा यह भी नहीं कहा गया है कि यह ध्वनि किस स्वर का अङ्ग होकर स्वराघात वहन कर सकेगी। अनुस्वार के अङ्गत्व का विधान प्रातिशाख्यो में स्पष्ट रूप से कर दिया गया है, तथा उसके उच्चारणकाल का भी अत्यन्त वैज्ञानिक वर्णन प्रातिशाख्यों में प्राप्त होता है। अनुस्वार अन्य वर्णों की भाँति धर्मी है, परन्तु 'अनुनासिक' वर्णों का धर्म है। अनुस्वार अपने आश्रयभूत स्वर के साथ जतुकाष्ठवत् रहता है, परन्तु अनुनासिक दुग्धजलवद् रहता है। इसीलिए अनुस्वार की मात्रा का

---

१. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः।—तै० प्रा० २।३०

२. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके।—वा० प्रा० १।७४, मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः।—वा० प्रा० १।७५

विवेचन करते समय उसके आश्रयभूत स्वर की मात्रा का पृथक् विधान किया गया है एवम् अनुस्वार की मात्रा का पृथक् विधान किया गया है। परन्तु अनुनासिक की मात्रा उतनी ही होती है, जितनी उसके आश्रयभूत वर्ण की मात्रा होती है। अनुनासिकता अपने आश्रयभूत वर्ण के प्रत्येक अंश में सम्मिश्रित रहती है। परन्तु अनुस्वार की स्थिति इसके विपरीत है। जहाँ स्वर होगा वहाँ अनुस्वार नहीं होगा और जहाँ अनुस्वार होगा वहाँ स्वर नहीं होगा। इसका कारण यह है कि अनुस्वार का उच्चारण करते समय उसके आश्रयभूत स्वर का उच्चारण करने के पश्चात् ही अनुस्वार उच्चरित होता है। और इस प्रक्रिया में नासिका द्वारा वायु की बहिर्गमन रूपी क्रिया केवल अनुस्वार के उच्चारण में ही होती है, उसके आश्रयभूत स्वर के उच्चारण में वायु नासिका से बाहर नहीं निकलती। परिणामतः स्वर में नासिक्य गुण नहीं आ पाता। परन्तु अनुनासिक के उच्चारण में वायु सदैव मुख और नासिका दोनों मार्गों से बाहर निकलती रहती है। अनुस्वार और अनुनासिक में एक भेद यह भी कहा जा सकता है कि अनुस्वार का क्षेत्र केवल रेफ और ऊष्म-वर्णों से पूर्व ही है, जबकि अनुनासिक के विषय में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह किसी भी स्थिति में प्रयुक्त हो सकता है। ऋ० प्रा० १।५ के अनुसार अनुस्वार ध्वनि स्वर और व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त परन्तु दोनों से भिन्न एक तीसरी कोटि का वर्ण है।[1] जबकि अनुनासिक स्वर और व्यञ्जन से भिन्न न होकर उनके धर्म अर्थात् गुण के रूप में रहता है। यँ्, वँ्, लँ् अनुनासिक अन्तस्था वर्ण हैं तथा अँ, आँ, इँ इत्यादि अनुनासिक स्वर हैं। अनुनासिकता इन वर्णों का गुण हैं।

अनुस्वार की गणना प्रातिशाख्यों में अयोगवाह संज्ञक वर्णों में की गई है। परन्तु अनुनासिक को वर्णसमाम्नाय में परिगणित नहीं किया गया है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुस्वार एक स्वतन्त्र वर्ण है, परन्तु अनुनासिकता वर्णों का गुण (धर्म) है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि अनुस्वार और अनुनासिक में पर्याप्त भेद है, (१) अनुस्वार स्वर के साथ उच्चरित होने वाला स्वतन्त्र वर्ण है तथा अनुनासिक स्वतन्त्र वर्ण न होकर स्वर का धर्म है। (२) अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, परन्तु अनुनासिक अङ्ग न होकर स्वर का गुण है। (३) अनुस्वार के उच्चारण में उसके आधारभूत स्वर की मात्रा के अति-

---

१. अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा।—ऋ० प्रा० १।५

रिक्त समय लगता है, जिसका विवेचन 'उच्चारणकाल' नामक अध्याय में किया जायेगा, परन्तु अनुनासिक की वही मात्रा होती है जो इसके आधारभूत वर्णों की मात्रा होती है। यद्यपि तै० प्रा० १।३७ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने अवसानस्थ अनुनासिक (स्पर्श ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) के उच्चारण में अधिक मात्राकाल का विधान किया है, परन्तु ऐसा उच्चारण संहिता-पाठ में सम्भव नहीं है।[1] पद-पाठ में ध्वनियों की अनुनासिकता की भी स्वतन्त्र मात्रा होती है, परन्तु वैदिकाभरण के अतिरिक्त न तो अन्य किसी भाष्य में तथा न ही किसी प्रातिशाख्य में इस प्रकार का विधान प्राप्त होता है। (४) अनुस्वार के उच्चारण में सम्पूर्ण वायु नासिकाविवर से ही बाहर निकल जाती है, परन्तु अनुनासिक के उच्चारण में वायु का कुछ भाग मुख से और कुछ भाग नासिका से एक साथ ही निकलता रहता है।

नासिक्य

प्रातिशाख्यों में 'नासिक्य' शब्द का प्रयोग उन सभी ध्वनियों के लिए किया गया है, जिनके उच्चारण में नासिका का न्यूनाधिक योगदान रहता है।[2] परन्तु प्रस्तुत स्थल पर हम उस नासिक्य ध्वनि का विवेचन करेंगे, जिसको प्रातिशाख्यों में स्वतन्त्र वर्ण मानकर अनुस्वार, अनुनासिक एवं यमों के अतिरिक्त वर्ण के रूप में वर्णसमाम्नाय में पृथक् वर्ण माना गया है। वा० प्रा० ८।२३ तथा ऋ० तं० २ में 'हुँ' को नासिक्य कहा गया है।[3] इसी प्रकार तै० प्रा० एवं च० अ० भी इस ध्वनि का सम्बन्ध हकार के साथ स्वीकार करते हैं।

ऋ० प्रा० १।४८ में नासिक्य शब्द का प्रयोग ध्वनिविशेष के अर्थ में किया गया है। इस सूत्र में कहा गया है कि नासिक्य, यम तथा अनुस्वार—इन ध्वनियों को छोड़कर अन्य सभी ध्वनियाँ ओष्ठ्य हैं।[4] इस सूत्र के भाष्य में उवट ने (ँ) ध्वनि को नासिक्य कहा है तथा साथ ही यह भी कहा है कि कं, खं, गं, घं (यम) एवं अं (अनुस्वार) ये सभी नासिक्य हैं।[5] ऋ० प्रा० के इस विधान से

---

१. द्रष्टव्य—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

२. अपवाद्य नासिक्यान् परिवर्ज्य नासिकास्थानान्वर्णानित्यर्थ।—तै० प्रा० १।४७ पर उवट

३. हुँ इति नासिक्यः।—वा० प्रा० ८।२३, हुमित्यनुनासिकः।—ऋ० तं० २

४. नासिक्ययमानुस्वारान्।—ऋ० प्रा० १।४८

५. ँ इति नासिक्यः। कं खं गं घं इत्यादयो यमाः।..........अं इत्यनुस्वारः। एते नासिक्याः।—ऋ० प्रा० १।४८ पर उवट

एवं उवटकृत भाष्य से ऐसा स्पष्ट होता है कि ऋ० प्रा० में नासिक्य का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है, (१) नासिका से उच्चरित होने वाले वर्णों के विशेषण के लिए एवं (२) विशेष प्रकार की ध्वनि के लिये।

तै० प्रा० २१।१२-१४ में नासिक्य शब्द का प्रयोग 'यम' के लिए एवं हकार के पश्चात् आने वाली ध्वनि के लिए किया गया है।[1] जब हकार के बाद नकार, णकार अथवा मकार हो तो इनके मध्य नासिक्य-ध्वनियों का आगम हो जाता है। परन्तु इस सूत्र में यह नहीं कहा गया है, कि उस नासिक्य-ध्वनि का क्या स्वरूप है। इसी सूत्र (तै० प्रा० २१।१४) पर त्रि० भाष्य में कहा गया है कि इसका अर्थ है—हकार सानुनासिक हो जाता है।[2]

वा० प्रा० १।७४ में विधान किया गया है कि यम, अनुस्वार और नासिक्य का उच्चारण-स्थान नासिका है।[3] वा० प्रा० में भी न तो सूत्रकार ने और न ही भाष्यकारों ने नासिक्य ध्वनि के स्वरूप के विषय में कुछ विचार किया है। वा० प्रा० ८।२३ पर उवट ने यही कहा है, कि यह ध्वनि ऋक्शाखा में प्रसिद्ध है।[4]

च० अ० १।१०० में विधान किया गया है कि अनुनासिक स्पर्श बाद में होने पर हकार के बाद में नासिक्य ध्वनि द्वारा व्यवधान होता है।[5] इस प्रकार च० अ० भी नासिक्य को आगम स्वीकार करती है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह स्पष्ट होता है, कि सभी प्रातिशाख्य नासिका से उच्चरित होने वाली ध्वनियों के लिए सामान्य संज्ञा के रूप में नासिक्य का प्रयोग किये हैं। परन्तु तै० प्रा० एवं च० अ० में विशेषतः इस संज्ञा का प्रयोग उन ध्वनियों के अर्थ में किया गया है, जो हकार के बाद अनुनासिक स्पर्श रहने पर मध्य में आगम के रूप में आती हैं। इन दोनों प्रातिशाख्यों में नासिक्य ध्वनियों का विधान यम के विधान के ठीक बाद ही किया गया है। यम के सम्बन्ध में भी

---

१. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः, तान्यमान्येके, हकारान्नणमपरान्नासिक्यान्।—तै० प्रा० २१।१२-१४

२. सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः।—तै० प्रा० २१।१४ पर त्रि०

३. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके।—वा० प्रा० १।७४

४. अयमृक्शाखायां प्रसिद्धः।—वा० प्रा० ८।२३ पर उवट

५. हकारान्नासिक्येन।—च० अ० १।१००

तो यही विधान है कि अननुनासिक स्पर्शों के बाद अनुनासिक स्पर्श होने पर यम उत्पन्न होता हैं।[1] नासिक्य के विषय में भी अनुनासिक स्पर्शों को हकार के बाद होना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यम और नासिक्य एक ही प्रकार की ध्वनियाँ हैं। दोनों ही अनुनासिक स्पर्श के पूर्व उच्चरित होती हैं। यम और नासिक्य में भेद यही है कि यम के प्रसङ्ग में अननुनासिक स्पर्श का द्वित्व होकर तब द्वितीय स्पर्श यम को प्राप्त करता है। अतः वहाँ अननुनासिक स्पर्श अपने स्वरूप का जोड़ा हो जाता है, परन्तु नासिक्य में हकार का द्वित्व नहीं होता है अपितु परवर्ती वर्ण ही द्वित्व रूप में उच्चरित होता है, जिससे हकार में अनुनासिकता आ जाती है। यही अनुनासिकता 'नासिक्य' कही जाती है। वा० प्रा० ४।१०२ में संयोगादि हकार के द्वित्व का निषेध किया गया है तथा यह भी कहा गया है कि हकार के बाद में स्थित (परवर्ती) व्यञ्जन द्विरुच्चारित हो जाता है।[2] तै० प्रा० २।४९ में नासिक्य वर्णों को नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है तथा २।५० में यह भी कहा गया है कि नासिक्य ध्वनियों का उच्चारण विकल्प से मुख और नासिका दोनों से करना चाहिए।[3] इसी सूत्र पर वै० में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि हकार से बाद आने वाले नासिक्य को केवल नासिका द्वारा उच्चरित करना चाहिए।[4] तात्पर्य यह है कि हकार के बाद उच्चरित होने वाले नासिक्यों का स्थान नासिका है तथा अन्य व्यञ्जनों के बाद उच्चरित होने वाला 'नासिक्य' नासिका और मुख दोनों की सहायता से उच्चरित होता है।

तै० प्रा० २।४६ में हकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ बतलाया गया है।[5] परन्तु इसी सूत्र पर वैदिकाभरणकार ने एक कारिका उद्धृत की है, जिसमें यह कहा गया है, कि किसी भी वर्ग के पञ्चम-स्पर्श से संयुक्त होने पर हकार का उच्चारण 'उरस्' स्थान से होता है।[6] इसी प्रकार पाणिनि-शिक्षा २९ में 'रङ्ग' का

---

१. यम के विषय में पूर्ववर्ती अध्याय में 'यम'—प्रकरण को देखें।
२. परं तु रेफहकाराभ्याम् ।—वा० प्रा० ४।१०२
३. नासिक्याः नासिकास्थानाः ।—तै० प्रा० २।४९, मुखनासिक्या वा ।—तै० प्रा० २।५०
४. हकारात्परस्तु नासिकामात्र स्थान इति ।—तै० प्रा० २।५० पर वैदिकाभरण
५. कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ ।—तै० प्रा० २।४६
६. हकारं पञ्चमैयुक्तं अन्तस्थाभिश्च संयुतम् । उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ-माहुरसंयुतम् ॥—तै० प्रा० २।४६ पर वैदिकाभरण

उच्चारण हृदय से करने का विधान है, तथा इसकी ध्वनि कांस्यपात्र की ध्वनि के समान होने का उल्लेख है।[1] इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि 'रङ्ग' शब्द नासिक्य ध्वनि के लिए भी प्रयुक्त होता था। इसीलिए तै० प्रा० १।१ पर त्रि० में नासिक्य का उल्लेख न करके वर्ण-समाम्नाय में 'रङ्ग' का उल्लेख किया गया है। ह्विटनी के अनुसार 'रङ्ग' का प्रयोग नासिक्य के लिए ही हुआ है।[2] वास्तव में जब हकार ध्वनि अनुनासिकता से युक्त होकर उच्चरित होती है, तो उसकी श्रवणीयता उसी प्रकार की होती है, जैसो कांस्यपात्र के बजाने पर उत्पन्न होने वाली ध्वनि की श्रवणीयता होती है।

तै० प्रा० एवं च० अ० में कहा गया है कि हकार के पश्चात् उच्चरित होने वाली 'नासिक्य ध्वनि' का स्वरूप यम के स्वरूप की भाँति ही होता है। यम और नासिक्य दोनों ही आगम हैं। परन्तु 'यम' मूल ध्वनि के अतिरिक्त उच्चरित होता है, जबकि नासिक्य उसी ध्वनि (हकार) में सम्मिश्रित रहता है। इसका कारण हकार के द्वित्व का न होना है। अर्थात् अननुनासिक स्पर्श तो द्वित्व को प्राप्त कर लेता है, परन्तु हकार का द्वित्व नहीं होता।

प्रातिशाख्यों में नासिक्य को 'हुँ' के रूप में विहित करना भी उचित ही है। इसमें उकार को उच्चारण के लिए सम्पृक्त किया गया है। हकार के साथ ही इस ध्वनि का सम्बन्ध होने से इसे 'हुँ' के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। वास्तविक नासिक्य ध्वनि 'हँ्' के रूप में निष्पन्न होती है। हकार के उच्चारण में वायु फेफड़े से आकर कण्ठ में विकृत होती है। कण्ठ का तात्पर्य स्वरतन्त्रियों से है। अर्थात् हकार के उच्चारण में हृदयप्रदेश से उठी हुई वायु मुख में बिना किसी प्रकार का विकार हुए ही सीधे बाहर निकल जाती है, परन्तु जब यही हकार सानुनासिक उच्चरित होता है तब अनुनासिकता का उच्चारण नासिका द्वारा होने के कारण सम्पूर्ण वायु नासिकाविवर मार्ग से बाहर निकल जाती है। इसीलिए नासिक्य को नासिका से उच्चरित होने वाली ध्वनि स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भी यह कहना कठिन ही है कि इस आगम-स्वरूप ध्वनि का वास्तविक उच्चारण किस रूप में होता था। इसी विवादास्पद

---

१. हृदयादुत्कारे तिष्ठन्कांस्येन स्वमनुस्वरन्।—पा० शि० २९

२. द्रष्टव्य—तै० प्रा० १।१ पर त्रि० एवं ह्विटनी की अंग्रेजी व्याख्या

स्थिति के कारण ही ऋ० प्रा० १।४८ के उवट-भाष्य में (१) ँ इति नासिक्यः। (२) ॐ इति नासिक्यः। (३) ं इति नासिक्यः। (४) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इति नासिक्यः—कई प्रकार के विरोधी पाठ उपलब्ध होते हैं।

वस्तुतः भारतीय साहित्य में नासिक्य शब्द सर्वप्रथम 'छान्दोग्य उपनिषद्' में प्राप्त होता है। वहाँ पर इस शब्द का प्रयोग वर्णविशेष के अर्थ में न होकर 'प्राणवायु' के लिए किया गया है।[1] सम्पूर्ण ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में इस शब्द का प्रयोग पाँच सूत्रों में हुआ है; जिसमें केवल एक स्थल—ऋ० प्रा० १।४८ में एक ध्वनिविशेष के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग है। अन्य स्थलों पर नासिक्य का प्रयोग नासिका से उच्चरित होने वाले वर्णों के रूप में किया गया है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में इस ध्वनि के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत प्राप्त होते हैं, उनका कारण शाखाभेद या पाठभेद प्रतीत होता है।



१. ते ह नासिक्यं प्राणं उद्गीथं उपासाञ्चक्रिरे।—छां० उ० १।२।२

षष्ठ अध्याय

उच्चारण-काल

वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय की इकाई को उच्चारण-काल कहा जाता है। प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न कुछ समय अवश्य लगता है। प्रातिशाख्यों एवं अन्यान्य ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों में वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होते हैं।

उच्चारण में लगने वाले काल के परिमाण को नापने के लिए एक इकाई को कल्पित किया गया है, जिसे मात्रा (MORA or CHRONE) कहा जाता है। सामान्य रूप में अकार अथवा उकार के उच्चारण में लगने वाले समय के परिमाण को एकमात्रा कहा जाता है, परन्तु यह परिमाण मध्यम-वृत्ति में किए जाने वाले उच्चारण में लगने वाले काल का परिमाण है। सुविधा की दृष्टि से मात्रा के भी अर्द्धमात्रा, अणुमात्रा परमाणुमात्रा आदि अनेक भेदों की कल्पना की गई है। इनका विवेचन यथास्थान किया जाएगा। सर्वप्रथम मात्रा के मानक तत्त्वों पर विचार कर लेना प्रासङ्गिक होगा।

मात्रा के मानक-तत्त्व

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में 'मात्रा' का साम्य कतिपय पक्षियों की बोलियों से दिखलाया गया है। ऋ० प्रा० १३।५० में कहा गया है कि 'चाष' (नीलकण्ठ) पक्षी के एक बार बोलने में जितना समय लगता है, उसे एकमात्रा, वायस (कौवा) पक्षी के एकबार बोलने में जितना समय लगता लगता है, उसे दो मात्रा तथा मयूर पक्षी के एकबार बोलने में जितना समय लगता है, उसे तीन मात्रा कहा जाता है।[1] व्यास-शिक्षा २७।३ के अनुसार अङ्गुली के एक बार स्फोटन

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्। शिखी त्रिमात्रो विज्ञेयः एष मात्रापरिग्रहः॥—ऋ० प्रा० १३।५०

में जितना समय लगता है, उसे एक मात्रा-काल कहा जाता है तथा कतिपय आचार्य निमेषकाल अर्थात् पलक गिरने में लगने वाले समय को अथवा विद्युत् के चमक में लगने वाले समय को एकमात्रिक स्वीकार करते हैं।[1] तथा इसके दो गुने समय को द्विमात्रिक एवं तीन गुने समय को त्रिमात्रिक स्वीकार करते हैं।

प्राचीन ध्वनि-शास्त्रीय ग्रन्थों में एकमात्रिक ध्वनि के चार बराबर भागों की कल्पना की गई थी। इस प्रत्येक भाग को 'अणु' कहा गया था। अणु को इन्द्रियों का विषय नहीं माना गया है। अर्थात् जिस ध्वनि का उच्चारण-काल अणु-मात्रिक माना गया है, उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो पाता।[2] 'लोमशी शिक्षा' में अणु की तुलना सूर्य की किरणों में प्रतिबिम्बित होने वाले रजकण से की गई है।[3] इस तुलना का तात्पर्य है कि जिस प्रकार रजकण अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथा सरलतापूर्वक इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता, उसी प्रकार ये अणुमात्रिक ध्वनियाँ भी सरलतापूर्वक इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हो पातीं। वा० प्रा० १।५९, ६० में अर्द्धमात्रा काल को व्यञ्जन की मात्रा माना गया है, तथा उसके अर्द्धभाग को 'अणु' कहा गया है।[4]

अणु के पश्चात् सबसे सूक्ष्म मानक 'परमाणु' कहलाता है। वा० प्रा० १।६१ में अणु के आधे मात्रा-काल को परमाणु कहा गया है।[5] इस प्रकार परमाणु की मात्रा १।८ होती है। यही मात्रा की सूक्ष्मतम इकाई है।

च० अ० ३।६५ में भी अणु को १।४ मात्रा काल वाला मानक स्वीकार किया गया है।[6] ऋ० तं० ३४ में परमाणु का विधान करते हुए कहा गया है कि दो वर्णों के मध्य का विरामकाल परमाणु कहा जाता है,[7] तथा ऋ० तं० ४१

---

१. अङ्गुली स्फोटनं यावान् तावान् कालस्तु मात्रिकः।—व्या० शि० २७।३, निमेषकाला मात्रा स्याद् विद्युत् कालेति चापरे॥—शि० सं० पृ० ४३२
२. इन्द्रियाविषयो योऽसावणुरित्युच्यते बुधैः।—शम्भु-शिक्षा ४६
३. सूर्यरश्मिप्रतीकाशा कणिका यत्र दृश्यते।—शि० सं० पृ० ४६२
४. व्यञ्जनमर्धमात्रम्। तदर्धमणु।—वा० प्रा० १।५९, ६०
५. परमाण्वर्धाणुमात्रा।—वा० प्रा० १।६१
६. अभिनिहितप्रश्लिष्ट''''''अणुमात्राविकम्पितं तत्कवयो वदन्ति।—च० अ० ३।६५
७. वर्णान्तरं परमाणु।—ऋ० तं० ३४, वर्णान्तरं परमाणुमात्रं भवति तत्कला-र्धम्।—ऋ० तं० ३४ पर विवृत्ति

में यह भी कह दिया गया है कि अकार की आधी मात्रा अणु कहलाती है।[1] ऋ० तं० ३४ के अनुसार 'कला' के अर्द्ध भाग को परमाणु कहा जाता है, परन्तु वहाँ 'कला' को स्पष्ट नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋ० तं० के अनुसार मात्रा के चतुर्थ भाग को ही 'कला' की संज्ञा प्रदान की गई है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने सम्भवतः वा० प्रा० १।६१ संख्या वाले सूत्र के अशुद्ध पाठ 'परमाण्वर्धमात्रा' के आधार पर परमाणु को दो अणुओं के बराबर काल वाला स्वीकार किया है तथा व्यञ्जन को एक परमाणु मात्रा-काल में उच्चरित होने का उल्लेख किया है।[2] परन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है। वास्तव में अणु का अर्थ है 'सूक्ष्म' तथा परमाणु का अर्थ है 'अतिसूक्ष्म'। व्यञ्जन १।२ मात्राकाल में उच्चरित होने पर भी सरलता पूर्वक श्रुतिगोचर नहीं हो पाता, तथा १।४ अथवा १।८ मात्राकालिक ध्वनियाँ सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम होने के कारण अत्यन्त अल्प श्रवणीयता के साथ उच्चरित होती हैं। अतः व्यञ्जन अणुमात्रा-काल में उच्चरित नहीं हो सकता।

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से मात्रा सम्बन्धी निम्नलिखित चार प्रकार के तथ्य स्पष्ट होते हैं—(१) स्वर-वर्णों का उच्चारण-काल, (२) व्यञ्जन-वर्णों का उच्चारण-काल, (३) विराम का काल एवं, (४) अनुस्वार का उच्चारण-काल।

स्वरों का उच्चारण-काल

उच्चारण-काल के आधार पर स्वरों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में रखा गया है। जिन स्वरों के उच्चारण में सबसे कम समय लगता है, वे 'ह्रस्व' स्वर कहलाते हैं, जिनके उच्चारण में उससे अधिक समय लगता है, उन्हें 'दीर्घ' स्वर कहा जाता है तथा जिन स्वरों के उच्चारण में सर्वाधिक समय की आवश्यकता पड़ती है, उनको 'प्लुत' स्वर कहा जाता है।

अ, इ, उ, ऋ एवं लृ ह्रस्व-स्वर कहलाते हैं। आ, ई, ऊ, ॠ एवं ॡ दीर्घ स्वर कहलाते हैं तथा ए, ओ, ऐ, औ···सन्ध्यक्षरों को भी दीर्घ स्वर कहा जाता है एवं आ३, ई३, ऊ३, ॠ३, ॡ३, ए३, ऐ३, ओ३, तथा औ३ प्लुत स्वर कहलाते हैं।

---

१. तदर्द्धमणु।—ऋ० तं० ४१

२. द्रष्टव्य—डॉ० सिद्धेश्वर वर्माकृत A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians, Page 176

ह्रस्व-स्वर का उच्चारण-काल

उपरिलिखित ह्रस्व-स्वरों का उच्चारण 'एक मात्रा' काल में हो जाता है। सभी प्रातिशाख्य इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि स्वरों के ह्रस्वरूप का उच्चारण एक मात्रा-काल में ही करना चाहिए। ऋ० प्रा० १।२७ में ह्रस्व स्वर को एक मात्राकालिक ध्वनि कहा है।[१] तै० प्रा० में यद्यपि सूत्रकार ने कहीं पर भी यह स्पष्टरूपेण नहीं कहा है, कि ह्रस्व-स्वर का उच्चारण एक मात्राकाल में होता है, परन्तु तै० प्रा० १।३३ पर वै० भाष्य में कहा गया है कि "अकार के समान उच्चारण-काल वाला स्वर 'ह्रस्व' संज्ञक होता है। कितना पुनः अकार का (उच्चारण) काल होता है, जितने काल में यह (अकार) उच्चरित किया जाता है। उच्चारण में वैषम्य न होने से अव्यवस्था भी नहीं होती। चाष पक्षी एक मात्रा में बोलता है—इस प्रकार शिक्षा में बतलाया गया चाष पक्षी के बोलने का काल ही अकार का काल है—यही व्यवस्था होने से"।[२] वै० के उपर्युक्त कथन से यही निष्कर्ष निकलता है, कि ह्रस्व-स्वर को एक मात्रा काल में ही उच्चरित करना चाहिए। वा० प्रा० १।५५, ५६ में विधान किया गया है, कि अकार के परिमाण (उच्चारण-काल) वाला स्वर ह्रस्व कहलाता है तथा इसका (ह्रस्व-स्वर का) उच्चारणकाल एक मात्रा है।[३] च० अ० १।५९ में भी ह्रस्व स्वर को एक मात्रा काल में उच्चरित होने वाला स्वीकार किया गया है।[४] इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी ह्रस्व-स्वर को एक मात्रा में उच्चरित होने का विधान प्राप्त होता है।

दीर्घ-स्वर का उच्चारणकाल

दीर्घ स्वरों को दो मात्रा काल में उच्चरित किया जाता है। ऋ० प्रा० १।२९, तै० प्रा० १।३५, वा० प्रा० १।५७, च० अ० १।६१ एवं ऋ० तं० ४२

---

१. मात्रा ह्रस्वः।—ऋ० प्रा० १।२७

२. अकारेण तुल्यकालस्वरो ह्रस्वसंज्ञो भवति। कियान् पुनरकारस्य कालः? यावतायमुच्चार्यते। न चोच्चारणवैषम्यात्तदव्यवस्था स्यात्, चाषस्तु वदते मात्राम् इति शिक्षोक्तचाषरुतकालतुल्यस्य व्यवस्थितेः।—तै० प्रा० १।३३ पर वैदिकाभरण

३. अमात्रो ह्रस्वः।—वा० प्रा० १।५५, मात्रा च।—वा० प्रा० १।५६

४. एकमात्रो ह्रस्वः।—च० अ० १।५९

में दीर्घ स्वरों का उच्चारणकाल दो मात्रा माना गया है।[1] शिक्षा-ग्रन्थों में भी दीर्घ स्वरों को दो मात्रिक ध्वनि स्वीकार किया गया है।

प्लुत-स्वर का उच्चारणकाल

सभी प्रातिशाख्य एवं शिक्षा-ग्रन्थ एकमत से स्वीकार करते हैं कि प्लुत स्वर तीन मात्राकाल में उच्चरित होता है। ऋ० प्रा० १।३०, तै० प्रा० १।३६, वा० प्रा० १।५८, ऋ० तं० ४३ एवं च० अ० १।६२ में प्लुत स्वरों को तीन मात्राकाल में उच्चरित करने का विधान किया गया है।[2] ऋ० तं० ४४ में प्लुत के लिए 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग किया गया है तथा कहा गया है कि 'वृद्ध' स्वर त्रिमात्रिक होता है।[3] लोमशी शिक्षा में भी प्लुत के लिए 'वृद्ध' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[4] डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि कतिपय शिक्षायें 'प्लुत' और 'वृद्ध' में अन्तर प्रदर्शित करती हैं। उदाहरणार्थ—'ह्रस्व, दीर्घ प्लुत मात्रा लक्षण' नामक हस्त-लिखित ग्रन्थ में कहा गया है कि दो मात्राओं से संयुक्त ह्रस्व स्वर 'प्लुत' कहलाता है जबकि एक मात्रा से संयुक्त दीर्घ स्वर 'वृद्ध' कहलाता है।[5] वस्तुतः संस्कृत में कोई भी स्वर अपने मूलरूप में प्लुत नहीं उच्चरित होता है। दीर्घ-स्वर को ही अधिक देर तक उच्चरित करने से वह दीर्घ-स्वर 'प्लुत' स्वर का रूप ग्रहण कर लेता है। इस ग्रन्थ के अनुसार एकमात्रिक स्वर जब तीनमात्रिक हो जाता है तब उसे प्लुत कहा जाता है। इस तथ्य को समझने के लिए 'प्लुत' का शाब्दिक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। 'प्लुत' शब्द कूदना अर्थ वाली 'प्लु' धातु से 'क्त'

---

१. द्वे दीर्घे।—ऋ० प्रा० १।२९, द्विस्तावान् दीर्घः।—तै० प्रा० १।३५, द्विस्तावान् दीर्घः।—वा० प्रा० १।५७, द्विमात्रो दीर्घः।—च० अ० १।६१, द्वे दीर्घः।—ऋ० तं० ४३

२. तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः।—ऋ० प्रा० १।३०, त्रिः प्लुतः।—तै० प्रा० १।३६, प्लुतस्त्रिः।—वा० प्रा० १।५८, त्रिमात्रः प्लुतः।—च० अ० १।६२

३. तिस्रो वृद्धम्।—ऋ० तं० ४४

४. ह्रस्वं दीर्घं तथा वृद्धमभिगीतं तु सामगाः।—लोमशी शि०, शि० सं०, पृ० ४५६

५. ह्रस्वं द्विमात्रासंयुक्तं प्लुतमाहुर्मनीषिणः। दीर्घं तु मात्रासंयोगाद् वृद्धमित्यभिधीयते॥ ह्रस्वं द्विमात्रं संयुक्तं प्लुतमाहुर्मनीषिणः। वृद्धः त्रिमात्रमेवापि व्यञ्जने त्वर्धमात्रिके।—डॉ० सि० वर्माकृत–A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians में उद्धृत

प्रत्यय लगने से बनता है। इसका अर्थ है—कूदा हुआ। तै० प्रा० १।३८ के वै० भाष्य में कहा गया है कि बाण की भाँति दूरगामी होने से इसे प्लुत कहा जाता है।[1] यहाँ बाण के समान दूरगामिता का तात्पर्य है—प्लुत स्वर एक मात्रा से तीन मात्रा को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् एक मात्रिक स्वर जब कूदकर तीन मात्रा में उच्चरित हो जाता है तभी यह प्लुत कहा जाता है। तथा जब द्विमात्रिक दीर्घस्वर बढ़ कर तीन मात्रिक उच्चरित हो जाता है, तब वह वृद्ध—बढ़ा हुआ कहा जाता है। पा० सू० ८।२।१०६ पर महाभाष्य में पतञ्जलि का कथन है कि प्लुत संध्यक्षर-ऐ, औ का उच्चारणकाल चार मात्रा है।[2] पतञ्जलि का मत है कि इन संध्यक्षरों में द्वितीय तत्त्व 'प्लुत' उच्चरित होता है। द्वितीय तत्त्व की मात्रा में ही वृद्धि होती है। पतञ्जलि ने यहीं पर शाकटायन के नाम से एक आपत्ति उठाई है, जिसके अनुसार संध्यक्षर ऐ, औ के दोनों ही तत्त्व बराबर मात्रा वाले होते हैं। शाकटायन का तर्क है—जिस प्रकार माता के गर्भ में स्थित शिशु के प्रत्येक अङ्ग समान रूप से वृद्धि कों प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इन सन्ध्यक्षरों के भी प्रत्येक अवयव समानरूपेण वृद्धि को प्राप्त करते हैं।[3] जिसका परिणाम यह होता है, कि उन स्वरों को अन्य प्लुत स्वरों की भाँति तीन मात्राकाल में ही उच्चरित किया जाता है। परन्तु पतञ्जलि का कथन इसके विपरीत है। उनके अनुसार इन संध्यक्षरों के द्वितीय तत्त्व इकार तथा उकार के प्लुत होने से इकार एवम् उकार की तीन मात्राओं के साथ अकार की एक मात्रा संयुक्त होने के कारण सन्ध्यक्षर 'ऐ' तथा 'औ' की कुल चार मात्रा हो जाती है। परन्तु कात्यायन का कथन है कि सन्ध्यक्षर ऐकार तथा औकार में द्वितीय तत्त्व इकार तथा उकार दीर्घ उच्चरित होता है तथा अकार की एक मात्रा के साथ ये संध्यक्षर तीन मात्रिक ही उच्चरित होते हैं। ऋ० प्रा० १३।४१ में विधान किया गया है कि सन्ध्यक्षर 'ऐ' तथा 'औ' में दोनों तत्त्वों का योग ह्रस्व स्वर-वर्ण और अनुस्वार के योग के समान होता है।[4] ह्रस्व स्वर वर्ण के बाद आने वाले अनुस्वार में अनुस्वार की मात्रा ह्रस्व स्वर-वर्ण से अधिक होती है। उसी प्रकार इन संध्यक्षरों में भी द्वितीय तत्त्व इकार तथा उकार की मात्रा प्रथम तत्त्व अकार की

---

१. शरादिवद्दूरगामित्वात्प्लुत इत्युच्यते।—तै० प्रा० १।३८ पर वैदिकाभरण
२. द्रष्टव्य—पा० सू० ८।२।१०६ पर महाभाष्य
३. इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रे वर्णोवर्णयोरिति तयोः प्लुत उच्यमाणे उभयविवृद्धिः प्राप्नोति। तद्यथा, अभिवर्धमानो गर्भः स्वाङ्गपरिपूर्णो वर्धते।—पा० सू० ८।२।१०६ पर महाभाष्य
४. ह्रस्वानुस्वार व्यतिसङ्गवत्परे।—ऋ० प्रा० १३।४१

मात्रा से अधिक होती है। आश्वलायन-श्रौतसूत्र में चारो सन्ध्यक्षरों (ए, ऐ, ओ, औ) के प्लुत उच्चारण के प्रसङ्ग में बड़ी दिलचस्प बात बतलाई गई है।[1] इसके अनुसार इन सभी संध्यक्षरों के प्रथम अंश अकार को ही प्लुत उच्चरित करना चाहिए। इस प्रकार 'द्वौ' का उच्चारण 'द्व३+उ' के रूप में करना चाहिए। वास्तव में आ० श्रौ० के अनुसार इन सन्ध्यक्षरों के दोनों तत्त्वों को पृथक् करके उनमें से प्रथम-तत्त्व को तीन-मात्रिक उच्चरित करना चाहिए तथा द्वितीय तत्त्व को एक मात्रिक उच्चरित करना चाहिए। इस प्रकार ये सन्ध्यक्षर चार मात्रिक उच्चरित होते हैं। ऐ, औ के प्लुत उच्चारण का विधान करते समय पाणिनि का कथन है कि इन दोनों सन्ध्यक्षरों के द्वितीय-तत्त्व इकार तथा उकार को ही प्लुत उच्चरित करना चाहिए। इसी प्रकार पा० सू० ८।१।१०७ में यह भी कहा गया है कि समीप से पुकारने के प्रसङ्ग में अप्रगृह्य सन्ध्यक्षर का प्रथम तत्त्व अकार ही प्लुत उच्चरित होता है।[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि पणिनि भी सन्ध्यक्षरों के प्लुत उच्चारण में चार मात्रायुक्त उच्चारण का विधान करते हैं।

स्वर वर्णों के उपरिकथित तीन प्रकार के उच्चारणों के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार के उच्चारण का संकेत कतिपय शिक्षाग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस प्रकार का उच्चारण 'अर्द्धदीर्घ' या 'क्षिप्र' कहा जाता है। 'पाराशरी शिक्षा' में अर्द्धदीर्घ के लिए 'क्षिप्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, और कहा गया है कि दीर्घ स्वर के क्षिप्र संज्ञक भेद को चुटकी बजाने के बराबर समय में उच्चरित होने वाला कहा गया है। क्षिप्र-स्वर दीर्घ-स्वर का आधा होता है। एक दीर्घ-स्वर को और अधिक दीर्घ नहीं किया जा सकता। दीर्घ स्वर के उच्चारण में जितनी मात्रा होती है, ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में भी उतनी ही मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। ऊष्मवर्ण और दीर्घ-स्वर को बराबर उच्चारणकाल में उच्चरित होने के कारण 'क्षिप्र' स्वर को उनसे आधे उच्चारणकाल में उच्चरित करना चाहिए।[3]

'पाराशरी शिक्षा' के इस कथन से तो यही मालूम होता है, कि ह्रस्व स्वर और 'क्षिप्र' स्वर में मात्रा की दृष्टि से कोई विभेद नहीं है। इसी बात को एक

---

१. विविच्य सन्ध्यक्षराणामकारं न चेत् प्रगृह्यो व्यञ्जनान्तो वा।—आ० श्रौ० सू० १।५

२. प्लुतावैच इदुतौ।—पा० सू० ८।१।१०६, एचो प्रगृह्यस्याद्दूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ।—पा० सू० ८।१।१०७

३. क्षिप्रं दीर्घं समाख्यातमङ्गुल्यामेकमन्तरम्। दीर्घस्यार्द्धं भवेद् क्षिप्रं नास्ति दीर्घस्य दीर्घता। यथा संख्या तु दीर्घस्य तथा चोष्मा प्रकीर्तिताः ऊष्मा दीर्घं समत्वं च क्षिप्रं कुर्यात् तदर्धकम्॥—पाराशरी शि०, शि० सं०; पृ० ५५

अन्य श्लोक में इस प्रकार कहा गया है—क्षिप्र स्वर एक मात्रा के साथ दीर्घ हो जाता है तथा मात्रा के बिना वह ह्रस्व रहता है।[1] परन्तु शिक्षाकार ने क्षिप्र स्वर का एक भी उदाहरण नहीं दिया है। जिससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वास्तव में क्षिप्र-स्वर से शिक्षाकार का क्या तात्पर्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर का यह भेद केवल विशेष परिस्थितियों में ही उपलब्ध होता रहा होगा। यह भेद तभी दृष्टिगत होता रहा होगा, जबकि ह्रस्व-स्वर का उच्चारण एक मात्रा से अधिक उच्चारणकाल में होता रहा होगा। 'केशवी शिक्षा' में विधान प्राप्त होता है कि वाजसनेयिसंहिता के संहितापाठ में ह्रस्व-स्वर का उच्चारण किञ्चित् दीर्घ किया जाता है।[2] इसके अनुसार 'इषे त्वोर्जे' में इकार का उच्चारण किञ्चित् दीर्घ किया जाना चाहिए। 'प्रतिज्ञा सूत्र' भी आद्यक्षर के अकार को किञ्चित् दीर्घ उच्चरित करने का उल्लेख करता है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा द्वारा अन्वेषित 'पारिशिक्षाटिका यजुष्भूषण' में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि कम्प-आघात में ह्रस्व स्वर का उच्चारण दीर्घ स्वर की भाँति किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ—'पितृदेवत्याँ ह्य्तत्'। यहाँ पर 'देवत्याँ' के अकार का उच्चारण दीर्घ-स्वर की भाँति किया जाना चाहिए। यहाँ पर दीर्घस्वर का तात्पर्य है, ह्रस्व स्वर का अपनी स्वाभाविक मात्रा से कुछ अधिक काल में उच्चरित होना।

अर्द्धदीर्घ अथवा क्षिप्र-स्वर के सम्बन्ध में मेरा अपना विचार है कि यह उच्चारण उस अवस्था में होता रहा होगा, जब किसी ध्वन्यात्मक कारणवश किसी व्यञ्जनयुक्त अक्षर में आदि वर्ण (व्यञ्जन) को अपेक्षाकृत गुरुतर उच्चरित किया जाता रहा होगा। उसके प्रभाव से उस अक्षर के आधारभूत-स्वर की मात्रा में भी कुछ दीर्घता आ जाती रही होगी। प्रतिज्ञासूत्र के अनुसार 'वसोः पवित्रमसि' के आद्यक्षर वकार एवं पकार का उच्चारण किञ्चित् दीर्घ होता है।[3] प्रातिशाख्यों में पकार के पूर्व उच्चरित होने वाले विसर्जनीय के उपध्मानीय में परिवर्तित होने का विधान प्राप्त होता है, तथा उपध्मानीय के बाद आने वाले पकार को द्वित्व-रूप में उच्चरित करने का भी विधान प्राप्त होता है। शिक्षा-ग्रन्थों में पदादि एवं पादादि में आने वाले यकार तथा वकार के जकार तथा बकार के रूप में उच्चरित होने

1. मात्रा सह भवेत् दीर्घं ह्रस्वं मात्राबिना भवेत्।—नारायणी शि०, शि० सं०, पृ० ५५
2. ह्रस्वं किञ्चिद् दीर्घं हल्युताकारे हल्विसर्गयुग्वर्णे च न संहितायाम्। केशवी—शि०, शि० सं०, पृ० १४७-१४८
3. पाद्यस्य संयुक्ताकारस्येषद् दीर्घता च भवति।—प्रतिज्ञासूत्र

से सम्बन्धित विधान भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए प्रतीत होते हैं कि यकारयुक्त तथा वकारयुक्त अक्षर के आधारभूत स्वरों की मात्रा भी अपेक्षाकृत बढ़ जाती है और इसी को 'अर्द्ध-दीर्घ' या 'क्षिप्र' कहा जाना चाहिए। इस प्रकार क्षिप्र या अर्द्ध-दीर्घ स्वर उसे कहेंगे, जिसके उच्चारण में ह्रस्व स्वर की अपेक्षा अधिक समय लगता है तथा दीर्घ स्वर की अपेक्षा कम समय लगता है। जब किसी पदादि व्यञ्जन के गुरुतर उच्चारण के प्रभाव से उसका आधारभूत ह्रस्व स्वर कुछ दीर्घ उच्चरित होता है तो उसकी संज्ञा अर्द्ध-दीर्घ या क्षिप्र हो जाती है।

स्वर-वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में विहित उपर्युक्त विधान केवल उच्चारण की मध्यमवृत्ति को लक्ष्य में रखकर किये गये हैं। 'द्रुत' और विलम्बित-वृत्तियों में स्वरों को अपेक्षाकृत कम तथा अधिक काल में उच्चरित किया जा सकता है। विलम्बित-वृत्ति में तो किसी भी स्वर को वक्ता की इच्छानुसार तीन से अधिक मात्रा में उच्चरित किया जा सकता है। स्वर-वर्ण अपनी निश्चित मात्रा से अधिक काल तक उच्चरित होने के लिए स्वतन्त्र हैं। परन्तु भाषा की कुछ इस प्रकार की विशेषतायें हैं, जिनके कारण परम्परागत रूप में प्लुत स्वरों को ही तीन मात्रा में उच्चरित किया जा सकता है। सामगानों अथवा अन्य संगीतों में स्वरों को पर्याप्त समय तक उच्चरित किया जाता है। संगीतज्ञ लोग आलाप लेते समय भी किसी स्वर को पर्याप्त समय तक उच्चरित करते रहते हैं।

व्यञ्जन-वर्णों का उच्चारणकाल

चतुरध्यायिका के अतिरिक्त सभी प्रातिशाख्यों में व्यञ्जन-वर्णों को आधी मात्रा में उच्चरित होने वाली ध्वनि माना गया है।[1] ऋ० तं० भी व्यञ्जन वर्णों को एक मात्रा अथवा आधी मात्रा में उच्चरित होने का विधान करता है।[2] च० अ० तो व्यञ्जनों का उच्चारणकाल एक मात्रा मानती है।[3] तै० प्रा० १।३७ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने शिक्षा-ग्रन्थों से कतिपय कारिकाओं को उद्धृत किया है, जिनके आधार पर यह कहा गया है, कि नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। इसके अनुसार अवसान में

---

१. इतरे च।—ऋ० प्रा० १।३४, ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्।—तै० प्रा० १।३७, व्यञ्जनमर्धमात्रा।—वा० प्रा० १।५९

२. मात्रार्धमात्रा वा।—ऋ० तं० २८

३. एकमात्रा ह्रस्वः, व्यञ्जनानि च।—च० अ० १।५९, ६०

स्थित ङ्, न्, ण्, न्, तथा म् के उच्चारण में अधिक समय लगता है। ह्रस्व स्वर वर्ण से बाद (उसके अङ्गभूत) उच्चरित होने वाले नासिक्य व्यञ्जनों के उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है एवं दीर्घ तथा प्लुत स्वरों के पश्चात् (उनके अङ्गभूत) उच्चरित होने वाले नासिक्य व्यञ्जनों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है।[1] परन्तु दूसरी कारिका में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा उच्चारण केवल पदपाठ में ही सम्भव है संहितापाठ में नहीं।[2] उदाहरणार्थ—ईदृङ्। च। अन्यादृङ्। च। एतादृङ्। च। इन स्थलों पर ङकार का उच्चारण दो मात्राकाल में होता है तथा 'सत्यराजा३न्', 'लाजी३न्' इत्यादि स्थलों पर नासिक्य वर्ण 'नकार' का उच्चारण एक मात्राकाल में ही होता है। अवसानस्थ लकार के उच्चारणकाल के सम्बन्ध में वैदिकाभरणकार का कथन है कि शिक्षा में अवसानस्थ लकार को तीन चौथाई मात्रा में उच्चरित होने का विधान किया गया है।[3] परन्तु यह विधान भी पदपाठ में ही सम्भव है। स्वर-विहीन व्यञ्जन नित्य ही अणुमात्रा काल में उच्चरित होते हैं।[4] इस प्रसङ्ग में वैदिकाभरणकार ने 'अत्यन्यानगाम्' मन्त्रांश को उद्धृत करके यह स्पष्ट कर दिया है कि इस स्थल पर अन्तिम व्यञ्जन का उच्चारण 'अणु' मात्राकाल में होता है। इसी प्रकार इसी भाष्य में अन्तस्थों के उच्चारणकाल के सम्बन्ध में भी अत्यन्त सूक्ष्म विचार प्राप्त होते हैं। ह्रस्व-स्वर के बाद उच्चरित होने वाले यकार, वकार तथा लकार का उच्चारण दो मात्रा-काल में होता है एवं किसी व्यञ्जन के पश्चात् उच्चरित होने पर इनका उच्चारण डेढ़ मात्राकाल में होता है, तथा दीर्घ स्वर से पूर्व उच्चरित होने वाला रेफ एक मात्रिक उच्चरित होता है।[5]

वैदिकाभरण में स्वरित आघात के बाद उच्चरित होन वाले कतिपय व्यञ्जनों की मात्रा में वृद्धि का उल्लेख भी किया गया है। इसके अनुसार स्वरित

---

१. ङणननमानां त्ववसानवर्तिनां कालाधिक्यं शिक्षायां स्मर्यते-ह्रस्वात्परं तु नासिक्यं द्विमात्रं यत्तदुच्यते। दीर्घात्प्लुताच्च तन्मात्रमेकमात्रमिति श्रुतिः।—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

२. अवसाने विशेषो यमन्येषां च न विद्यते। संहितायां तु तन्मात्रः पदकालेऽधिको भवेत्।—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

३. अवसाने लकारस्य त्रिपादत्वं सदा भवेत्।—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

४. अस्वरव्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते।—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

५. द्विमात्रा यलवा ह्रस्वादध्यर्द्धा व्यञ्जनान्तरः। दीर्घपूर्वात्परा रेफान्मात्रिका इति निर्णयः॥—तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

स्वर के अङ्गभूत व्यञ्जन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। तै० प्रा० १।४६ में कहा गया है कि स्वरित का प्रारम्भ 'उदात्त' के समान होता है एवं अन्त 'अनुदात्त' के समान होता है। परन्तु वैदिकाभरण के अनुसार यह द्वितीय-तत्त्व 'अनुदात्त' कभी स्वर-वर्णों में नहीं होता है, यह केवल उन व्यञ्जन वर्णों में होता है, जो उस स्वर से बाद में उच्चरित होते हैं। इन व्यञ्जनों को 'स्वरितग्राही व्यञ्जन' कहा जाता है।[1] इनका उच्चारण अर्द्धमात्रा काल में नहीं हो पाता है, इनके उच्चारण के लिए अधिक समय की आवश्यकता पड़ती है। व्यञ्जनों के उच्चारण में मात्राधिक्य का विधान उनके आधारभूतस्वर के प्रभाव के कारण ही किया गया है। उपरि-कथित व्यञ्जनों की मात्रा के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि जब आधुनिक युग में यन्त्रों की सहायता से यह निश्चित हो चुका है, कि व्यञ्जन-वर्णों के उच्चारण में लगने वाले कुल समय का परिमाण किसी प्रकार भी ह्रस्व स्वर के उच्चारण में लगने वाले समय के परिमाण से कम नहीं होता, तब प्राचीन आचार्यों ने व्यञ्जनों का उच्चारणकाल आधीमात्रा क्यों स्वीकार की ? इसका समाधान देना सरल कार्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन आचार्यों ने व्यञ्जन ध्वनियों के उच्चारण में लगने वाले समय के परिमाण को उतना ही स्वीकार किया है, जितने समय में व्यञ्जन-ध्वनियों का श्रवण होता है। स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में जितने समय तक वायु का स्फोटन होता है, उतना ही उसका उच्चारणकाल माना जाता है। क्योंकि ध्वनि स्फोटन-काल में ही श्रुतिगोचर होती है। परन्तु यदि इस दृष्टि से देखा जाय कि व्यञ्जन के उच्चारण में किये जाने वाले आभ्यन्तर-प्रयत्नों तथा वायु के स्फोटन-रूपी क्रियाओं में लगने वाला समय ही उस ध्वनि का उच्चारणकाल है, तो चतुर-ध्यायिका का मत अधिक समीचीन है। सर्वसम्मत-शिक्षा में भी स्वर-रहित व्यञ्जन का उच्चारण-काल चौथाई मात्रा (अणुमात्रा) माना गया है, तथा यह भी कहा गया है, कि स्वरयुक्त व्यञ्जन अर्ध-मात्रिक उच्चरित होता है।[2] व्यञ्जन का मापन सामान्यतः अर्द्धमात्रा क्यों माना गया था, इसका कारण यह बतलाया गया है कि व्यञ्जन का अर्द्धमात्रा में उच्चरित होना उसका स्वर के साथ सम्पर्क के कारण ही

---

१. अत्र स्वरितानां कालवृद्धिवचनं तद्ग्राहिव्यजनार्थमेव। वक्ष्यति-आदिरस्यो-दात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः तदनुदात्तसमत्वं केषुचित्स्वरितस्वरेषु न भवति। किन्तु तदङ्गभूतेषु परव्यञ्जनेष्वेव। तानि स्वरितग्राहीणीत्युच्यते। —तै० प्रा० १।३७ पर वैदिकाभरण

२. अस्वरं व्यञ्जनं नित्यमणुमात्रं प्रयुज्यते, संसर्गाच्चेति बाहुल्यान्मात्रा वृद्धेः प्रकीर्तिता।—सर्वसम्मत शिक्षा

है। इस कथन का अर्थ है कि अणुमात्रिक व्यञ्जन जब किसी स्वर के साथ उच्चरित होता है, तो उसकी मात्रा में स्वर की अणुमात्रा का सम्पर्क हो जाने से व्यञ्जन को अर्द्धमात्रिक माना जाता है। प्रो० रूदे (Reudet) का कथन है कि जब व्यञ्जन के बाद कोई स्वर आता है तब उसके उच्चारण में उच्चारण के गति की एक अति संक्षिप्त कालावधि लगती है, जो कि एक सेकेण्ड के शतांश का २ से ३ अंश तक होता है, तथा वह व्यञ्जन एवं स्वर दोनों में सामान्य होता है। प्रो० रूदे (Reudet) इसको स्वर का ही भाग स्वीकार करते हैं।[1] पाराशरी शिक्षा के अनुसार संघर्षी-ध्वनि की मात्रा दीर्घ स्वर की मात्रा के बराबर होती है।[2] इस शिक्षा का यह विचार तथ्य के अधिक अनुरूप है, क्योंकि संघर्षी ध्वनि के उच्चारण में मुखविवर से वायु निरन्तर निकलती रहती है। अतः इस प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में अन्य व्यञ्जनों के उच्चारण-काल की अपेक्षा अधिक समय लगना स्वाभाविक ही है।

वैदिकाभरण द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यञ्जनों के उच्चारण-सम्बन्धी विवरणों का विश्लेषण करने के प्रयास के फलस्वरूप यही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि उपर्युक्त उच्चारणकाल किसी क्षेत्र-विशेष एवं बोली-विशेष के सम्बन्ध में सत्य सिद्ध होते हैं। आधुनिक युग में ध्वनि-वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से वैदिकाभरण द्वारा उल्लिखित कतिपय विधानों की सत्यता को सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि जिन बोलियों को दृष्टि में रखकर उपर्युक्त विधान शिक्षा-ग्रन्थों में किये गये हैं, वे बोलियाँ पूर्णतया अब लुप्त हो गई हैं। अब उन्हें खोज निकालना अत्यन्त कठिन है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि व्यञ्जनों का उच्चारणकाल आधी मात्रा मानना सामान्य उच्चारण की दृष्टि से अधिक उचित है।

विराम का काल

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'विराम' के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित होगा। प्रातिशाख्यों में विराम के काल के विषय में भी अत्यन्त वैज्ञानिक विधान प्राप्त होते हैं। विराम का तात्पर्य है—उच्चारण का अभाव। अर्थात् जब किसी वाक्य अथवा पद का उच्चारण करते समय किसी विशेष स्थल पर थोड़ा

---

१. द्रष्टव्य—Elements de Phonetique Generald By Roudet.

२. यथा संख्या तु दीर्घस्य तथा चोष्मा प्रकीर्तिता ऊष्मा दीर्घसमत्वं च क्षिप्रं कुर्यात् तदर्द्धकम्—शि० सं०, पृ० ५५

रुककर पुनः उच्चारण प्रारम्भ किया जाता है, तो उस 'अनुच्चारणकाल' को विराम कहा जाता है। व्यास-शिक्षा की टीका में 'विराम' की व्याख्या करते हुए इसे 'अनुच्चारणकाल' कहा है।[1] पा० सू० १।४।११० में 'अवसान' को विराम कहा गया है।[2] इस सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्तकौमुदीकार का कथन है कि वर्णों का अभाव अवसान संज्ञक होता है।[3] इस प्रकार 'विराम' उसे कहेंगे, जब वक्ता उच्चारण करते-करते किसी स्थल-विशेष पर कुछ समय के लिए उच्चारण की प्रक्रिया को बन्द कर देता है तथा स्वयं कुछ आराम करने की स्थिति का अनुभव करता है। वेदमन्त्रों का उच्चारण करते समय वक्ता को अनेक स्थितियों में रुकना पड़ता है—जैसे दो पदों के उच्चारण के बीच, दो अर्द्धर्चों के उच्चारण के बीच एवं दो मन्त्रों के उच्चारण के बीच कुछ समय के लिए उच्चारण का अभाव होता है, इसे ही 'विराम' कहा जाता है। यह 'विराम' एक ही पद में दो स्वरों के मध्य भी होता है। अब विराम के काल के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है।

ऋ० प्रा० में 'विराम' के प्रसङ्ग में केवल 'विवृत्ति' एवं 'अवग्रह' के काल का विधान किया गया है। ऋ० प्रा० एवं अन्यान्य ग्रन्थों के आधार पर विवृत्ति दो प्रकार के स्थलों पर होती है—(१) एक ही पद के मध्य में तथा (२) दो पदों के संधिस्थल पर। ऋ० प्रा० २।१३ के अनुसार सम्पूर्ण ऋक्संहिता में 'पुरएता', 'तितउना', 'प्रउगम्' तथा 'नमउक्तिभिः'—इन्हीं चार पदों में समानपद-विवृत्ति है।[4] ये विवृत्तियाँ दो स्वरों के मध्य में होती हैं। ऋ० प्रा० २।३ में विवृत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—दो स्वरों के मध्य विद्यमान अवकाश (व्यवधान) (INTERVAL) को विवृत्ति कहते हैं।[5]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है, कि जहाँ पर दो स्वरों के मध्य संधि का स्थल होते हुए भी संधि नहीं की जाती है, वहाँ उच्चारण करते समय काल का व्यवधान होता है। तात्पर्य यह है कि संहिता में एक स्वर के उच्चारण के बाद बिना किञ्चित् काल का व्यवधान किये ही दूसरा स्वर उच्चरित कर दिया जाता

---

१. विरामः तूष्णीम्भूतःकालः।—व्या० शि० की व्याख्या

२. विरामोऽवसानम्।—पा० सू० १।४।११०

३. वर्णानामभावः अवसानसंज्ञः स्यात्।—पा० सू० १।४।११० पर सिद्धान्त-कौमुदी

४. पुरएता तितउना प्रउगंनमउक्तिभिः। अन्तःपदं विवृत्तयः।—ऋ० प्रा० २।१३

५. स्वरान्तरं तु विवृत्तिः।—ऋ० प्रा० २।३

है, जिसके परिणामस्वरूप संधि-विकार हो जाता है, परन्तु जब एक स्वर के बाद दूसरे स्वर को इस प्रकार उच्चरित किया जाय, जिससे उनके मध्य संधि-विकार न हो सके, तो प्रथम स्वर के उच्चारण के पश्चात् कुछ रुककर द्वितीय-स्वर का उच्चारण किया जायेगा। इसी अनुच्चारणकाल को विवृत्ति का काल कहा जाता है। विवृत्ति के काल का विधान करते हुए ऋ० प्रा० २।४ में कहा गया है, कि वह विवृत्ति विकल्प से स्वरभक्ति के काल वाली होती है।[1] इस सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्ति 'चौथाई' मात्राकाल वाली होती है यथा—'प्रऋभुम्यः' तथा 'प्रत्युअदर्शि'। एक ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति आधी मात्रा काल वाली होती है, यथा—'नू इत्था ते' तथा 'सानो अव्ये'। दोनों ओर दीर्घ-स्वर वाली विवृत्ति तीन चौथाई मात्राकाल वाली होती है यथा—'ता इँवर्धन्ति' एवं 'इमा गावः सरमे या ऐच्छः'।[2] तै० प्रा० २२।१३ में विधान किया गया है कि ऋग्विराम, पदविराम, विवृत्ति-विराम और समानपद-विवृत्ति विराम का काल क्रमशः तीन मात्रा, दो मात्रा, एक मात्रा एवं अर्द्धमात्रा होता है। तै० प्रा० के इसी सूत्र पर त्रिभाष्यरत्न एवं वैदिकाभरण दोनों भाष्यों में विविध विवृत्तियों में होने वाले विरामों की मात्रा के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया है। वैदिकाभरण में ऋग्विराम के दो भेद स्वीकार किये गये हैं—(१) ऋचा के अन्त में (२) ऋचा के मध्य में। ऋचा के मध्य में होने वाला विराम दो अर्धर्चों के मध्य होता है। ये दोनों प्रकार के विराम तीन मात्राकाल वाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऋचाओं का पाठ करते समय प्रत्येक अर्धर्च की समाप्ति होने के बाद तीन मात्राकाल का विराम करना चाहिए। वैदिकाभरणकार ने कतिपय अन्य प्रकार के विरामों की मात्रा के सम्बन्ध में भी उल्लेख किया है। जिनके अनुसार दो अनुवाकों के मध्य में 'डेढ़ मात्रिक' विराम होना चाहिए। इसी प्रकार जो शब्द यजुषमन्त्रों के अन्त में एवं प्रतीक मन्त्रों के अन्त में आते हैं, उनके पश्चात् भी डेढ़ मात्राकालिक विराम होता है। दो 'ब्राह्मणों' के मध्य में भी डेढ़-मात्रिक विराम होता है।[3] पदपाठ में प्रग्रह (प्रगृह्य) स्वर के पश्चात् तथा इति-

---

१. सा वा स्वरभक्तिकाला।—ऋ० प्रा० २।४

२. उभयतो ह्रस्वा पादमात्राकाला……। एकतो दीर्घमात्राकाला……उभयतो दीर्घा पदोनमात्राकाला……।—ऋ० प्रा० २।४ पर उवट

३. ऋचोविरामः ऋग्विरामः स द्विविधः—ऋचोऽन्ते मध्ये चेति। अनुवाकमध्यवर्तिनो विरामास्तेषामध्यर्धमात्रः कालः शिक्षायां स्मर्यते। ये शब्दा यजुरन्तप्रतीकान्तब्राह्मणमध्यविरामस्थास्तेषां विरामाः षड्भिर्मात्रा पादेस्संमिता भवन्तीति।—तै० प्रा० २२।१३ पर वैदिकाभरण

करण के योग में ऋचा के अन्त में भी दो माला-कालिक विराम होता है। क्रमपाठ में प्रग्रह (प्रगृह्य) स्वर के पश्चात् होने वाले ऋग्विराम को तीन मात्रिक जानना चाहिए।

'पद विराम' का तात्पर्य है—विभक्त पदों के मध्य में होने वाला विराम। अर्थात् पदपाठ में दो पदों के मध्य होने वाला विराम पद 'विराम' कहलाता है। यह विराम दोमात्रा कालिक होता है। क्रमपाठ में भी पदों के बाद दो मात्रा कालिक विराम करना चाहिए।[1] पदपाठ में 'समस्तपदों' के पृथक्करण में अवग्रह (पृथक्करण) को भी एक मात्राकालिक माना जाता है, अर्थात् जब समस्तपद को अवगृहीत किया जाता है, तब उन दोनों पदों के मध्य में एक-मात्राकालिक विराम होता है।[2] 'याज्ञवल्क्य शि०' १३ में कहा गया है कि अवग्रह में अर्द्धमात्रिक विराम होता है एवं दो पदों के मध्य में एक मात्रा-कालिक विराम करना चाहिए।[3]

'विवृत्तिविराम' का तात्पर्य है—दो पदों के मध्य होने वाली विवृत्ति का विराम। इसका काल एकमात्रा माना गया है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी मन्त्र में दो पदों के मध्य में सन्धि-स्थल होने पर भी संधि का अभाव दिखलाई पड़े तो ऐसे स्थल पर उन दोनों स्वरों के मध्य में एकमात्राकाल का विराम किया जाता है। तै० प्रा० २२।१३ पर 'त्रिभाष्यरत्न' व्याख्या में विवृत्ति चार प्रकार की स्वीकार की गई है, और प्रत्येक के काल के सम्बन्ध में भी विधान किया गया है। इसके अनुसार जिस विवृत्ति में पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व हो, तथा परवर्ती स्वर दीर्घ हो वह 'ह्रस्व' एवं 'दीर्घ' स्वरों के मध्य होने वाली विवृत्ति 'वत्सानुसृति' संज्ञक होती है तथा इसका काल एक मात्रा होता है। जो विवृत्ति पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर एवं परवर्ती ह्रस्व स्वर के मध्य होती है वह 'वत्सानुसारिणी' संज्ञक विवृत्ति है, तथा उसका

---

१. पदाध्याये त्वनृगन्तप्रग्रहात्परम् इतिकरण योगादृगन्तस्यापि द्विमात्रत्वमिष्यते क्रमाध्याये तु प्रग्रहात्परस्यैवऋग्विरामस्य त्रिमात्रत्वमिष्यते। विभक्तानां पदानां मध्ये विरामः पदविरामः स द्विमात्रः यथा—इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा॥ क्रमाध्यायेऽप्येष विधिर्भवत्येव।—तै० प्रा० २२।१३ पर वैदिकाभरण

२. अवग्रहाणामन्ते च विरामो मात्रिकस्स्मृतः।—तै० प्रा० २२।१३ पर वैदिकाभरण, तावदवग्रहान्तरम्।—ऋ० प्रा० १।२८

३. अवग्रहे तु कालः स्यादर्धमात्रात्मको हि सः। पदयोरन्तरे कालः एकमात्रा विधीयते॥—या० शि० १३

काल भी एक मात्रा होता है। दो ह्रस्व स्वरों के मध्य होने वाली विवृत्ति 'पाकवती' संज्ञक होती है तथा इसका काल तीन चौथाई मात्रा होता है। इसी प्रकार दो दीर्घ-स्वरों के मध्य होने वाली विवृत्ति 'पिपीलिका' संज्ञक होती है तथा इसका काल केवल एक चौथाई मात्रा होता है।[1] ऋ० प्रा० २।४ पर भाष्य में उवट ने विवृत्ति को काल की दृष्टि से तीन प्रकार की बतलाया है—(१) दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्ति, यथा—'प्रत्यु अदर्शि' में चौथाई मात्राकाल वाली; (२) एक ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति, यथा—'नू इत्था ते' 'सानो अव्ये' में आधी मात्रा काल वाली; (३) दोनों ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति यथा—'ता ईं वर्धन्ति' में तीन चौथाई मात्राकाल वाली विवृत्ति होती है।[2]

'विवृत्ति' के सम्बन्ध में उवट का मत त्रिभाष्यरत्नकार से भिन्न है। त्रिभाष्यरत्नकार ने दोनों ओर दीर्घस्वर वाली विवृत्ति में सबसे कम समय (१।४) मात्रा का उल्लेख किया है, जबकि उवट इसे तीन चौथाई (३।४) मात्रा काल वाली स्वीकार करते हैं। एक ओर दीर्घ तथा दूसरी ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्तियाँ त्रिभाष्यरत्नकार के मत से एक मात्राकालिक होती हैं, जबकि उवट इन्हें आधी (१।२) मात्राकाल वाली स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्तियाँ उवट के अनुसार एक चौथाई मात्राकाल वाली होती है, जबकि त्रिभाष्यरत्न उन्हें तीन चौथाई मात्राकालिक मानता है।

उपर्युक्त सभी विवृत्तियाँ दो पदों के मध्य होती हैं। एकपद के मध्य होने वाली विवृत्तियाँ संख्या में अत्यल्प हैं। तै० प्रा० में उनका काल आधीमात्रा माना गया है।

ऋक्तन्त्र ३४ में व्यञ्जनसमूह के अतिरिक्त दो ध्वनियों के उच्चारण के मध्य में चौथाई मात्राकालिक विराम होने का उल्लेख किया गया है।[3] ऋक्तन्त्र ३५ में दो स्वरों के मध्य अर्धमात्रिक विराम करने का विधान किया गया है।[4]

---

१. ह्रस्वादिः वत्सानुसृतिः अन्ते वत्सानुसारिणी। पाकवत्युभयोर्ह्रस्वा दीर्घमध्या पिपीलिका॥ मात्रा च वत्सानुसृतिस्तथावत्सानुसारिणी। पादोना स्याद् पाकवती पादमात्रा पिपीलिका॥—तै० प्रा० २२।१३ पर त्रि०

२. द्रष्टव्य—ऋ० प्रा० २।४ पर उवट

३. वर्णान्तरं परमाणुः।—ऋ० तं० ३४

४. स्वरयोरर्धमात्रा।—ऋ० तं० ३५

'अन्तःपद विवृत्ति' में भी अर्धमात्राकालिक विराम होता है, अतः ऋक्तन्त्र का यह विधान 'अन्तःपद विवृत्ति' के काल की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। व्यास शि० के अनुसार 'ओङ्कार' के अन्त में ढाई मात्राकालिक विराम किया जाता है।[1] व्यास शि० ४७१ में 'काण्ड' की समाप्ति पर, 'प्रश्न' की समाप्ति पर तथा 'अनुवाक्' की समाप्ति पर क्रमशः दशमात्रा, आठमात्रा एवं पांचमात्राकालिक विराम करने का विधान किया गया है।[2] ऋक्तन्त्र ३९ में सामगानों में दो मन्त्रों के मध्य तीन मात्राकालिक विराम करने का विधान किया गया है।[3]

शिक्षा-ग्रन्थों में विभिन्न विरामों के काल के सम्बन्ध में अन्य अनेक प्रकार के विधान किये गये हैं। परन्तु वे सभी विधान किसी न किसी प्रकार की पाठ-विशेषों की प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हैं। अतः विस्तारभय से उन सभी विधानों को प्रस्तुत स्थल पर विवेचन का विषय नहीं बनाया गया है।

अनुस्वार का उच्चारणकाल

अनुस्वार के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधान प्राप्त होते हैं। प्रातिशाख्यों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि अनुस्वार भी अन्य व्यञ्जनों के समान व्यञ्जन है, जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। शिक्षा-ग्रन्थों में अनुस्वार को ह्रस्व, दीर्घ एवं गुरुभेद से तीन प्रकार का माना गया है। ह्रस्व स्वर के पश्चात् उच्चरित होने वाला अनुस्वार 'दीर्घ'; दीर्घ स्वर के पश्चात् उच्चरित होने वाला अनुस्वार ह्रस्व एवं गुरु अक्षर बाद में होने पर उच्चरित होने वाला अनुस्वार 'गुरु' संज्ञक होता है।[4]

ऋ० प्रा० १३।३२, ३३ में उपधासहित अनुस्वार के उच्चारणकाल का विधान किया गया है। इसके अनुसार कतिपय आचार्यों का कहना है कि अनुस्वार से पूर्व में स्थित ह्रस्व स्वर वर्ण आधी स्वरभक्ति से न्यून होता है तथा ह्रस्व

---

१. केवलं प्रणवे तु स्यात्स्वरस्सार्धद्विमात्रिकः।—व्यास शि० ४६५

२. काण्डप्रश्नानुवाकान्ते दशाष्टपञ्चमात्रिकाः।—व्यास शि० ४७१

३. त्रिमात्रं सामसु।—ऋ० तं० ३९

४. ह्रस्वो दीर्घो गुरुश्चेति त्रिविधः परिकीर्तित। ह्रस्वात्परो भवेद् दीर्घो इ ँ स इति दर्शनम्॥ दीर्घात्परो भवेत् ह्रस्वो 'माँ सेभ्य' इति दर्शनम्। गुरौपरे ह्यनुस्वारो गुरुरेव हि स स्मृतः।—लघुमाध्यन्दिनीय शि० १३-१४

स्वर-वर्ण से बाद स्थित अनुस्वार आधी स्वरभक्ति से ही अधिक होता है।[1] ये आचार्य दीर्घ स्वर-वर्ण से बाद में स्थित अनुस्वार को चौथाई मात्रा से न्यून बतलाते हैं, तथा अनुस्वार से पूर्व में स्थित उस दीर्घ स्वर-वर्ण को चौथाई मात्रा से अधिक बतलाते हैं।[2]

उपर्युक्त दो सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अनुस्वार और उसके पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है, चाहे वह अनुस्वार ह्रस्वपूर्व हो अथवा दीर्घपूर्व हो। जब अनुस्वार के पूर्व ह्रस्व स्वरवर्ण होगा तो पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर वर्ण के उच्चारण में ३।४ मात्रा का समय लगता है तथा अनुस्वार के उच्चारण में १$\frac{१}{४}$ मात्रा का समय लगता है। जब अनुस्वार के पूर्व दीर्घस्वर होता है, तब पूर्ववर्ती दीर्घस्वर के उच्चारण में १$\frac{१}{४}$ मात्रा का समय लगता है और अनुस्वार के उच्चारण में ३।४ मात्रा का समय लगता है।

तै० प्रा० १।३४ में अनुस्वार को ह्रस्वस्वर के बराबर काल में उच्चरित होने वाली ध्वनि माना गया है।[3] इसी सूत्र पर वैदिकाभरण भाष्य में कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों से कारिकाओं को उद्धृत किया गया है। जिनमें स्पष्टरूपेण कहा गया है, कि एकमात्रिक स्वर से बाद में आने वाला अनुस्वार दो मात्राकाल में उच्चरित होता है तथा दो मात्रिक स्वर के बाद में आने वाला अनुस्वार एक मात्राकाल में उच्चरित होता है।[4] यह भी कहा गया है कि संयोग बाद में होने पर ह्रस्व स्वर से बाद में आने वाला अनुस्वार भी दो मात्राकाल के समानकाल में उच्चरित होता है।[5]

वा० प्रा० ४।१५० में विधान किया गया है कि ह्रस्व स्वर पूर्व में होने पर अनुस्वार डेढ़ मात्राकाल एवं पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर आधी मात्राकाल वाला होता

---

१. ह्रस्वामर्धस्वरभक्त्यासमाप्तामनुस्वारस्योपधामाहुरेके। अनुस्वारं तावतैवाधिकं च ह्रस्वोपधम् ॥—ऋ० प्रा० १३।३२

२. दीर्घपूर्वं तदूनम्।—ऋ० प्रा० १३।३३

३. अनुस्वारश्च।—तै० प्रा० १।३४

४. शिक्षायां तु मात्राद्विमात्रोऽनुस्वारो द्विमात्रान्मात्र एव तु।—तै० प्रा० १।३४ पर वैदिकाभरण

५. मात्रिकादपि संयोगे मात्रिकस्तु द्विरूपवत्। इति।—तै० प्रा० १।३४ पर वैदिकाभरण

है।[1] इसी प्रकार वा० प्रा० ४।१५१ में दीर्घ-स्वर से परवर्ती अनुस्वार को आधी मात्राकाल वाला एवं पूर्ववर्ती दीर्घ-स्वर को डेढ़ (१½) मात्राकाल वाला कहा गया है।[2] इस प्रकार वा० प्रा० के अनुसार भी अनुस्वार तथा उसके पूर्ववर्ती स्वर वर्णों के पृथक्-पृथक् उच्चारणकाल के सम्बन्ध में ऋ० प्रा० एवं वा० प्रा० में मतैक्य नहीं है। शिक्षा-ग्रन्थों में भी अनुस्वार की मात्रा के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया है, परन्तु इन सभी विधानों में भिन्नता है, जिसका कारण स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि उपर्युक्त भिन्नताएं विभिन्न क्षेत्रों के उच्चारण को प्रदर्शित करती हैं। उन उच्चारणों का सही-सही पता न लग सकने से इस तथ्य की सत्यता के विषय में निश्चितरूपेण कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मात्रा सम्बन्धी पूर्वोक्त विवरणों के ऊपर विचार करने से यही तथ्य प्रकाश में आता है, कि स्वर-वर्णों एवं व्यञ्जन-वर्णों के उच्चारणकाल के सम्बन्ध में प्रायः सभी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ एकमत हैं। व्यञ्जनों में नासिक्य ध्वनियों और ऊष्म वर्णों का उच्चारण अन्य व्यञ्जनों की अपेक्षा अधिक समय में होता है। इसका कारण यह है, कि ये ध्वनियाँ जब उच्चरित होती हैं, तब वायु-प्रवाह में नैरन्तर्य बना रहता है। अर्थात् नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण के समय वायु नासिका-विवर से निकलती रहती है तथा ऊष्म-ध्वनियों के उच्चारण में वायु घर्षण करती हुई मुख-विवर से निकलती रहती है। इसी कारण वायु-प्रवाह में सातत्य बने रहने से उनके उच्चारण में श्रवणीयता का आधिक्य होता है। तात्पर्य यह है कि नासिक्य-ध्वनियों और संघर्षी-ध्वनियों को श्रोता अन्य व्यञ्जनों की अपेक्षा अधिक समय तक सुनता रहता है। इनके उच्चारण में वायु को अवरोध का सामना नहीं करना पड़ता। अनुनासिक स्पर्श-वर्णों के उच्चारण में वायु अवरुद्ध होकर स्फुट होती है, तभी स्फोटनकाल में ध्वनि सुनाई पड़ती है। यही स्फोटनकाल उनका उच्चारणकाल माना जाता है। परन्तु नासिक्य-ध्वनियों तथा ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में वक्ता के द्वारा किए जाने वाले प्रयास के प्रथम चरण में ही ध्वनि का श्रुतिगोचर होना प्रारम्भ हो जाता है, इसीलिए इनका श्रवण भी अन्य व्यञ्जन ध्वनियों की अपेक्षा अधिक काल तक होता रहता है। अन्तस्थ-ध्वनियों के उच्चारणकाल में भी अनुनासिक स्पर्श-वर्णों की अपेक्षा कालगत अधिकता होती है। इसका कारण भी यही है, कि अन्तस्थों के उच्चारण में ध्वनि का श्रवण अपेक्षाकृत

---

१. अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽध्यर्धमात्रा पूर्वाचार्धमात्रेति।—वा० प्रा० ४।१५०
२. दीर्घादर्धमात्रा पूर्वाचाध्यर्धा।—वा० प्रा० ४।१५१

अधिक काल तक होता है। इसके उच्चारण में भी वायु का सातत्य स्पर्श-वर्णों की अपेक्षा अधिक काल तक बना रहता है, जैसा कि अन्तस्थ-वर्णों के उच्चारण के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रन्थों तथा अन्य अनेक ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों के सम्यक् अनुशीलन के आधार पर यही निष्कर्ष सामने आता है, कि सभी ग्रन्थ अपने अनुसार वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल की मात्रा का निर्धारण करते हैं। इस निर्धारण में जो भी विभिन्नतायें प्राप्त होती हैं, उनके मूल में शाखागत विशेष परम्पराओं के साथ ही भौगोलिक कारण भी हैं। आधुनिक युग में भी सभी क्षेत्रों में उच्चरित किये जाने वाले वर्णों की मात्रा समान नहीं होती। यहाँ तक कि प्रत्येक उच्चारणकर्त्ता की उच्चारण-प्रक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर उनमें भी कालगत वैभिन्न्य अवश्य प्राप्त होते हैं।

● ●

सप्तम अध्याय

स्वराघात

स्वराघात वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है। वैदिक मन्त्रों का प्रत्येक पद किसी न किसी स्वराघात से युक्त होता है। चारो वेदों की उपलब्ध समस्त संहितायें, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् उदात्तादि स्वरों से चिह्नित हैं। वेदों के अध्ययन में स्वरों की बड़ी महत्ता है। वैदिक मन्त्रों के शुद्ध पाठ के लिए एवम् उनके समुचित अर्थबोध के लिए स्वरों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। वैदिक मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने से इष्टफल की प्राप्ति के स्थान पर अनिष्ट फल प्राप्त हो जाता है, जैसा कि पाणिनि-शिक्षा ५२ में स्पष्टतः कहा गया है— जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होते हैं, वे मिथ्या रूप से प्रयुक्त होने के कारण यजमान के अभीष्ट अर्थ का कथन नहीं करते, अपितु वाग्वज्र बनकर यजमान का नाश कर डालते हैं। जैसे—इन्द्रशत्रु 'वृत्र' की स्थिति स्वर के अपराध के कारण हुई थी।[1]

'नारदीय शिक्षा' में स्वर की महत्ता को बतलाते हुए कहा गया है कि यज्ञों में स्वर और वर्ण से हीन प्रयुक्त होने वाले मन्त्र यजमान की आयु, प्रजा और पशु आदि को नष्ट कर देते हैं।[2] अतः यह सिद्ध होता है कि वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिए स्वरों का ज्ञान अत्यावश्यक है।

वेदार्थ को समझने के लिए स्वर की महत्ता को बतलाते हुए 'शबर स्वामी' ने 'मीमांसा सूत्र' के भाष्य में लिखा है कि उदात्तादि स्वरों की व्यवस्था वेदार्थ-

---

१. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥--पा० शि० ५२

२. प्रहीणः स्वरवर्णाभ्यां यो वै मन्त्रः प्रयुज्यते। यज्ञेषु यजमानस्य रुषत्यायुः प्रजा पशून् ॥—ना० शि०

ज्ञान के लिए है।[1] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उल्लेख किया है कि वेदाभ्यास कराते समय उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने पर खण्डिकोपाध्याय शिष्यों के मुख पर चाँटा लगाकर उनका उच्चारण शुद्ध कराते थे।[2]

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में स्वराघातों के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होते हैं। सभी प्रातिशाख्य अपनी-अपनी संहिताओं से सम्बद्ध मन्त्रों की स्वर-प्रक्रिया का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन करते हैं।

स्वरों की संख्या

विभिन्न ग्रन्थों में स्वरों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्राप्त होते हैं। महाभाष्य तथा नारद-शिक्षा में इनकी संख्या सात बतलाई गई है।[3] इसी प्रकार किसी ग्रन्थ में सात किसी में पाँच, किसी में चार तथा कहीं तीन, कहीं दो एवं एक स्वरों की ही सत्ता मानी गई है। सभी प्रातिशाख्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एवं प्रचय इन चार स्वरों को स्वीकार करते हैं। इनमें उदात्त तथा अनुदात्त एक दूसरे से निरपेक्ष स्वर हैं, किन्तु स्वरित स्वर उदात्त और अनुदात्त के मेल से निष्पन्न होता है। इसी प्रकार स्वरित के बाद उच्चरित होने वाला अनुदात्त प्रचय के रूप में परिवर्तित हो जाता है अतः मुख्य रूप से स्वर दो ही हैं—उदात्त और अनुदात्त। प्रस्तुत अध्याय में इन उदात्तादि स्वरों की उच्चारण-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला जायेगा।

स्वराघात का गानों से सम्बन्ध

स्वरों (स्वराघातों) का सम्बन्ध संगीतात्मकता से है। संगीत-शास्त्र में षड्ज्, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद नामक सात स्वरों को

---

१. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति। उच्यते—अर्थावबोधनार्थं भविष्यति। —जै० मी० सू० भाष्य ९।२।१ शबर स्वामी

२. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते, खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति।—पा० १।१।१ पर महाभाष्य

३. सप्त स्वराः भवन्ति···उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्ट, एकश्रुतिः सप्तमः।—महाभाष्य १।२।२३

स्वीकार किया गया है। ये ही षड्जादि सात स्वर वेदों में उदात्तादि स्वराघातों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। या० शि० ५ में कहा भी गया है कि गान्धर्व-वेद में कथित जो षड्जादि सात स्वर हैं, उन्हें ही वेद में उदात्तादि स्वर जानना चाहिए।[१] तथा इसके अगले श्लोक में यह भी स्पष्टरूपेण बतला दिया गया है कि षड्जादि सात स्वरों में निषाद और गान्धार उदात्त रूप हैं, ऋषभ और धैवत ये दो स्वर अनुदात्त रूप हैं और शेष षड्ज, मध्यम और पञ्चम नाम वाले स्वर स्वरित रूप हैं।[२] नारद शिक्षा में भी या० शि० के उपर्युक्त कथन का समर्थन किया गया है।[३] एक शिक्षा में तो यह स्पष्टरूपेण कह दिया गया है कि षड्जादि सात स्वरों की उत्पत्ति उदात्तादि तीन स्वराघात से होती है, जिनमें निषाद और गान्धार स्वरों की उत्पत्ति उदात्त से, षडज् और ऋषभ स्वर की उत्पत्ति अनुदात्त स्वराघात से तथा शेष तीन पञ्चम, धैवत और निषाद स्वरों की उत्पत्ति स्वरित स्वराघात से होती है।[४] साथ ही यह भी कहा गया है कि अन्तिम तीन स्वरों में से सातवें स्वर (निषाद) की उत्पत्ति स्वरित के 'क्षैप्र' तथा 'अभिनिहित' भेद से, छठें स्वर (धैवत) की उत्पत्ति स्वरित के तैरोव्यञ्जन तथा पादवृत्त भेद से एवं पञ्चम स्वर (पञ्चम) की उत्पत्ति स्वरित के प्रश्लिष्ट एवं प्रतिहत भेद से होती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीतशास्त्र में विहित सात स्वरों का उदात्तादि तीन स्वराघातों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामगानों में भी सात स्वरों (यमों) का प्रयोग होता था, जिन्हें क्रमशः क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्य कहा गया है। इनका सम्बन्ध भी उदात्तादि स्वराघातों से ही है। ऋ० प्रा० १३।४४ में कहा गया है कि सात स्वर ही यम हैं।[५] इस सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि गान्धर्ववेद में कहे गये षड्ज, ऋषभ, गान्धार,

---

१ गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः। त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उदात्तादयः स्वराः।—या० शि० ६

२. उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ। शेषास्तु स्वरिताः ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः।—या० शि० ७

३. उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभावाह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः।—ना० शि०, शि० सं० पृ० ४२०

४. गान्धारको मध्यम उच्चजातः षड्जर्षभौ द्वौ निहतोद्भवौ स्तः स पञ्चमो धैवतको निषादः त्रयः स्वराश्च स्वरितात्तु जाताः।—शिक्षासंग्रह

५. सप्तस्वरा ये यमास्ते।—ऋ० प्रा० १३।४४

मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद तथा सामगानों में विहित क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्य ये सभी यम हैं।[1] उवट के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि गान्धर्ववेदीय सात स्वरों को ही सामगानों के प्रसङ्ग में क्रुष्टादि नामों से अभिहित किया गया है।

सर्वप्रथम इन षड्जादि सात स्वरों की उच्चारण-प्रक्रिया के सम्बन्ध में विचार कर लेना प्रासंगिक है। तै० प्रा० २३।११ में विधान किया गया है कि मन्द्रादि तीन स्थानों में प्रत्येक में सात-सात यम होते हैं।[2] इस सूत्र के त्रिभाष्य-रत्न भाष्य में यमों का अर्थ 'उदात्तादि स्वर' किया हैं।[3] इसके आगे आने वाले दो सूत्रों २३।१२,१३ में इन यमों के नाम और इनके उच्चारण के सामान्य तथ्यों का कथन किया गया है।[4] वास्तव में गान्धर्ववेदीय स्वरों में पारस्परिक अन्तर ध्वनि की उच्चता एवं नीचता का ही होता है। कोई ध्वनि किसी अन्य ध्वनि की अपेक्षा अधिक उच्च होती है तथा कोई ध्वनि अन्य ध्वनि की अपेक्षा अधिक नीची होती है। तै० प्रा० में सूत्रकार ने इनके उच्चारण के प्रसङ्ग में केवल इतना ही कहा है कि इन कृष्टादि यमों की उपलब्धि 'दीप्तिजा' होती है। यह सूत्र भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्ति का विषय बना हुआ है। इस सूत्र पर अपनी व्याख्या में त्रिभाष्यरत्नकार ने केवल यही लिखा है कि क्रमशः बाद वाले यमों की दीप्तिजा से पूर्व-पूर्व यमों की उपलब्धि होती है अर्थात् अतिस्वार्य की दीप्तिजा से मन्द्र, मन्द्र की दीप्तिजा से चतुर्थ, चतुर्थ की दीप्तिजा से तृतीय, तृतीय से द्वितीय, द्वितीय से प्रथम और प्रथम से कृष्ट की उपलब्धि होती है।[5] परन्तु दीप्तिजा

---

१. ये ते सप्त स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः स्वरा इति गान्धर्ववेदे समाम्नाताः तथा सामसु···क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्रातिस्वार्याः इति ते यमा नामवेदितव्याः।—ऋ० प्रा० १३।४४ पर, उवट। ('क्रुष्ट' तथा 'कृष्ट' में मात्र पाठगत भेद है)

२. मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्त सप्त यमाः।—तै० प्रा० २३।११

३. यमाः स्वराः उदात्तादय इति यावत्।—तै० प्रा० २३।११ पर त्रि०

४. कृष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्रातिस्वार्याः। तेषां दीप्तिजोपलब्धिः। —तै० प्रा० २३।१२, १३

५. तेषां खलु सप्तयमानां उत्तरोत्तरदीप्तिजा पूर्वपूर्वोपलब्धिः स्यात्, तत् कथम्—अतिस्वार्यदीप्तिजा मन्द्रोपलब्धिः मन्द्राश्चतुर्थोपलब्धिः चतुर्थात् तृतीयः, तृतीयात् द्वितीयः द्वितीयात् प्रथमः।—तै० प्रा० २३।१३ पर त्रि०

शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। इस सूत्र पर अपनी अंग्रेजी-व्याख्या में प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी ने 'दीप्तिजा' शब्द को समस्यात्मक माना है और इसका शाब्दिक अर्थ ही दिया है। ह्विटनी ने दीप्तिजा का अर्थ (BRIGHTNESS) किया है।[1] तै० प्रा० के वैदिकाभरण-भाष्य के अनुशीलन से उपर्युक्त समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है। तै० प्रा० २२।९ की व्याख्या में वैदिकाभरणकार का कहना है कि इस सूत्र (आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य) से (उपर्युक्त) सात यमों में से प्रथम तीन यमों की उत्पत्ति कही जा रही है। गात्रों का आकर्षण (खिचाव), ध्वनि की परुषता एवं कण्ठविवर की संवृतता ध्वनि को उच्च करने के हेतु (कारण) हैं। इनमें 'द्वितीय' संज्ञक स्वर उत्क्षिप्त, 'प्रथम' संज्ञक स्वर उत्क्षिप्ततर एवं 'क्रुष्ट' संज्ञक स्वर उत्क्षिप्ततम हैं। ये सभी स्वर 'मूर्धा' प्रदेश से उत्पन्न होते हैं, अतः 'उच्च' कहे जाते हैं।[2] इसी प्रकार तै० प्रा० २२।१० की व्याख्या में कहा गया है—उच्चारणाङ्गों का ढीलापन, ध्वनि की मृदुता एवं कण्ठ-विवर की विवृतता (फैलाव) ध्वनि को नीची कर देते हैं, अर्थात् अवक्षिप्त बना देते हैं। इनमें 'चतुर्थ' संज्ञक स्वर कुछ अवक्षिप्त होता है, 'मन्द्र' संज्ञक स्वर अवक्षिप्ततर होता है एवं अतिस्वार्य संज्ञक स्वर अवक्षिप्ततम होता है। ये सभी स्वर हृदय-प्रदेश से उत्पन्न होते हैं, अतः 'नीच' शब्द से कहे जाते हैं।[3]

इन सात स्वरों (यमों) में से तृतीय नामक स्वर 'धृत' कहा गया है और यही तृतीय संज्ञक स्वर उत्क्षिप्तता और अवक्षिप्तता का मापदण्ड है। इससे पूर्ववर्ती

---

१. Of these, the perception is born of brightness.
द्रष्टव्य—विस्तृत विवरण के लिये तै० प्रा० २३।१३ पर ह्विटनी की अंग्रेजी-व्याख्या

२. तत्रादौ पूर्वेषां त्रयाणामनेन सूत्रेणोच्यते—आयामो गात्राणामाकर्षणम्। दारुण्यं परुषता ध्वनेः। अणुता संवृतता कण्ठाकाशस्य। एतानि कारणानि शब्द-मुच्चैः कुर्वन्ति-उत्क्षेपणं कुर्वन्ति। तत्रैषामुत्क्षिप्तो द्वितीयाख्यस्स्वरः। उत्क्षि-प्ततरः प्रथमाख्यः उत्क्षिप्ततमः क्रुष्टाख्यः मूर्धप्रदेशे जायन्ते इत्युच्चैश्शब्द-वाच्या भवन्ति।—तै० प्रा० २२।९ पर वैदिकाभरण

३. ......अन्ववसर्गो गात्राणां स्रंसनम्, मार्दवं ध्वनेः, उरुता विस्तीर्णता कण्ठ-विवरस्येति, एतानि कारणानि शब्दं नीचैः कुर्वन्ति अवक्षिप्तं कुर्वन्ति। अत्रैषदवक्षिप्तश्चतुर्थाख्यस्स्वरः। अवक्षिप्ततरो मन्द्राख्यः। अवक्षिप्ततमो-ऽतिस्वार्य संज्ञः। एवमेते हृदयप्रदेशे जायन्त इति नीचैश्शब्दवाच्याः भवन्ति। —तै० प्रा० २२।१० पर वैदिकाभरण

स्वर क्रमशः अधिक उत्क्षिप्त होते हैं, तथा इससे परवर्ती स्वर क्रमशः अवक्षिप्त होते हैं। तृतीय संज्ञक 'मध्यम' स्वर से पूर्व स्थित 'द्वितीय' नामक स्वर कुछ उत्क्षिप्त (उच्च ध्वनि युक्त) होकर उच्चरित होता है, द्वितीय से पूर्व स्थित 'प्रथम' नामक स्वर 'द्वितीय' स्वर की अपेक्षा अधिक उत्क्षिप्त उच्चरित होता है, तथा प्रथम स्वर से पूर्व स्थित 'क्रुष्ट' नामक स्वर सबसे अधिक उत्क्षिप्त (उच्च ध्वनि) में उच्चरित होता है। इसी प्रकार 'तृतीय' संज्ञक मध्यम स्वर से परवर्ती 'चतुर्थ' संज्ञक स्वर का उच्चारण 'तृतीय' स्वर की अपेक्षा अवक्षिप्त अर्थात् नीची ध्वनि से होता है। चतुर्थ के बाद स्थित 'मन्द्र' संज्ञक स्वर का उच्चारण चतुर्थ स्वर की अपेक्षा नीची ध्वनि से होता है तथा अंतिम स्वर अतिस्वार्य की उत्पत्ति सबसे नीची ध्वनि में होती है। इस प्रकार इन सातों स्वरों के उच्चारण में आपेक्षिक उच्चता एवं नीचता होती है। क्रुष्टस्वर सर्वाधिक ऊँची ध्वनि में उच्चरित होता है। 'प्रथम' स्वर 'क्रुष्ट' की अपेक्षा नीची ध्वनि से उच्चरित होता है। द्वितीय संज्ञक स्वर का उच्चारण प्रथम स्वर की अपेक्षा कुछ नीची ध्वनि से किया जाता है। तृतीय संज्ञक स्वर का उच्चारण द्वितीय स्वर की अपेक्षा कुछ नीची ध्वनि से होता है। इसी प्रकार 'चतुर्थ' 'मन्द्र' तथा 'अतिस्वार्य' स्वरों के उच्चारण में भी क्रमशः ध्वनि की नीचता अधिक होती जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्वोक्त सामवेदीय सातों स्वरों के उच्चारण में अन्तिम अर्थात् अतिस्वार्य स्वर सबसे नीची ध्वनि में उच्चरित होता है तथा उससे पूर्ववर्ती स्वर क्रमशः उच्च होते जाते हैं। अतः वै० के अनुसार 'दीप्तिजा' का अर्थ उच्चता है। अन्तिम स्वर को उच्च-ध्वनि से उच्चरित करने से उसके पूर्ववर्ती स्वर की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार परवर्ती स्वरों को उच्च ध्वनि में उच्चरित करते जाने से पूर्व-पूर्व स्वर की उत्पत्ति होती जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतिस्वार्य से थोड़ी उच्च ध्वनि 'मन्द्र' होगी। 'मन्द्र' से थोड़ी ऊँची ध्वनि 'चतुर्थ' होगी। चतुर्थ से थोड़ी ऊँची ध्वनि 'तृतीय' होगी। 'तृतीय' से थोड़ी ऊँची ध्वनि 'द्वितीय' 'द्वितीय' से थोड़ी ऊँची ध्वनि 'प्रथम' और प्रथम से भी ऊँची ध्वनि 'क्रुष्ट' कही जाती है।

सारङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर में 'दीप्त' शब्द का प्रयोग किया गया हैं, वहाँ पर इसका अर्थ 'तार' है।[1] तार का अर्थ ध्वनि की उच्चता से है। अर्थात् ध्वनि की लयात्मक उच्चता को तार कहा गया है। वहाँ भी क्रुष्टादि स्वरों में पारस्परिक

---

१. मन्द्रस्तारस्तु दीप्तः स्यान्मन्द्रो विन्दुशिरा भवेत्।—सारङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर ६।८

अन्तर 'तारता' का ही है। इन यमों के उच्चारण के सम्बन्ध में ना० शि० १।३७ में कहा गया है कि भरत आदि संगीत-शास्त्रियों के अनुसार गान के दश गुणों में से 'विकृष्ट' संज्ञा उच्च ध्वनि (TONE) से उच्चरित होने वाले स्वर के लिये हैं।[1] ना० शि० के अनुसार संगीत के दश गुण इस प्रकार हैं—रक्त, पूर्ण, अलङ्कृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकृष्ट, श्लक्ष्ण, संतुलित, सुकुमार तथा मधुर।[2] संगीत-रत्नाकर के अनुसार विकृष्ट का तात्पर्य—तार स्वर से है, जो मूर्धाप्रदेश से उच्चरित होता है तथा प्रथम नामक स्वर से उच्च है। इसी प्रकार अन्य स्वरों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा क्रमशः नीचता होती जाती है।

नारद-शिक्षा में संगीत के सात स्वरों की उत्पत्ति शरीर के विभिन्न अङ्गों से मानी गई है। षड्ज स्वर की उत्पत्ति कण्ठ से, ऋषभ की उत्पत्ति शिर से, गान्धार की उत्पत्ति नासिका से मध्यम की उत्पत्ति उरस् (छाती) से पञ्चम स्वर की उत्पत्ति सिर, वक्ष तथा कण्ठ से, धैवत स्वर की उत्पत्ति ललाट से और निषाद की उत्पत्ति सभी अवयवों के सहयोग से होती है।[3] इसके अतिरिक्त ना० शि० एवं संगीत-रत्नाकर दोनों ही ग्रन्थों में कहा गया है कि कतिपय पशु भी इन स्वरों का उच्चारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि इन स्वरों का उच्चारण कुछ पशुओं तथा पक्षियों की बोलियों से साम्य रखता है। नारद शि० के अनुसार 'षड्ज' स्वर का उच्चारण मयूर पक्षी करता है। 'ऋषभ' स्वर का उच्चारण गाय करती है। 'गान्धार' का उच्चारण अजा तथा अवि (बकरी और भेड़) करती हैं। 'मध्यम' का उच्चारण क्रौञ्च पक्षी करता है। बसन्तकालीन कोकिल 'पञ्चम' स्वर का उच्चारण करती है। 'धैवत' स्वर को अश्व बोलता है तथा निषाद स्वर को हाथी बोलता है।[4]

---

१. विकृष्टं नामुच्चैरुच्चारितम्, व्यक्तपदाक्षरमिति विकृष्टम्।—ना० शि० १।३७
२. गानस्य तु दशविधा गुणवृत्तिः तद्यथा—रक्तं पूर्णं अलङ्कृतं प्रसन्नंव्यक्तंविकृष्टं श्लक्ष्णं सुकुमारं मधुरं इति गुणाः।—ना० शि० शि० सं० पृ० ४०१-२
३. कण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः शिरसस्त्वृषभः स्मृतः। गान्धारस्त्वनुनासिक्य उरसो मध्यमः स्वरः॥ उरसः शिरसः कण्ठादुत्थितः पञ्चमः स्वरः। ललाटात् धैवतं विद्यान्निषादं सर्वसन्धिजम्॥—ना० शि०
४. षड्जं वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम्। अजाविके तु गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥ पुष्पासाधारणे काले कोकिला वक्ति पञ्चमम्। अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः॥—शि० सं० पृ० १०७, तुल०—मयूर-चातकछागाः क्रौञ्चकोकिलदर्दुरः गजश्च सप्तषड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी। —संगीतरत्नाकर १।३।४८

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत के स्वर-सप्तक की ध्वनियों का साम्य पशुओं और पक्षियों की बोलियों से इसीलिए दिखलाया गया है कि इन स्वरों में उत्पन्न ध्वनियाँ मृदुता, तीक्ष्णता, तारता आदि की दृष्टि से उपरिकथित प्राणियों की बोलियों से किसी न किसी सीमा तक अवश्य साम्य रखती हैं।

अब तक के विवरणों में यह पूर्णरूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वस्तुतः सामगान के स्वर-सप्तक की उत्पत्ति एवं उसका उच्चारण किस प्रकार होना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप यही कहा जा सकता है कि जब उच्चारणावयवों के खिंचाव, ध्वनि की परुषता तथा कण्ठ-विवर की संवृतता के साथ ध्वनि को पर्याप्त ऊँची करके बोला जायेगा तो क्रुष्ट नामक प्रथम स्वर (यम) का उच्चारण हो जायेगा। इसी प्रकार प्रथम तथा द्वितीय नामक स्वरों के उच्चारण के लिए उपर्युक्त स्थिति के साथ ही ध्वनि को अपेक्षाकृत नीची करके बोला जाना चाहिए तथा 'चतुर्थ' स्वर के उच्चारण के लिए गात्रों को ढीला करके ध्वनि की मृदुता के साथ कण्ठविवर को विस्तृत करके तथा ध्वनि को कुछ नीची करके बोलना चाहिए। इसी प्रकार ध्वनि को अपेक्षाकृत और नीची करके बोलने के फलस्वरूप मन्द्र तथा अतिस्वार्य की उत्पत्ति सम्भव है। इस सम्पूर्ण विवेचन का प्रयोजन यही है कि हमारे आचार्यों के अनुसार सामगानों में भी मुख्यरूप से उदात्तादि स्वराघातों में ही उच्चारण होता है। साम के 'आर्चिक' नामक संहिता ग्रन्थों में मुख्यतः जिन स्वरों का व्यवहार होता है वे उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं। वैदिककाल में मन्त्रों का गान इन्हीं स्वरों की सहायता से होता था। साम के सप्त-स्वरों की उत्पत्ति इन्हीं तीन स्वराघातों से हुई है, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है।

सामतन्त्र के 'ऋक्स्वरवत्' सूत्र पर भाष्य में कहा गया है कि सामवेद सम्बन्धी स्वर ऋग्वेद के स्वर की भाँति होते हैं। उच्च स्वर उच्च=उदात्त के द्वारा नीच स्वर नीच=अनुदात्त के द्वारा उच्चरित होते हैं। सामवेद के प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्र में भी उदात्तादि तीन स्वरघातों का ही विधान प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—ऋ० तं० ५१ में उदात्त को 'उत्' संज्ञक स्वर कहा गया है।[1] इसी प्रकार ऋ० तं० ५३ में स्वरित स्वराघात में उदात्त तथा अनुदात्त की मात्रा के

---

१. उदात्तमुत्।—ऋ० तं० ५१

सम्बन्ध में विधान किया गया है।[1] ऋ० तं० के अन्य अनेक सूत्रों में भी उदात्तादि स्वरों के स्वरूप के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विधान प्राप्त होते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि सामगानों में भी उदात्तादि स्वराघातों की ही प्रधानता है। इस प्रकार सामगानों में सम्पूर्ण स्वर-सप्तक का प्रयोग होने पर भी यही कहा जाना समीचीन है कि इन स्वर-सप्तक के मूल में उदात्तादि स्वरों की सत्ता कार्य करती है। उदात्ताति स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है, चाहे वह भाषण हो, काव्य हो अथवा गायन हो।

पा० सू० १।२।२९ के महाभाष्य पर टिप्पणी करते हुए कैयट उदात्तादि स्वरों का सामञ्जस्य षडजादि स्वरों से स्थापित करते हैं।[2] परन्तु विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वैयाकरणों के अनुसार उदात्तादि तीन स्वरों की सत्ता मूलतः भाषणक्रिया अथवा पाठ्यक्रिया से सम्बद्ध थी। संहिता-ग्रन्थों में उदात्त स्वर निश्चित होता है, जो विशेष वर्ण के उच्चारण का बोधक है। गान का नहीं। शिक्षा-ग्रन्थों में एक ही वर्ण में उपाधि-भेद से स्वरों के परिवर्तित होने का उल्लेख है, जो स्वरोच्चारण के सम्बन्ध में चरितार्थ होता है, स्वरगान के सम्बन्ध में नहीं। सामवेद के प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के विधानों से यह स्पष्ट है कि सामगानों में ऋग्वेद की भाँति तीन ही स्वरों का प्रयोग किया जाता था तथा उनकी संज्ञा भी वही थी जो ऋग्वेद प्रातिशाख्य में है। इन्ही स्वरों की उच्चतर ध्वनियों के लिए आरम्भ में उदात्ततर तथा अनुदात्ततर संज्ञाओं का प्रयोग होता रहा। साम-संगीत के विकास के साथ ही साथ सप्त-स्वरों का क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय आदि स्वतन्त्र नामकरण हुआ। गान्धर्ववेद के षड्जादि स्वर इन्हीं के परवर्ती रूप माने जा सकते हैं। सम्भव है कि गान्धर्ववेद के सप्त-स्वरों को प्राचीनता का गौरव प्रदान करने हेतु ही इनको वैदिक परम्परा से सम्बद्ध माना गया हो और इसीलिए गान्धर्ववेद के षड्जादि स्वरों का सम्बन्ध उदात्तादि वैदिक स्वराघातों से प्रदर्शित किया गया हो। उदात्तादि स्वरों की गेयता के सम्बन्ध में आधुनिक भाषाविद् भी समान तथ्यों के पोषक हैं। डॉ० सि० वर्मा ने अपने शोध-निबन्ध 'वैदिक एक्सेण्ट एण्ड इण्टरप्रिटर्स ऑफ पाणिनि' —जर्नल ऑफ बाम्बे ब्राञ्च ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी खण्ड २६, १९५० में वैदिक स्वरों के गेय होने सम्बन्ध में 'वाकरनागेल' के मत को निम्नलिखित रूप से उदधृत किया है।

---

१. आद्यार्धमात्रास्वरितम्।—ऋ० तं० ५३

२. एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यधरभागः। अभ्यासमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः।—पा० सू० १।२।२९ के महाभाष्य पर कैयट-प्रदीप

"The accent, which we have come to know from the sources, is essentially musical, the theoreticians always speak of its height, never of its intensity to which corresponds the term udatta, literally high prominent which is the designation of the chief accent."[१]

'वाकरनागल' के उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि उदात्तादि तीनों स्वराघात संगीतात्मक हैं। इनमें उदात्त उच्च स्वर है तथा अन्य स्वराघात का मानदण्ड है।

अब क्रमशः उदात्तादि स्वराघातों के उच्चारण-प्रकार का विवेचन किया जा रहा है।

उदात्त का उच्चारण

उदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर उठाकर ग्रहण किया हुआ। 'उच्चैरादीयते इति उदात्तः' अर्थात् जिस ध्वनि के उच्चारण में ध्वनि का ग्रहण उच्चसुर में होता है, वह उदात्त है। तै० प्रा० १।३८ पर वैदिकाभरण भाष्य में उदात्त के उच्चारण के लिए 'उदादान' क्रिया का प्रयोग किया गया है और उदादान का अर्थ 'उत्क्षेप' बतलाया गया है।[२] उदात्त के उच्चारण के सम्बन्ध में आचार्यों में विभिन्न मत दिखलाई पड़ते हैं। ऋ० प्रा० ३।१ के भाष्य में उवट ने कहा है कि वायु के कारण उच्चारणावयवों के ऊपर जाने को 'आयाम' कहा जाता है। उस आयाम से जो स्वर निष्पन्न होता है उसे उदात्त कहा जाता है।[३] तै० प्रा० १।३८ में कहा गया है कि उच्च सुर से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है।[४] तै० प्रा० २२।९ में 'उच्चैः' का वास्तविक अर्थ भी स्पष्ट कर दिया गया है। इसके अनुसार गात्रों की दीर्घता, स्वर की कठिनता तथा कण्ठविवर की संवृतता ही शब्द (ध्वनि) की उच्चता का कारण है।[५] अर्थात् उदात्त के उच्चारण के समय उच्चारणाङ्गों को ऊपर खींचा जाता है, ध्वनि को कठोर बनाया जाता है तथा कण्ठविवर को

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० सि० वर्माकृत-A Critical Studies in the Phonetics Observations of Indian Grammarians.

२. उदादानमुत्क्षेपः।—तै० प्रा० १।३८ पर वैदिकाभरण

३. आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणां, तेन य उच्यते स उदात्तः।—ऋ० प्रा० ३।१ पर उवट

४. उच्चैरुदात्तः।—तै० प्रा० १।३८

५. आयामोदारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैकराणि शब्दस्य।—तै० प्रा० २२।९

संवृत अवस्था में लाया जाता है। पा० सू० १।२।२६, ३० पर महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि उदात्त तथा अनुदात्त शब्द किसी स्थिर तत्व का निर्देश नहीं करते हैं। अर्थात् ये शब्द सापेक्ष हैं। एक ही स्वर किसी के लिए उच्च हो सकता है तथा किसी के लिए नीच हो सकता है। इसलिए जो स्वर किसी के लिए नीच भी हो सकता है उसे उच्च कैसे कहा जा सकता है ? उदाहरणार्थ—जब एक व्यक्ति कुछ पढ़ कर सुना रहा हो तो कोई श्रोता कह सकता है—इतनी ऊँची ध्वनि में क्यों चिल्ला रहे हो ? धीरे से बोलो। जबकि कोई अन्य व्यक्ति उसी पाठक से यह भी कह सकता है—क्यों दांत के अन्दर ही बुदबुदा रहे हो, थोड़ा जोर से बोलो। इसलिए जो स्वर नीच है उसे किसी के लिए उच्च भी कहा जा सकता है। उसकी उच्चता सबके लिए एवं सदैव होनी चाहिए।[1] इसी प्रकार उसी स्थल पर महाभाष्यकार ने तै० प्रा० के मत को भी सापेक्ष सिद्ध किया है। महाभाष्यकार के अनुसार एक कमजोर व्यक्ति जिस तीव्र ध्वनि का परिश्रमपूर्वक उच्चारण करेगा बलवान् व्यक्ति उसी को सरलता पूर्वक उच्चरित कर सकता है।[2] अतः यह कहना कि ध्वनि की कठोरता, गालों की दीर्घता आदि कारणों से ध्वनि उदात्त हो जाती है, पूर्णतः सत्य नहीं है। पतञ्जलि ने 'उच्च' एवं 'नीच' का तात्पर्य उच्चारणाङ्गों के उच्च एवं निम्नवर्ती भाग से समझा है।[3] विचारणीय प्रश्न यह है कि वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया में उच्चारणाङ्गों के 'उच्च' एवं 'निम्न' भाग से किस प्रकार उच्चारण हो सकता है। कैयट का कथन है कि उदात्त स्वर के उच्चारण में उच्चारणाङ्गों का ऊपरी भाग वायु-संयोग के कारण क्रियाशील होता है।[4]

---

१. इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कञ्चित्प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित्प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कञ्चिदधीयानमाह—किमुच्चै रोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽऽधीयानमपर आह—किमन्तर्दन्तकेनाधीषे उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाया अप्रसिद्धि।—पा० सू० १।२।२६-३० पर म० भा०

२. एतदप्यनेकान्तिकम्। यत् हि अल्पप्राणस्य सर्वोच्चैस्तद्धि महाप्राणस्य सर्वनीचैः।—पा० सू० १।२।२६-३० पर म० भा०

३. तथाहि-महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन्स्वरेण महान्तं देशं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं देशं व्याप्नोति। ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः, अधरभाग निष्पन्नोऽनुदात्तः।—पा० सू० १।२।२६, ३० पर महाभाष्य प्रदीप

४. ऊर्ध्वभागावच्छिन्नवायुसंयोगेनेत्यर्थः।—पा० सू० १।२।२६, ३० पर कैयट पर नागेश

इस प्रकार पतञ्जलि और कैयट दोनों ही आचार्य उदात्तादि स्वराघातों का आधार उच्चारणाङ्गों का भाग-विशेष स्वीकार करते हैं।

भरतनाट्यशास्त्र में 'उच्च' शब्द का अर्थ शिर स्थान से उत्पन्न 'तार' बतलाया गया है।[1] इसके अनुसार ध्वनि की उच्चता ही उदात्त का कारण होती है। 'तार' का अर्थ संगीतरत्नाकर में 'दीप्त' दिया गया है।[2] पूर्व-विवेचन में दीप्त का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है। ध्वनि की उच्चता को ही 'दीप्त' या 'तार' कहा जाता है।

वस्तुतः उदात्त का उच्चारण चढ़ते हुए स्वर (Rising Tone) के रूप में होता था। इसके विषय में विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना प्रासङ्गिक होगा कि उदात्त आदि स्वरों के उच्चारण की वास्तविक प्रक्रियायें तत्कालीन आचार्यों के समक्ष सम्भवतः नहीं रह गई थीं, जिससे इनके उच्चारण के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विधान प्राप्त होते हैं।

अनुदात्त का उच्चारण

अनुदात्त का अर्थ है जो उदात्त न हो। अर्थात् उदात्त का अभाव ही अनुदात्त कहा जाता है। प्रातिशाख्यों में अनुदात्त के उच्चारण के प्रसङ्ग में पर्याप्त विधान प्राप्त होते हैं। ऋ० प्रा० ११३ पर उवट-भाष्य में कहा गया है कि वायु के कारण शरीरावयवों का अधोगमन स्वरों को अनुदात्त बनाने में कारण होता है।[3] तात्पर्य यह है कि जब वायु के आघात से उच्चारणावयव नीचे की ओर शिथिल हो जाते हैं, तभी अनुदात्त स्वर का उच्चारण होता है। तै० प्रा० २२।१० के अनुसार गात्रों की शिथिलता, स्वर (ध्वनि) की स्निग्धता तथा कण्ठविवर की सरलता ध्वनि के नीच उच्चारण का कारण होती है।[4] वस्तुतः अनुदात्त के उच्चारण में गात्रों को आरामदेह अवस्था में रखकर स्निग्ध स्वर से कण्ठ को आराम से विस्तारित करके अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है। पा० सू० १।२।३० में

---

१. उच्चोनाम शिरः स्थानगतस्तारः स्वरः।—नाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्करण पृ० ४५९ श्लोक ४१

२. मन्द्रः तारस्तु दीप्तः स्यान्मन्द्रो विन्दुशिरा भवेत्।—संगीतरत्नाकर ६।८

३. विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।—ऋ० प्रा० ३।१ पर उवट

४. अन्ववसर्गो: मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि शब्दस्य।-तै० प्रा० २२।१०

नीच स्वर से अनुदात्त के उच्चारण का विधान किया गया है।[1] महाभाष्यकार ने 'नीच' का तात्पर्य ध्वनि की नीचता को न मान कर उच्चारणाङ्गों का निचला भाग ही स्वीकार किया है।[2] पतञ्जलि के स्वराघात विषयक सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कैयट का कथन है कि इस रूप में 'उच्चैः' शब्द का अर्थ है—उच्चारणाङ्गों का उच्च भाग तथा 'नीचैः' का अर्थ है उच्चारणाङ्गों का 'निम्न' भाग। कैयट के अनुसार इस प्रकार के स्वर विशेष अभ्यास से सीखे जा सकते हैं तथा इन्हें संगीत के षड्जादि तानों के समान समझना चाहिए।[3] महाभाष्य में दी गई अनुदात्त की उपर्युक्त उच्चारण-प्रक्रिया को परवर्ती वैयाकरणों ने स्वीकार की है, परन्तु इसकी स्पष्टता के विषय में संदेह है। उच्चारणावयवों के निम्न-भाग से किस प्रकार वर्णों का उच्चारण होता है, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। सम्भवतः पर्याप्त अभ्यास के बाद इस प्रकार का उच्चारण सम्भावित हो।

वास्तव में अनुदात्त ऐसा स्वर है जिसका उच्चारण अवरोही स्वर (Falling Tone) के रूप में होता है। इसके उच्चारण के प्रत्येक क्षण में ध्वनि (Tone) क्रमशः नीची होती जाती है तथा उदात्त के उच्चारण में ध्वनि (Tone) क्रमशः ऊँची होती जाती है। इस सम्बन्ध में विशद् विवेचन 'स्वराघातों के उच्चारण के सम्बन्ध में विशेष विचार' शीर्षक में किया जायेगा।

स्वरित का उच्चारण

जिस स्वर में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों स्वर-धर्मों का समावेश होता हैं, वह स्वरित कहा जाता है। किन्तु स्वरित के उच्चारण के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। ऋ० प्रा० ३।१ में स्वरित के उच्चारण के सम्बन्ध में विधान किया गया है कि स्वरित का उच्चारण आक्षेप से होता है।[4] इसी सूत्र पर भाष्य में उवट ने आक्षेप का अर्थ 'वायु के कारण उच्चारणावयवों का तीर्यग्गमन' स्वीकार किया है।[5] तात्पर्य यह है कि वायु के आघात से जब

---

१. नीचैरनुदात्तः।—पा० सू० १।२।३०

२. द्रष्टव्य—पा० सू० १।२।३० पर महाभाष्य

३. एवं चोच्चैरित्यनेनोर्ध्वभागो गृह्यते नीचैरित्यधरभागः। अभ्यासमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः।—पा० सू० १।२।३० पर म० भा० पर कैयट

४. उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। —ऋ० प्रा० ३।१

५. आक्षेपो नाम तीर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तम्।—ऋ० प्रा० ३।१ पर उवट

उच्चारणावयवों का तीर्यगमन (तिरछे जाना) होता है तभी स्वरित स्वर की निष्पत्ति हो जाती। तै० प्रा० १।४० एवं पा० सू० १।२।३१ में उदात्त तथा अनुदात्त के समाहार को स्वरित माना गया है।[1] इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'त्रपु' और 'ताम्र' के संयोग से कांस्य नामक एक स्वतन्त्र धातु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अनुदात्त एवं उदात्त के समाहार के फलस्वरूप स्वरित स्वर की निष्पत्ति सम्भव है। प्रश्न यह है कि स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त स्वरों का समाहार तिलतण्डुलवत् होता है अथवा दुग्धजलवत् होता है। प्रातिशाख्यकारों, वैयाकरणों तथा शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से यही तथ्य प्रकाश में आता है कि समाहार का तात्पर्य वस्तुतः जतुकाण्ठवत् मिश्रण से है तथा यह व्यवस्था केवल स्वतन्त्र स्वरित के लिए है। उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त जब स्वरित में परिवर्तित हो जाता है तो उसका स्वरितत्व दुग्धजलवत् होता है। वास्तव में स्वतन्त्र स्वरित ही मुख्य स्वरित है। उदात्त के बाद आने वाले अनुदात्त का स्वरित में परिवर्तन तो उदात्त के प्रभाव के कारण होता है। स्वरित में उदात्त का कितना अंश होता है एवं अनुदात्त का कितना अंश होता है, इस विषय में ऋ० प्रा० ३।४ में विधान किया गया है कि यदि स्वरित स्वराघात में उच्चरित होने वाला स्वर एक मात्रिक होगा तो उसकी प्रारम्भिक आधी मात्रा उदात्त से उच्चतर उच्चरित होगी तथा यदि स्वरित स्वर की मात्रा दीर्घ अथवा प्लुत होगी तो उसकी प्रारम्भिक एक मात्रा अथवा डेढ़ मात्रा उदात्त से उच्चतर उच्चरित होगी। इसी प्रकार शेष मात्रा उदात्त के समान-श्रुति में उच्चरित होगी।[2] ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के उपर्युक्त विधान को भाष्यकार उवट व्यवस्थित विकल्प मानते हैं।

तै० प्रा० १।४१ पर वैदिकाभरण में कहा गया है कि उदात्त स्वर के अव्यवहित बाद में उच्चरित होने वाले स्वरित स्वर में उसका पूर्ववर्ती भाग उदात्ततर उच्चरित करना चाहिए। यह उदात्ततर उच्चारण क्रुष्टादि स्वरों में 'प्रथम' नामक स्वर के उच्चारण के समान होना चाहिए।[3] क्रुष्टादि स्वरों में प्रथम संज्ञक स्वर

---

१. समाहारः स्वरितः।—तै० प्रा० १।४०, पा० सू० १।२।३१

२. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः।
—ऋ० प्रा० ३।४-५

३. उदात्तगुणात्स्वरादनन्तरे अव्यवहितपरे स्वरिते तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्ततरमुच्चार्यते। क्रुष्टादिषु प्रथमाख्येन यमेन तुल्यमित्यर्थः।—तै० प्रा० १।४१ पर वै०

के उच्चारण के विषय में इसी अध्याय में कहा जा चुका है। स्वरित स्वर के उदात्तांश तथा अनुदात्तांश के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। अतः प्रस्तुत स्थल पर उन सबके ऊपर विचार नहीं किया जा रहा है।

संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि स्वरित में प्रारम्भ की मात्रा उदात्त तथा अन्त की मात्रा अनुदात्त के समान उच्चरित होती थी। ऋ० प्रा० में प्रारम्भ की मात्रा को उदात्ततर और अन्त की मात्रा को उदात्तश्रुतियुक्त स्वीकार किया गया है।[1]

प्रचय का उच्चारण

प्रचय का उच्चारण उदात्तादि स्वरों के उच्चारण से भिन्न रूप में नहीं होता है। स्वरित के बाद उच्चरित होने वाला अनुदात्त ही प्रचय का रूप ग्रहण कर लेता है। स्वरित-गुणयुक्त स्वर के प्रभाव से अनुदात्त के वास्तविक उच्चारण में कुछ विशेषता आ जाती है, जिसके कारण यह अनुदात्त स्वर उदात्त के समान उच्चरित होने लगता है। इस प्रकार अनुदात्त में उदात्त का अधिक गुण आ जाता है। तै० प्रा० १८।३ पर वैदिकाभरण-भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रचय का उच्चारण 'धृत' रूप में होता था।[2] 'धृत' का तात्पर्य वैदिकाभरणकार के अनुसार 'समान-श्रुति में उच्चरित होने वाला' है। क्रुष्टादि सात स्वरों में प्रारम्भ के तीन स्वर उत्क्षेपी हैं, तृतीय नामक स्वर समानश्रुतिक है तथा अन्तिम तीन स्वर अवक्षेपी हैं। इन सात स्वरों में तृतीय संज्ञक स्वर ही प्रचय के समान उच्चरित होने वाला है। इस प्रकार वैदिकाभरण के अनुसार प्रचय का तात्पर्य है—वह स्वर जिसका उच्चारण सर्वांश में समान रूप में होता है।

स्वराघातों के उच्चारण के सम्बन्ध में विशेष विचार

स्वराघातों के वास्तविक उच्चारण की परम्परा आधुनिक युग में अपने प्रतीकात्मक रूप में ही प्रचलित दिखलाई पड़ती हैं। वैदिक काल में उदात्तादि स्वराघातों का उच्चारण किस प्रकार से किया जाता था, इसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों

---

१. तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्रार्धमेव वा। अनुदात्तः परः शेषः स उदात्तश्रुतिः।
—ऋ० प्रा० ३।४५

२. धृत प्रचयः।—तै० प्रा० १८।३, द्रष्टव्य—इसी सूत्र पर वै०

के अतिरिक्त किसी माध्यम का सहारा पा सकना आधुनिक युग में असम्भव है। प्रातिशाख्यकारों एवं वैयाकरणों के समय तक वैदिक मन्त्रों के शुद्ध पाठ की परम्परा प्रायः लुप्त हो चली थी। इसीलिए उन ग्रन्थों में इन स्वराघातों के उच्चारण के सम्बन्ध में मतवैभिन्य प्राप्त होते हैं। इनके उच्चारण के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथ्य तै० प्रा० पर प्राप्त होने वाले वैदिकाभरण-भाष्य में प्राप्त हुआ है। वैदिकाभरण में क्रुष्टादि स्वरों के उच्चारण-सम्बन्धी सूत्रों के अनुशीलन से इस समस्या का किञ्चित् सन्तोषजनक समाधान प्राप्त हो सकता है।

तै० प्रा० २३।१६ पर वैदिकाभरण भाष्य में क्रुष्टादि सात स्वरों में से तृतीय संज्ञक स्वर को 'प्रचय' स्वर माना गया है तथा प्रचय को उदात्त तथा अनुदात्त दोनों करणों (प्रयत्नों) से रहित कहा गया है। इसी स्थल पर स्वरित और प्रचय में पारस्परिक भेदों को भी स्पष्ट किया गया है। स्वरित स्वर उदात्त तथा अनुदात्त दोनों स्वरों के गुणों से युक्त होता है जबकि प्रचय दोनों गुणों से रहित होता है।[1] वैदिकाभरण के उपर्युक्त कथन से यह कहा जा सकता है कि प्रचय के उच्चारण में उच्चारणावयव न तो ऊपर की ओर चलायमान होते हैं, तथा न ही नीचे की ओर चलायमान होते हैं। इसके उच्चारण में न तो उच्चारणाङ्गों का केवल ऊपरी भाग ही कार्य करता है और न विशेष रूप से उच्चारणाङ्गों का निचला भाग ही सक्रिय रहता है। इसलिए इसका स्वर भी न तो उच्च होता है और न ही नीच होता है। इसी प्रकार तै० प्रा० २२।६ पर वैदिकाभरण में कहा गया है कि क्रुष्टादि सात स्वरों में प्रथम तीन स्वरों की उत्पत्ति गात्रों के आकर्षण, ध्वनि की परुषता एवं कण्ठ-विवर की संवृतता के परिणामस्वरूप होती है। इन तीन यमों (क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय) में क्रुष्ट स्वर सर्वोच्च तान में अर्थात् उत्क्षिप्ततम उच्चरित होता है। 'प्रथम' नामक स्वर उससे कुछ निम्न तान में अर्थात् उत्क्षिप्ततर उच्चरित होता है तथा द्वितीय संज्ञक स्वर उससे भी निम्न तान में उत्क्षिप्त उच्चरित होता है।[2] इसी प्रकार तै० प्रा० २२।१० के वै० में कहा गया है कि गात्रों का ढीलापन, ध्वनि की मृदुता तथा कण्ठविवर की विवृतता के परि-

---

१. तृतीयाख्यप्रचयश्चतुर्थाख्यस्वरितः।···उभयकरणरहितः प्रचयः उभयकरण-समावेशजन्यस्स्वरितः इति।—तै० प्रा० २३।१६ पर वैदिकाभरण

२. तत्रादौ पूर्वेषां त्रयाणां अनेन सूत्रेणोच्यते।······। तत्रैषामुत्क्षिप्तो द्वितीयाख्यस्स्वरः। उत्क्षिप्ततर प्रथमाख्यः। उत्क्षिप्ततमः क्रुष्टाख्यः।—तै० प्रा० २२।६ पर वैदिकाभरण

णामस्वरूप सुर नीचा होता है और इससे चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य संज्ञक यमों की उत्पत्ति होती है ।[1]

इन यमों के अन्तर्गत प्रथम तीन उदात्त कहे गये हैं, अंतिम तीन अनुदात्त कहे गये हैं तथा मध्यवर्ती तृतीय नामक स्वर 'धृत प्रचयः' तै० प्रा० १८।३ के अनुसार प्रचय कहा गया है। इनके उच्चारण-प्रकार के सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा स्पष्ट होता है कि 'तृतीय' संज्ञक स्वर ही अन्य स्वरों के उच्चारण का मानदण्ड है। इसके उच्चारण में वक्ता का प्रयत्न न तो ध्वनि को उच्च करने की ओर रहता है और न ही ध्वनि को नीची करने की ओर रहता है। 'धृत' का अर्थ है पकड़ा हुआ। अतः इसका तात्पर्य न तो उच्चता की ओर उन्मुख होने वाला न तो नीचता की ओर उन्मुख होने वाला है। प्रचय के लिए कुछ ग्रन्थों में 'एकश्रुति' संज्ञा का प्रयोग भी प्राप्त होता है। इसके अर्थ पर विचार करने से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रचय का उच्चारण सर्वांश में समानश्रुति में होता है। इसके उच्चारण में सुर का उतार-चढ़ाव नहीं होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अन्य स्वराघातों के उच्चारण में सुर का उतार-चढ़ाव भी होता है। उदात्त के उच्चारण में सुर का चढ़ाव होता रहता है अर्थात् उदात्त उच्चरित होने वाले स्वर (Vowel) के प्रत्येक अंश के उच्चारण में ध्वनि क्रमशः ऊँची होती जाती है तथा अनुदात्त स्वर का उच्चारण सुर के उतार के साथ होता है—अर्थात् अनुदात्त उच्चरित होने वाले स्वर के प्रत्येक अंश के उच्चारण में ध्वनि क्रमशः नीची होती जाती है। इसलिए उदात्त को आरोही स्वर (Rising Tone) तथा अनुदात्त को अवरोही स्वर (Falling Tone) कहा गया है। स्वरित स्वर के उच्चारण में उसका उदात्तांश आरोह के साथ उच्चरित होता है तथा अनुदात्तांश अवरोह के साथ उच्चरित होता है। इसीलिए स्वरित को आरोहावरोही स्वर (Rising to Falling Tone) कहा जाता है। प्रचय स्वर के उच्चारण में श्रुति का सर्वांश में समानरूपेण श्रवण होता है। काशिका के अनुसार प्रचय न तो उदात्त धर्म वाला है, न अनुदात्त धर्म वाला है तथा न ही स्वरित धर्म वाला होता है। वह तीनों का अभेद रूप होता है। उसमें उपर्युक्त तीनों धर्मों का तिरोधान हो जाता है।[2]

---

१. अन्ववसर्गो गात्राणां स्रंसनम्, मार्दवं ध्वनेः उरुता-विस्तीर्णता कण्ठविवरस्येति, एतानि कारणानि शब्दं नीचैः कुर्वन्ति अवक्षिप्तं कुर्वन्ति। अत्रैषदवक्षिप्तश्चतुर्थाख्यस्स्वरः। अवक्षिप्ततरो मन्द्राख्यः। अवक्षिप्ततमोऽतिस्वार्याख्यः। —तै० प्रा० २२।१० पर वैदिकाभरण

२. स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदतिरोधानमेकश्रुतिः।—काशिका १।२।३३

आ० श्रौ० सू० के अनुसार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अतिशय सन्निकर्ष ही एकश्रुति है।[1] ऋ० प्रा० और नारदीय शिक्षा के अनुसार प्रचय का उच्चारण उदात्त के समान किया जाना चाहिए।[2] महाभाष्य के वृतिकार कैयट उदात्त तथा अनुदात्त के मध्यवर्ती उच्चारण को एकश्रुति मानते हैं।[3] या० शि० में उदात्त और अनुदात्त के योग को स्वरित कहा गया है तथा उदात्त एवं अनुदात्त के ऐक्य को प्रचय कहा गया है।[4]

प्रचय के उच्चारण-सम्बन्धी उपर्युक्त सभी विधानों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रचय समानश्रुतिक तान में उच्चरित होता है। अर्थात् उसके उच्चारण में न तो उदात्त के उच्चारण की भाँति ध्वनि में क्रमशः उच्चता आती है है और न तो अनुदात्त के उच्चारण की भाँति ध्वनि में क्रमशः नीचता ही आती है। इसके उच्चारण में ध्वनि सर्वांश में समान रूप में सुनाई पड़ती है।

कम्प के विधानों पर विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि स्वराघातों का उच्चारण पूर्वकथित रूप में ही होता था। क्योंकि जब स्वतन्त्र स्वरित के पश्चात् कोई उदात्त अथवा स्वतन्त्र स्वरित आ जाता है तो स्वतन्त्र स्वरित का पूर्वांश उदात्त की भाँति उच्चरित करने में उच्चारणावयव ऊपर की ओर खिंच जाते हैं, पुनः जब परवर्ती अंश 'अनुदात्त' का उच्चारण किया जाता है तो ध्वनि को नीचा करने के लिए उच्चारणावयव शिथिल हो जाते हैं तथा स्वरित के बाद उच्चरित होने वाले 'उदात्त' अथवा 'स्वतंत्र स्वरित' के उच्चारण के लिए पुनः उच्चारणाङ्गों को ऊपर जाना पड़ता है। अतः स्वरित के अनुदात्तांश का उच्चारण एक प्रकार के झटके से होता है, इसी को 'कम्प' कहा जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता है। स्वरित के उदात्तांश के उच्चारण में ध्वनि

---

१. उदात्तानुदात्तस्वरितानां परः सन्निकर्षः ऐकश्रुत्यम्।—आ० श्रौ० सू० १।२।६

२. स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः। उदात्तश्रुतितां यान्ति एकं द्वे वा बहूनि वा॥—ऋ० प्रा० ३।१६, य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात्परः। प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञै……।—ना० शि० १।८।२

३. सैषा ज्ञापकाभ्यामुदात्तानुदात्तयोर्मध्यमेकश्रुतिरन्तरालं ह्रियते। क्षीरोदकवत् उदात्तानुदात्तयोर्यद् तिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः। स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः।—महाभाष्य १।२।३३ पर कैयट

४. उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः स्वार उच्यते। ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः सन्धिरेष मिथोद्भुतः॥—या० शि०

का क्रमशः चढ़ाव होकर अनुदात्तांश के उच्चारण में क्रमशः उतार होता है। पुनः उतार के पश्चात् बाद वाले स्वर (उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित) के उच्चारण के लिए ध्वनि का चढ़ाव होता है। इसी चढ़ाव के प्रारम्भ होने के पूर्व ही उच्चारणाङ्गों में एक प्रकार का कम्पन हो जाता है। यह कम्पन भी तभी सम्भव हो सकेगा जब उदात्त के उच्चारण में ध्वनि का क्रमशः उच्चत्व अर्थात् आरोह माना जाय एवं अनुदात्त के उच्चारण में ध्वनि का क्रमशः नीचत्व अर्थात् अवरोह माना जाय। क्योंकि ऐसी स्थिति तो तभी सम्भव हो सकती है, जब उच्चावयवों के साथ-साथ सुर को क्रमशः उच्चता की ओर ले जाकर पुनः उच्चारणाङ्गों के साथ-साथ सुर को क्रमशः नीचा करके पुनः ऊपर की ओर ले जाया जाय। ऐसा न होने पर कम्प की स्थिति सम्भव नहीं हो सकेगी।

स्वराघातों के उच्चारण में हस्त-प्रदर्शन का भी मनोवैज्ञानिक कारण है। आधुनिक युग में हस्त-प्रदर्शन स्वराघातों के उच्च, नीच एवं मध्यम होने की सूचना देता है। शिक्षा-ग्रन्थों में हस्त-प्रदर्शन के सम्बन्ध में विशद् विधान प्राप्त होते हैं। यह हस्त-प्रदर्शन प्रतीकात्मक है। अनुदात्त के उच्चारण के समय दाहिने हाथ को हृदय पर या इसके समीप तक ले जाया जाता है, उदात्त के उच्चारण के समय हाथ को शिर के समीप ले जाया जाता है तथा स्वरित के उच्चारण के समय हाथ को कान के समीप ले जाया जाता है। इसका तात्पर्य है कि उदात्त के उच्चारण के समय प्रयत्न की दिशा उच्चारणाङ्गों के उच्च भाग की ओर होती है। इसीलिए उदात्त के उच्चारण में शिर के समीप हाथ ले जाया जाता है। इसी प्रकार अनुदात्त के उच्चारण में प्रयत्न की दिशा उच्चारणाङ्गों के निम्न भाग की ओर होती है एवं स्वरित के समाहारात्मक स्वर होने के कारण इसके उच्चारण में प्रयत्न की दिशा मध्यम या केन्द्रीय स्थिति में रहती है। इस प्रकार शिर ऊपरी भाग का, कान मध्य भाग का एवं हृदय निम्न भाग का प्रतिनिधित्व करता है।

'पारिशिक्षाटिका यजुषभूषण' का मत है कि उच्चत्व एवं नीचत्व का सिद्धान्त केवल प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक है जो कि हस्त-संचालन के द्वारा विभिन्न आघातों के उच्चारण में गायक को केवल सहायता प्रदान करने के लिए है।

शास्त्रीय संगीतज्ञ गाते समय शिर या अन्य शरीरावयवों को ऊपर, नीचे करते रहते हैं। इसका कारण यह है कि सुर को ऊंचा करने में ये अङ्ग ऊँचे-नीचे जाकर गायक को कुछ सहायता पहुँचाते हैं। सामगानों के समय विभिन्न स्वरों के साथ अंगुलियों के खोलने तथा बन्द करने की प्रथा भी दृष्टिगोचर होती है।

उदात्तादि स्वराघातों के उच्चारण के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन स्वरों का उच्चारण भी उच्च तथा नीच तीन प्रकार के यमों (अवस्थाओं) में होता है। तै० प्रा० २२।११ में 'मन्द्र' मध्यम और 'तार' संज्ञक तीन स्थानों (अवस्थाओं) का विधान किया गया है।[1] पूर्वकथित क्रुष्टादि स्वरों को इन्हीं स्थानों में उच्चरित किया जाता है। इसीलिए तै० प्रा० २२।१२ में यह भी कह दिया गया है कि इन तीन अवस्थाओं में इक्कीस 'यम' होते हैं।[2] तात्पर्य यह है कि इन तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में क्रुष्टादि सात यम उच्चरित होते हैं और ये सात यम ही उदात्तादि-स्वर भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है—ये यम उदात्तादि स्वरों से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक यम का उच्चारण उच्च, मध्यम और निम्न इन तीन स्थितियों में सम्भव है। यहाँ उच्चता से तात्पर्य ध्वनि की श्रवणीयतागत उच्चता से है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उदात्तादि स्वर भी तीन रूपों में उच्चरित होते हैं। इन उदात्तादि स्वरों की उच्च, मध्यम और नीच स्थितियाँ श्रवणीयता की दृष्टि से कही गई हैं। च० अ० १।१४-१६ में उदात्तादि स्वरों के उच्चारण का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार एक ही यम में अर्थात् एक ही अवस्था में उच्च स्वर उदात्त, नीच स्वर अनुदात्त तथा आक्षिप्त स्वर स्वरित होता है।[3] ऋ० प्रा० १३।४२ में भी वाणी के तीन स्थानों का कथन किया गया है।[4] इसके अनुसार भी सात यमों को इन्हीं तीन स्थानों में उच्चरित किया जाता है।

स्वराघातों के सम्बन्ध में किये गये पूर्व-विश्लेषण के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इनका वास्तविक आधार संगीतात्मक है। स्वराघातों का सम्बन्ध आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक स्वरतंत्रियों के कम्पन से बतलाते हैं। स्वर-तंत्रियों में कम्पन की मात्रा जितनी ही अधिक होगी स्वराघात उतना ही उच्च होगा। सुर के आरोहावरोह या उतार-चढ़ाव में स्वरतन्त्रियों की समीपता तथा उनके तव

---

१. मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि भवन्ति।—तै० प्रा० २२।११

२. तत्रैकविंशतिर्यमाः।—तै० प्रा० २२।१२

३. समानयमे उच्चैरुदात्तम्। नीचैरनुदात्तम्। आक्षिप्तं स्वरितम्।—च० अ० १।१४-१६

४. त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्त यमानि वाचः।—ऋ० प्रा० १३।४२

जाने से उत्पन्न कम्पनों के अतिरिक्त वायुवेग का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वायु जितनी तीव्रगति से स्वरतन्त्रियों पर आघात करेगी, कम्पन उतनी ही अधिक मात्रा में होगा। इसके अतिरिक्त कण्ठबिल की संवृतता एवं विवृतता भी ध्वनियों को उच्च सुर में उच्चरित करने में कारण होती हैं। संगीत में संगीतज्ञ अपने विविध प्रयत्नों द्वारा स्वरतन्त्रियों में कम्पन की मात्रा को घटाता बढ़ाता रहता है।

पहले यह कहा जा चुका है, कि उदात्त के पश्चात् उच्चरित होने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा स्वरित के पश्चात् उच्चरित होने वाले अनेक भी अनुदात्त एकश्रुति में उच्चरित हो जाते हैं। इनमें कारण यह है कि उदात्त के उच्चारण के लिए ध्वनि को क्रमशः ऊँची करते हुए अचानक जब अनुदात्त के उच्चारण के लिए ध्वनि को नीची करना पड़ता है, तब वह नीची ध्वनि पूर्णतः नीची न होकर उच्चता और नीचता की मध्य स्थिति में उच्चरित हो जाती है। इसे ही स्वरित कहा जाता है। यह स्वरित पूर्णतः उदात्त पर आधारित है। इसी प्रकार स्वरित के पश्चात् जब अनुदात्त का उच्चारण किया जाता है तब चूंकि स्वरित के उच्चारण में ध्वनि की स्थिति उच्चता एवं नीचता के मध्य रहती है, इसके ठीक बाद नीच स्वर का उच्चारण नीच रूप में न होकर समानश्रुति में हो जाता है, इसी समानश्रुति को प्रचय स्वर कहा जाता है। परन्तु जब प्रचय के पश्चात् पुनः उदात्त स्वर का उच्चारण किया जायेगा तो यह प्रचय स्वर अनुदात्त रूप में ही उच्चरित हो जाएगा क्योंकि एकश्रुति में उच्चरित होने वाले स्वर के काल में ही उच्चारणावयवों को उच्च स्वर के उच्चारण के लिए तैयार करने के लिए किए गए प्रयत्न के फलस्वरूप अनुदात्त स्वर में एकश्रुतित्व नहीं आ पाता।

निष्कर्ष

स्वराघातों के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में प्राप्त होने वाले सभी विधान एकाङ्गी दृष्टिकोण रखते हैं। महाभाष्यकार का मत आधुनिक दृष्टिकोण से समझ में आने वाली वस्तु नहीं है, क्योंकि जब हमें उदात्त का उच्चारण करना होगा, तो उच्चारण सम्बन्धी प्रयत्नों के पूर्व हमारी कार्यप्रक्रिया यह स्पष्ट कर सकने में असमर्थ हो जाती है कि अमुक उच्चारण उच्चारणावयवों के उच्च भाग से हो रहा है अथवा नीच भाग से। सम्भव है कि तत्कालीन उच्चारण में इस प्रकार की विशेषताएँ रही हों, जिनके आधार पर उपर्युक्त रीति से उच्चारण हो जाता रहा हो।

दूसरी बात यह भी है कि प्रातिशाख्यों में वेदाध्ययन से पूर्व अनेकविध तैयारियों के विधान प्राप्त होते हैं। सम्भव है उस प्रकार की तैयारियाँ करने के पश्चात् उच्चारणावयव कुछ विशेष स्थिति में आ जाते हों और उपरिकथित रीति से उच्चारण भी हो जाते हों। वास्तव में वैदिक मन्त्रों का प्रातिशाख्य-विहित रूप में उच्चारण अत्यन्त परिश्रम साध्य है तथा अभ्यास पर आधारित है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि खान-पान और वातावरण के अनुसार भी स्वराघातों का उच्चारण होता रहा होगा। वा० प्रा० में कहा भी गया है वेदाध्ययन करने वाले व्यक्ति को मधुर और स्निग्ध भोजन करना चाहिए तथा एक योजन से अधिक नहीं चलना चाहिए। इसी प्रकार मन्त्रों के शुद्धपाठ के लिए वक्ता को सर्वदा सजग एवं सावधान रहना भी अत्यावश्यक है।



उपसंहार

वैदिक साहित्य के अध्येता के लिये जितना महत्त्व वेदों के आन्तरिक स्वरूप अर्थात् 'अर्थज्ञान' का है, उतना ही महत्त्व उसके बाह्यस्वरूप अर्थात् 'शब्द ज्ञान, का भी है। वैदिक मन्त्रों के बाह्य-स्वरूप के पूर्ण परिज्ञान एवं परिशीलन के लिये प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। वैदिक मन्त्रों की उच्चारण-परम्परा की रक्षा करना ही प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का मूल उद्देश्य रहा है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के कारण ही वैदिक संहितायें आज भी अपने मूलरूप में सुरक्षित हैं।

वेदाङ्गों में प्रातिशाख्य-ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। मन्त्रों के अर्थज्ञान में जो स्थान निरुक्त का है, वही स्थान मन्त्रों के बाह्य-स्वरूप के निर्वचन की दृष्टि से प्रातिशाख्यों का है। प्रत्येक प्रातिशाख्य में अपनी-अपनी संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक प्रातिशाख्य अपनी-अपनी संहिता में प्राप्त होने वाले एक-एक वर्ण का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण करके उनके उच्चारण विषयक विधानों को प्रस्तुत किये हैं, जिसका मूल उद्देश्य उस संहिता-विशेष की रक्षा ही है। स्वर, वर्ण, मात्रा, संधि, पदपाठ, क्रमपाठ, स्वराघात आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रयोजन संहिता-पाठ की सुरक्षा है। संहितापाठ की सुरक्षा के लिये उस प्राचीनकाल में एक ही उपाय था, वह यह कि प्रत्येक अध्येता मन्त्रों की सम्यक् उच्चारण-प्रक्रिया से भली-भांति अवगत हो। इसीलिए प्रातिशाख्यों में वर्णों के उच्चारण-स्थान, करण, उच्चारण में बाह्य एवं आभ्यन्तर-प्रयत्न आदि का वैज्ञानिक निरूपण किया गया है। साथ ही प्रातिशाख्यकारों ने वर्णोच्चारण में वायु के महत्त्व, वायु की वैकृत अवस्था आदि पर विचार करना अपना परम कर्तव्य समझा है। स्वर और व्यञ्जन इन दो प्रकार की ध्वनियों के ऊपर ही संपूर्ण वाङ्मय स्थित है। इसलिए इनके स्वरूपगत वैभिन्य का विवेचन भी प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जब दो पदों को अत्यन्त समीप उच्चरित किया जाता है तो उनमें कभी-कभी कुछ वर्ण-विकार होना स्वाभाविक है। इस प्रकार के विकार को संधि का विषय माना गया है। इसके अतिरिक्त व्यञ्जन-संयोगों की कतिपय

विशेष स्थितियों में होने वाला उच्चारण कतिपय विशिष्टताओं से युक्त हो जाता है। ऐसी उच्चारण-प्रक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करके उन्हें नियमबद्ध किया गया है। इसी प्रकार प्रातिशाख्य-ग्रन्थ अन्य अनेक विधान भी प्रस्तुत करते हैं, जिनका सम्बन्ध मन्त्रोच्चारण के साथ ही है। वास्तव में सभी प्रातिशाख्य अपनी-अपनी संहिता को दृष्टि में रखकर उनके अनुसार ही विषय-विधान भी करते हैं। यही कारण है कि किसी तथ्य-विशेष के विषय में सभी प्रातिशाख्यों का विधान पूर्णतः समान नहीं है। उदाहरणार्थ—जहाँ पर ऋग्वेद-प्रातिशाख्य वर्णों के स्वरूप का कथन करते समय प्रथम-पटल के प्रारम्भिक सूत्रों में स्वरों के प्लुत रूपों को अपने विवेचन का विषय नहीं बनाया है, वहीं अन्य प्रातिशाख्य अपनी-अपनी वर्ण-माला में स्वरों के प्लुत रूपों को भी स्वतन्त्र वर्ण के रूप में स्थान दिये हैं। व्यञ्जनों में भी कतिपय ऐसे व्यञ्जन हैं, जिनकी सत्ता सभी प्रातिशाख्यों में स्वतन्त्र वर्ण के रूप में नहीं स्वीकार की गई है। कतिपय प्रातिशाख्य ही उन्हें स्वतन्त्र वर्ण मानने के पक्ष में हैं।

'स्वराघात' वैदिक भाषा की मुख्य विशेषता है। व्यञ्जन तो स्वतः स्वराघात वहन करने की क्षमता से रहित होते हैं, परन्तु स्वर-वर्णों के स्वराघात से वे भी प्रभावित हो जाते हैं। इसका प्रधान कारण है व्यञ्जनों का स्वरों की सहायता से ही उच्चरित होना। इस प्रसङ्ग में सभी प्रातिशाख्य अङ्गाङ्गिभाव के नियमों का विधान करते हैं। संयुक्त वर्णों के उच्चारण में उत्पन्न होने वाली विशिष्टताएँ आधुनिक ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इन विशिष्ट-ताओं से सम्बन्धित विधान प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में प्राप्त होते हैं। स्वरभक्ति का निरूपण सभी प्रातिशाख्य करते हैं। परन्तु उनकी उत्पत्ति के स्थलों के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों में मतवैभिन्य पाया जाता है। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य रेफ के पश्चात् किसी भी व्यञ्जन के उच्चरित होने पर मध्य में स्वरभक्ति के उच्चारण को स्वीकार करता है, जबकि अन्य सभी प्रातिशाख्य रेफ के पश्चात् ऊष्म वर्ण उच्चरित होने पर ही स्वरभक्ति के उच्चारण को स्वीकार करते हैं। चतुरध्यायिका में अन्य व्यञ्जनों के संयोग में भी स्वरभक्ति को स्वीकार किया गया है, परन्तु उसकी मात्रा अत्यल्प होती है। यम के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्यों का विधान समान है। अभि-निधान का विधान केवल ऋग्वेद-प्रातिशाख्य तथा चतुरध्यायिका में ही प्राप्त होता है। वा० प्रा० के भाष्य में उवट ने भी एक स्थल पर अभिनिधान शब्द का प्रयोग किया है। स्फोटन से सम्बन्धित विधान वा० प्रा० एवं च० अ० दोनों ही ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं परन्तु उनके स्वरूप के विषय में दोनों के विधान कुछ भिन्नता रखते हैं। इसी प्रकार 'कर्षण' के सम्बन्ध में केवल च० अ० ही विधान करती है तथा 'ध्रुव' के सम्बन्ध में केवल ऋ० प्रा० विधान करता है। नासिक्य ध्वनियों

के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी प्रातिशाख्य विधान करते हैं। अनुस्वार को सभी प्रातिशाख्य व्यञ्जन मानते हैं; परन्तु ऋ० प्रा० में प्राप्त होने वाला एक सूत्र ही इसके स्वरूप के सम्बन्ध में संयुक्त-विधान करता है। मात्रा सम्बन्धी विधान भी सभी प्रातिशाख्यों में प्राप्त होते हैं, परन्तु च० अ० का व्यञ्जन के उच्चारणकाल-सम्बन्धी मत अन्य प्रातिशाख्यों से साम्य नहीं रखता। स्वराघात के उच्चारण से सम्बन्धित प्रातिशाख्यों के विधान अपना कोई सही निर्णय दे सकने में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं। इसका कारण है कि प्रातिशाख्यों की रचना के समय तक उच्चारण-परम्परा अव्यवस्थित हो गई थी।

प्रातिशाख्यों में प्राप्त होने वाले ध्वनि सम्बन्धी विचारों का सम्यक् अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है, कि वेदों की समस्त संहिताओं के अध्येताओं की उच्चारण-प्रक्रिया पूर्णतः एक जैसी तो नहीं थी, परन्तु उनमें पर्याप्त साम्य अवश्य था। इसी कारण उनके कतिपय विधान पर्याप्त रूप में समान तथ्यों का निरूपण करते हैं।



संक्षिप्त सङ्केत-सूची

अ० भा०	अनन्त भट्ट-भाष्य	प्र० सू०	प्रतिज्ञा-सूत्र
आ० श्रौ० सू०	आश्वलान श्रौत-सूत्र	प्रा० प्र० शि०	प्रातिशाख्य प्रदीप-शिक्षा
आ० शि०	आपिशलि-शिक्षा		
उ० भा०	उवट-भाष्य	म० भा०	महाभाष्य
उदा०	उदाहरण	मा० शि०	माध्यन्दिन-शिक्षा
ऋ० तं०	ऋक्तन्त्र	मै० सं०	मैत्रायणी-संहिता
ऋ० प्रा०	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य	या० शि०	याज्ञवल्क्य-शिक्षा
ऋ० सं०	ऋग्वेदसंहिता	ल० सि० कौ०	लघुसिद्धान्तकौमुदी
ऐ० आ०	ऐतरेय-आरण्यक	ल० श०	लघुशब्देन्दुशेखर
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय-ब्राह्मण	व्या० शि०	व्यास-शिक्षा
का० सं०	काठक-संहिता	व० प्र० शि०	वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा
च० अ०	चतुरध्यायिका		
चौ० सं०	चौखम्बा-संस्करण	वा० प्रा०	वाजसनेयि-प्रातिशाख्य
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्		
जै० मी० सू०	जैमिनि मीमांसा सूत्र	वै०	वैदिकाभरण
त० बो०	तत्त्व-बोधिनी व्याख्या	वि०व०द्व०वृ०	विष्णुमित्रकृत वर्गद्वय-वृत्ति
तै० सं०	तैत्तिरीय-संहिता		
त्रि० र०	त्रिभाष्य-रत्न	श० ब्रा०	शतपथ-ब्राह्मण
त्रि०	त्रिभाष्यरत्न	शि० सं०	शिक्षा-संग्रह
नि०	निरुक्त	स० शि०	सर्वसम्मत शिक्षा
ना० शि०	नारद-शिक्षा	सं०व्या०शा०इ०	संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास
प० पा०	पद-पाठ		
पा० शि०	पाणिनि-शिक्षा	सं० र०	संगीतरत्नाकर
पा० सू०	पाणिनि-सूत्र	सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी
प्र० परि०	प्रतिज्ञा-परिशिष्ट	वा० प०	वाक्य-पदीय

पारिभाषिक शब्दों की सूची

अक्षर	(१) स्वर वर्ण (२) व्यञ्जनयुक्त स्वर वर्ण, (३) एक या एक से अधिक ध्वनियों की ऐसी इकाई जिसमें एक स्वर (Vowel) हो तथा जिसका उच्चारण एक ही श्वासाघात में हो जाय।
अघोष	(१) नादरहित वायु से उच्चरित होने वाले वर्ण। (२) प्रत्येक वर्गों के प्रथम दो वर्ण—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ और ऊष्मवर्ण—श, स, ष, अः, अं ≍क, ≍ख, ≍प, ≍फ।
अङ्ग	उदात्तादि स्वरघातों की दृष्टि से स्वर-ध्वनियों के अतिरिक्त ध्वनियों का स्वर-वर्ण का भाग होना।
अणु	$\frac{1}{4}$ मात्राकाल।
अन्तःपद विवृत्ति	एक की पद के मध्य होने वाली विवृत्ति। इसे ही समान-पदविवृत्ति भी कहा जाता है।
अनुदात्त	उदात्तादि स्वराघातों में से नीचे सुर से उच्चरित होने वाला स्वर। अथवा उच्चारणावयवों के निम्नभाग से उच्चरित होने वाला स्वर, अथवा उच्चारणावयवों के अधोगमन से उच्चरित होने वाला स्वर।
अनुनासिक	स्पर्श-वर्गों के पञ्चम वर्ण—ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।
अनुनासिक वर्ण	नासिका की सहायता से उच्चरित होने वाले स्वर तथा अन्तस्थ—यँ, लँ, वँ।
अन्तस्था वर्ण (अन्तस्थ)	य्, र्, ल्, व्।
अनुप्रदान	(१) वर्णों के मूल कारण श्वास और नाद।

अपृक्त	एक वर्ण वाला पद, एक वर्ण वाला प्रत्यय। किसी व्यञ्जन से न मिला हुआ पद, अर्थात् अकेला स्वर ही जब पद का कार्य करता है, तो अपृक्त कहलाता है।
अभिनिधान	संयुक्त वर्णों के उच्चारण की प्रक्रिया-विशेष। अर्थात् संयोग के पूर्ववर्ती वर्ण को परवर्ती वर्ण से पृथक् करके अपूर्ण उच्चारण करना।
अयोगवाह	जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य और यम ध्वनियाँ।
अवग्रह	पृथक्करण। 'ऽ' चिह्न के द्वारा पृथक् दिखलाना।
अवसान	मन्त्रोच्चारण में होने वाला विराम-स्थल। वर्णों का अभाव।
आक्षेप	उच्चारणावयवों का तीर्यग्गमन।
आगम	अतिरिक्त ध्वनि का आ जाना।
ईषत्-स्पृष्ट	थोड़ा स्पर्श किया हुआ।
ईषत्-विवृत	थोड़ा खुला हुआ।
उत्तम	श्रवणीयता की दृष्टि से उच्चारण की सर्वोच्च स्थिति। इसमें ध्वनि बहुत ऊँची सुनाई पड़ती है।
उदय	अव्यवहित परवर्ती वर्ण।
उदात्त	उच्च सुर में उच्चरित होने वाला स्वर। उच्चारणावयवों के ऊर्ध्वगमन से अथवा उच्चारणावयवों के उच्च-भाग से उच्चरित होने वाला स्वर।
उरस्	(छाती) से उच्चरित होने वाला वर्ण।
ऊष्मन्	श्वास या वायु की प्रधानता से उच्चरित होने वाले वर्ण। ह, श, ष, स, अः, जिह्वामूलीय उपध्मानीय तथा अनुस्वार ध्वनियाँ।
ओष्ठ्य	ओष्ठों से उच्चरित होने वाले वर्ण।
कण्ठ्य	कण्ठ से उच्चरित होने वाले वर्ण।
कम्प	स्वरित स्वर का उच्चारण-विशेष। जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट स्वरित के बाद उदात्त

	या स्वरित उच्चरित होने पर पूर्ववर्ती स्वर (स्वरित) के उच्चारण में उत्पन्न कम्पन ।
करण	(१) वर्णों के उच्चारण में आभ्यन्तर-प्रयत्न । (२) वर्णों के उच्चारण में सक्रिय मुखावयव ।
कर्षण	टवर्ग के बाद चवर्ग आने पर टवर्गीय वर्ण को अपेक्षाकृत अधिक काल तक उच्चरित करना ।
क्रम	किसी वर्ण को दो बार उच्चरित करना ।
क्रम-पाठ	दो-दो पदों का अव्यवहित उच्चारण ।
क्रमज	द्वित्व से उत्पन्न वर्ण ।
गुरु	(१) आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ओ, ऐ औ स्वर । (२) संयोगपूर्व एवं अनुस्वार-पूर्व अ, इ, उ, ऋ, लृ, स्वर । (३) अनुनासिक ह्रस्व स्वर एवं व्यञ्जनान्त ह्रस्व स्वर ।
गरीय	व्यञ्जनयुक्त दीर्घ स्वर ।
घोष	वे वर्ण जिनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है ।
जिह्वामूलीय	जिह्वामूल प्रदेश से उच्चरित होने वाले वर्ण ।
तार	उच्च ध्वनि से उच्चारण ।
तालव्य	तालु प्रदेश से उच्चरित होने वाले वर्ण ।
दन्त्य	दाँतों पर करण (सक्रिय मुखावयव) द्वारा स्पर्श किये जाने से उच्चरित होने वाले वर्ण ।
दीर्घ	द्विमात्रिक स्वर (आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए ओ, ऐ औ)
द्रुत	बोलने की वह वृत्ति, जिसमें अल्प समय लगता है ।
द्रोणिका	जिह्वा की अवस्था-विशेष, जिसमें जिह्वा मुड़कर नाद या नौका के आकार की हो जाती है ।
धारण	मुख में श्वास का अवरोध करके उच्चारण करना ।
ध्रुव	अभिनिधान के पश्चात् उच्चरित होने वाला नाद-विशेष ।

ध्वान	उच्चारण की वह अवस्था जिसमें स्वरों तथा व्यञ्जनों के भेद का ज्ञान न हो।
नाद	सघोष वर्णों की मूलभूत वायु। स्वर-तन्त्रियों में होने वाले कम्पन से मिश्रित वायु।
निमद	उच्चारण की वह अवस्था, जिसमें स्वर और व्यञ्जन का भेद ज्ञात हो जाय।
पद	'सुप्' तथा 'तिङ्' प्रत्यय से युक्त होकर अर्थ का अभिधान करने वाला शब्द। नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात।
परमाणु	$\frac{१}{२}$ मात्राकाल।
प्रचय	स्वरित के बाद विद्यमान एकश्रुति तान में उच्चरित होने वाला स्वर। स्वरित के पश्चात् उच्चरित होने वाले अनुदात्त का विकृत रूप।
प्लुत	तीन मात्राकाल में उच्चरित होने वाला स्वर।
प्रश्न	तीन अथवा तीन से अधिक ऋचाओं का समूह।
वर्स्व्य	मसूढ़े के समीपस्थ कठोरतालु का अन्तिम भाग।
पाद	ऋचा का भाग, जिसमें छन्दशास्त्र के अनुसार अक्षरों की संख्या निश्चित रहती है।
मध्यम	उच्चारण की वह अवस्था जिसमें ध्वनि न तो बहुत तीव्र सुनाई पड़ती है और न बहुत धीमी।
मन्द्र	उच्चारण की वह अवस्था जिसमें ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है।
मात्रा	वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय का मापदण्ड।
मूर्धा	मुखछत का सर्वोच्च भाग।
मूर्धन्य	मूर्धा से उच्चरित होने वाले वर्ण।
यम	निरनुनासिक स्पर्श के पश्चात् अनुनासिक स्पर्श उच्चरित होने पर दोनों के मध्य में उच्चरित होने वाली नासिक्य ध्वनि।

यम	क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय आदि सप्त स्वर (TONE) षड्जादि सात संगीतस्वर। अननुनासिक स्पर्श+ अनुनासिक स्पर्श के मध्य आने वाली अतिरिक्त ध्वनि।
रक्त	अनुनासिकता। नासिक्य ध्वनियों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाला नासिक्य गुण।
लघु	अ, ऋ, इ, उ, लृ स्वर-वर्ण।
लेश	वर्णोच्चारण में प्रयत्न की शिथिलता।
लोप	वर्ण का अनुच्चारण, अदर्शन।
वर्ग	पाँच-पाँच सस्थानीय स्पर्श-वर्णों का समूह।
वर्ण	अकारादि ध्वनियाँ, जिनमें स्वर तथा व्यञ्जन सभी आते हैं।
वर्ण-समाम्नाय	वर्णमाला। वर्णों का एकत्र कथन।
वृत्ति	बोलने की गति। इनमें पारस्परिक अन्तर मात्रागत होता है।
विवृत	स्वर-वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न।
विवृततर	ऐकार तथा औकार का आभ्यन्तर-प्रयत्न।
विवृततम	एकार तथा ओकार का आभ्यन्तर-प्रयत्न।
विवृत्ति	दो स्वर वर्णों के मध्य संधि प्राप्त होने पर भी संधि का न होना।
विसर्जनीय	वर्णमाला की वह ध्वनि, जिसका उच्चारण वायु के विसर्जन से हो जाता है।
व्यञ्जन	स्वर की सहायता से उच्चरित होने वाले क्, ख् आदि वर्ण।
श्वास	अघोष वर्णों की प्रकृति (बाह्य-प्रयत्न)।
सन्ध्यक्षर	ए, ओ, ऐ, औ वर्ण।
समानाक्षर	सर्वांश में समान रूप से उच्चरित होने वाले अ, आ आदि स्वर वर्ण।
सवर्ण	एक ही स्थान तथा एक ही आभ्यन्तर-प्रयत्न से उच्चरित होने वाले वर्ण।

संयोग	स्वरों से अव्यवहित व्यञ्जन वर्णों का मेल।
संवृत	(१) स्वरतंत्रियों की वह अवस्था जिसमें दोनों परदे पास-पास रहते हैं। (२) अकार का आभ्यन्तर-प्रयत्न।
संहिता	वर्णों अथवा पदों का पास-पास उच्चारण जिसके मध्य काल का व्यवधान न हो।
सोष्मन्	वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण।
स्थान	वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त वह मुखावयव जहाँ पर करण द्वारा स्पर्श तथा सामीप्य प्राप्त करके क्रमशः व्यञ्जनों और स्वरों का उच्चारण किया जाता है।
स्पर्श	उच्चारणावयवों के पारस्परिक स्पर्श के फलस्वरूप उच्चरित होने वाले 'क' से 'म' पर्यन्त वर्णमाला में कथित वर्ण।
स्पृष्ट	स्पर्श-वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न।
स्फोटन	ध्वन्यागम द्वारा पृथक्करण। ऐसा ध्वन्यागम जिससे पूर्ववर्ती स्पर्श का उच्चारण पूर्णरूप से हो जाता है।
स्वर	(१) बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता से उच्चरित होने वाली अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ ध्वनियाँ। (२) उदात्तादि स्वर धर्म। (३) षड्जादि अथवा क्रुष्टादि सात सुर।
स्वरभक्ति	स्वर का अंश अथवा आगम-स्वरूप अतिह्रस्व स्वर, जिसका प्रादुर्भाव रेफ लकार तथा व्यञ्जन के मध्य हो जाता है।
स्वराघात	स्वर-वर्णों का उच्चारण-धर्म। उदात्तादि की सामूहिक संज्ञा।
स्वरित	उच्चारणावयवों के तीर्यग्गमन से उच्चरित होने वाला स्वर-धर्म। उदात्त के पश्चात् उच्चरित होने वाले अनुदात्त का विकृत रूप।
ह्रस्व	एक मात्राकाल में उच्चरित होने वाले स्वर।

● ●

ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद-प्रातिशाख्य	डॉ० सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९३४
अमरकोष	पं० शिवदत्त, निर्णय-सागर प्रेस, १९०५
ऋक्तन्त्र	डॉ० सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९७०
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (प्रथम भाग)	डॉ० मंगलदेव शास्त्री, वैदिक-स्वाध्याय-मण्डल, वाराणसी, १९५९
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (द्वितीय भाग)	डॉ० मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (तृतीय भाग)	डॉ० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३७
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७०
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (एक परिशीलन)	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७२
ऋग्वेद-संहिता	सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
ऐतरेय-आरण्यक	गंगाधर बापूराव, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९५९
ऐतरेय-ब्राह्मण	काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९६१
चतुरध्यायिका	ह्विटनी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२
चरणव्यूह	अनन्तराम डोंगरा, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज, १९३८
छान्दोग्य-उपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०३३
तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य	राजेन्द्रलाल मित्र, गणेश प्रेस, कलकत्ता, १८७२

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य	के० रंगाचार्य, मैसूर, १९०६
तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य (माहिषेय-भाष्य)	वी० वेङ्कटराम शर्मा, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३०
तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य	ह्विटनी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७३
तैत्तिरीय-संहिता	गंगाधर बापूराव, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९६१
ध्वनि-विज्ञान	गोलोक बिहारी धल, प्रेम बुक डिपो, आगरा, १९५८
निरुक्तम्	छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६४
निरुक्तशास्त्रम्	पं० भगवद्दत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, सं० २०२१
निरुक्त	वै० काशी० राजवाडे, आनन्दाश्रम् ग्रन्थावली, १९२१
नारदीय-शिक्षा	भट्ट शोभाकर, पीताम्बरापीठ संस्कृत परिषद्, दतिया, १९६४
पाणिनीय-शिक्षा	मनमोहन घोष, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९३८
पाणिनीयाष्टाध्यायी (प्रथम-भाग)	पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, प्यारेलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९६४
पाणिनीयाष्टाध्यायी (द्वितीय-भाग)	पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, प्यारेलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९६५
पाणिनीयाष्टाध्यायी (तृतीय-भाग)	प्रज्ञा देवी, प्यारेलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १९६८
प्राचीन भारतीय भाषा और धर्म	डॉ० उमेशचन्द्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१
पुष्पसूत्र	लक्ष्मण शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९२२
बृहदारण्यक-उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
भाषा	ब्लूमफील्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६८
भाषा-विज्ञान	मैक्समूलर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०

भाषा-विज्ञान	डॉ० भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद, १९७१
भाषा-विज्ञान	आचार्य नरेन्द्र नाथ, राम प्रकाशन मंडल, लखनऊ, १९६०
भाषा-विज्ञान	डॉ० बाबूराम सक्सेना, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २०१३
भाषा-विज्ञान की भूमिका	डॉ० भोलानाथ तिवारी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, १९८२
भाषा तत्व और वाक्य-पदीय	डॉ० सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६४
महाभाष्य	वैद्यनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७
महाभाष्य (प्रथम नवाह्निक)	चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, सं० २०१५
'माध्यन्दिन संहितायाः पदपाठः'	पं० युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सं० १९७१
याज्ञवल्क्य-शिक्षा	अमरनाथ शास्त्री व पद्मनाभ दीक्षित, पशुपतीश्वर, काशी, सं० १९६४
याज्ञवल्क्य-शिक्षा	स्वामी ब्रह्ममुनि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, १९६१
वाक्यपदीय	के० ए० एस० अय्यर, शोध संस्थान, १९६२
वाजसनेयि-प्रातिशाख्य	वी० वैङ्कटराम शर्मा, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३४
वाजसनेयि-प्रातिशाख्य	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, ज्ञान प्रकाश प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९७५
वेदभाष्य-भूमिका संग्रह	बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५८
वैदिक-व्याकरण	मैकडानल (अनुवादक), सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९७१
वैदिक-व्याकरण (प्रथम-भाग)	डॉ० रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६५

वैदिक-व्याकरण (द्वितीय-भाग)	डॉ० रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९
वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम-भाग)	भगवद्दत्त, शोध विभाग, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९३१
वैदिक वाङ्मय का इतिहास (द्वितीय-भाग)	भगवद्दत्त, शोध विभाग, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२७
वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६७
वैदिक साहित्य और संस्कृति	वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६९
वैदिक स्वर-बोध	डॉ० व्रजबिहारी चौबे, वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर, १९७२
वैदिक स्वर-मीमांसा	युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सं० २०१४
वैदिक स्वरित-मीमांसा	डॉ० व्रजबिहारी चौबे, वैदिक साहित्य सदन, होशियारपुर, १९७२
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी	वासुदेव पणशीकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९४०
शतपथ-ब्राह्मण	श्रीहरि स्वामी, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, १९४०
शिक्षा-संग्रह	ग्रिफिथ तथा टी० बरो, व्रजबल्लभ दास एण्ड कम्पनी, बनारस, १८९०
शुक्लयजुःप्रातिशाख्य	युगल किशोर पाठक व श्रीमती इन्दु रस्तोगी, काशी
शुक्लयजुःप्रातिशाख्य	चौखम्बा प्रकाशन, १९६०
शुक्लयजुःप्रातिशाख्य	जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९३
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० भोलाशंकर व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७१
संस्कृत व्याकरण का उद्भव एवं विकास	डॉ० सत्यकाम वर्मा, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९७१

संस्कृत व्याकरण-दर्शन	डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन पटना, १९७२
संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्र० भाग)	युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सं० २०३०
संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (द्वि० भाग)	युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सं० २०३०
संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, १९६०
ए हिस्ट्री ऑफ वैदिक लिट्रेचर	एस० एन० शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७३
क्रिटिकल स्टडीज़ ऑफ कात्यायन शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य	वी० वी० शर्मा, यूनिर्वसिटी ऑफ मद्रास, १९३५
क्रिटिकल स्टडीज़ इन दी फोनेटिक्स आब्जर्वेशन्स ऑफ इण्डियन गैमेरियन्स	डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ लन्दन, १९२७
फोनेटिक्स इन एनसिएन्ट इण्डिया	डब्ल्यू० एस० एलेन, आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी, १९७२
संस्कृत फोनेटिक्स	डॉ० विधाता मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२
ऐन आउट लाइन ऑफ इंग्लिश फोनेटिक्स	प्रो० डेनियन जोन्स, हेफनर एण्ड सन्स, कैम्ब्रिज, १९५०
स्पीच एण्ड वायस	जी० ओस्कार रसेल, न्यूयार्क, १९३१
संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी	मोनियर विलियम्स, आक्सफोर्ड, १८९९
विलियम्स फिलोलाजिकल लेक्चर्स आन संस्कृत एण्ड डेराईव्ड लैंग्वेजेज	आर० सी० भण्डारकर, गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरीज, १९२९
दी मेकेनिज्म ऑफ दी ह्यूमन वायस	आर० क्यूरी, न्यूयार्क, १९४०
यास्कस् निरुक्त	वी० के० राजवाडे, पूना, १९४०

संस्कृत-ग्रामर	डब्ल्यू० डी० ह्विटनी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६२
संस्कृत-ग्रामर	एच० एन० विल्सन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६१
दी वेदाज	मैक्समूलर, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९६९
पाणिनि हिज प्लेस इन संस्कृत लिट्रेचर	गोल्डस्टूकर, चौखम्बा प्रकाशन, १९६५
संस्कृत लैंग्वेज	मोनियर विलियम्स, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६२



